अष्टछाप के कवि नन्ददास

(नन्ददास के जीवन और कृतित्व का सर्वाङ्गपूर्ण आलोचनात्मक अध्ययन)

लेखक

कृष्णदेव एम० ए०

प्राध्यापक हिन्दी-विभाग

सनातनधर्म कालेज (लाहौर) अम्बाला छावनी

प्रकाशक

राज पब्लिशर्ज़ (रजिस्टर्ड)

जालंधर

प्रकाशक
राज पब्लिशर्ज (रजिस्टर्ड)
जालंधर

प्रथम संस्करण
१९५८
मूल्य ४/५० नये पैसे

मुद्रक
श्री अमरनाथ सिंगल बी० ए०
नेशनल प्रिंटिंग प्रैस
अम्बाला छावनी

निवेदन

अष्टछाप हिन्दी की एक प्रबल काव्य-धारा है। आधुनिक युग मे छायावाद और मध्ययुग में अष्टछाप—ये दो काव्य-धाराएँ हिन्दी की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काव्य-धाराएँ हैं। अष्टछाप-काव्यधारा की अमिट छाप वर्तमान युग तक पाई जाती है। नन्ददास इसी काव्यधारा के दूसरे सर्वप्रमुख कवि हैं। इनके काव्य का पठन-पाठन कितना आवश्यक है, यह हिन्दी-प्रेमियो को बताने की बात नही। नन्ददास-काव्य के अध्ययन बिना अष्टछाप का अध्ययन और ज्ञान अधूरा है। ब्रज के कृष्ण-विरह का स्पष्टीकरण, कृष्ण-भक्ति और शृंगार-शास्त्र का तादात्म्य, साम्प्रदायिक सिद्धान्तानुकूल प्रकृति प्रयोग, ऋतुवर्णन, प्रबन्ध-शक्ति, पुष्टि-सिद्धान्तो की स्पष्ट व्याख्या, लीला-रहस्य तथा ब्रज भाषा का विकास आदि नन्ददास-काव्य की कुछ ऐसी विशिष्टताएँ हैं, जो सूर-साहित्य से भी स्पर्द्धा रखती हैं, और जिनके कारण अष्टछाप-काव्य को विशेष गौरव प्राप्त हुआ है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्य का पठन-पाठन दिनोदिन बढ रहा है। आज हिन्दी भाषा-साहित्य की वृद्धि के लिए यह बहुत आवश्यक है कि हमारे साहित्य का अध्ययन, पठन-पाठन केवल कबीर, सूर, तुलसी, बिहारी आदि कुछ ही प्रमुख कवियो और लेखको तक सीमित न रहे, अपितु नन्ददास जैसे अन्य प्रमुख कवियों के पठन-पाठन को भी प्रोत्साहन मिलना चाहिए। अष्टछाप और उसके कवियो का विशेष अध्ययन हिन्दी की एम० ए० जैसी उच्च कक्षाओ मे अवश्य होना चाहिए। पजाब विश्वविद्यालय ने एम० ए० के पाठ्य क्रम मे नन्ददास का विशेष-अध्ययन रखकर बड़ा ही प्रशंसनीय कार्य किया है। आशा है समस्त हिन्दी जगत इस ओर ध्यान देगा।

प्रस्तुत पुस्तक मे मैंने नन्ददास-काव्य के सभी अंगो का विवेचन करने का प्रयत्न किया है। नन्ददास का काव्य एक विशिष्ट सम्प्रदाय की छाया मे

रचा गया है, अतः उसको समझने के लिये पुष्टिमार्ग का जानना नितान्त आवश्यक है। जब कवि कहता है—

रसनि मैं जो उपजति रस आहि। रस की अवधि कहत कवि ताहि ॥

(रूपमंजरी)

तो उसकी धार्मिक पद्धति से अनभिज्ञ पाठक की बुद्धि चकरा जाती है। इसलिए इस पुस्तक में नन्ददास-काव्य के प्रायः सभी पक्षों के साथ-साथ उसकी सम्पूर्ण पृष्ठभूमि की भी विस्तार के साथ विवेचना की गई है। रचना पाठकों के सामने है। इस रचना के प्रस्तुत करने में मुझे अवश्य संतोष का अनुभव हुआ है। अष्टछाप और नन्ददास के अध्ययन में पाठकों को भी यदि इस पुस्तक से संतोष मिला, तो मैं अपना प्रयास सफल मानूंगा।

इस पुस्तक की रचना में जिन विद्वान् लेखकों की रचनाओं से मैं ने सहायता ली है, उनके प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन मेरा परम कर्त्तव्य है। अष्टछाप और नन्ददास-काव्य के सभी पूर्व आलोचकों—विशेषकर डा० दीनदयाल-गुप्त की प्रतिभा का मैं विशेष ऋणी हूँ। उन ग्रंथों के उद्धरण इस पुस्तक में कई स्थानों पर दिए गए हैं।

दीपावलि

सं० २०१४

सनातन धर्म कालेज (लाहौर)
अम्बाला छावनी

कृष्ण देव

विषय-सूची

नन्ददास का जीवन वृत्त

इहलोक को तुच्छ और जीवन को नश्वर समझने वाले भारतीय भक्त, कवि और तत्त्व-चिंतक वैयक्तिक परिचय और अपने नाम की भूख से सदैव कतराते रहे हैं। अपने इस नश्वर जीवन के सम्बन्ध मे वे कभी कुछ नही लिखते थे, यदि कही एक आध बात लिखी भी मिलती है, तो वह भी व्यक्तित्व-प्रकाशन के रूप में नही, अपितु किसी दूसरे—जैसे अपने इष्टदेव, गुरु, भक्त-मित्र, किसी सज्जन अथवा अन्य व्यक्ति के सम्बन्ध से ही आई हैं। यही कारण है कि प्रायः सभी मध्ययुग के कवियो के अन्तः साक्ष्य से उनके जीवन के विषय में विशेष पता नही चलता। उपर्युक्त कारण के अतिरिक्त इस अभाव का एक वास्तविक कारण यह भी है कि आधुनिक काल की तरह प्राचीन समय मे जीवन-वृत्तो का कोई ऐतिहासिक महत्त्व नही समझा जाता था। स्वयं लेखको को इस महत्त्वपूर्ण आवश्यकता का ज्ञान नही था, फिर भला वे सज्ञान रूप से अपने सम्बन्ध मे अपनी रचनाओ मे क्यो कुछ लिखते।

नन्ददास के जीवन के विषय में भी यही समस्या है। उनकी अपनी रचनाओ से अथवा उपलब्ध बाह्य सामग्री से उनके जीवन की रूप-रेखा ही खीची जा सकती है। अन्तः साक्ष्य से तो दो चार बातो के अतिरिक्त कुछ भी ज्ञात नही होता। नीचे हम अन्त. एव बाह्य दोनो साक्ष्यो के आधार पर उनके जीवन-चरित का उद्घाटन करने का प्रयास करेगे।

अन्तः साक्ष्य—कवि ने अपनी रचनाओं में अपने सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह प्राय' नही के बराबर है। केवल उनकी 'रासपचाध्यायी', 'रसमजरी' तथा 'दशम-स्कध भाषा' नामक रचनाओं में एक एक छन्द मिलता है जिससे पता चलता है कि उनका कोई रसिक मित्र था जिस के कहने अथवा आज्ञा देने से उन्होंने इन ग्रंथो की रचना की। वे छन्द हैं :—

१. परम रसिक इक मीत मोहिं तिन आज्ञा दीन्ही।
तातें मैं यह कथा यथामति भाषा कीन्ही॥ (रासपचाध्यायी)

२. एक मीन हम सो अस गुन्यो। मैं नाइका-भेद नहि सुन्यो॥
तासों 'नंद' कहत तब ऊतरू। मूरख जन मन मोहित दूतरू॥
(रसमंजरी)

३. परम विचित्र मित्र इक रहै। कृष्णचरित्र सुन्यो सो चहै॥
तिन कही 'दशम स्कंध' जु आही। भाषा करि कछु बरनौ ताहि॥
सबद संसकृत के हैं जैसे। मो पै समुभि परत नहि तैसे॥
तातै सरल सु भाषा कीजै। परम अमृत पीजै, सुख जीजै॥
तासो 'नन्द' कहत हैं तहाँ। अहो मित्र! एति मति कहा॥
(भाषा दशमस्कंध)

नन्ददास के ये रसिक मित्र कौन थे, इस बात का पूरा भेद अभी तक नही खुला है। अवश्य ही यह मित्र नन्ददास से कम विद्वान् थे और संस्कृत के अच्छे ज्ञाता नही थे। श्री वियोगी हरि ने गंगा बाई को, जो विट्ठल नाथ की एक शिष्या थी, यह मित्र बताया है। परन्तु इस मत का पुष्ट प्रमाण वे नही दे सके। उनके अनुसार "मित्र से यहाँ गंगा बाई जी से आशय है जो विट्ठल नाथ जी की शिष्या थी। यह कविता मे अपना नाम 'श्री विट्ठल गिरिधरन' लिखा करती थी।"[1] 'वार्ता साहित्य' मे, जिसका उल्लेख आगे किया जायगा, नन्ददास की एक मित्र स्त्री-भक्त रूपमंजरी का उल्लेख मिलता है। इस रूपमंजरी से ये बराबर मिला करते थे और हो सकता है कि उसी के नाम पर इन्होंने 'रूपमंजरी' काव्य की रचना की हो। जब तक इस सम्बन्ध में और जानकारी प्राप्त नही होती, तब तक रूपमंजरी को ही नन्ददास का रसिक मित्र मानने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिये।

'भाषा दशम स्कंध' की उपर्युक्त पंक्तियों से तथा 'अनेकार्थमाला' और 'नाममाला' के प्रणयन-उद्देश्य से यह भी पता चलता है कि वे संस्कृत के अच्छे विद्वान थे, और इनकी रचना उन्हो ने उन लोगो के लिये की जो—

'उचरि सकत नहि संस्कृत अर्थ ज्ञान असमर्थ।' (अनेकार्थमंजरी)

१ ब्रज माधुरी सार (श्री वियोगी हरि)

'उचरि सकत नहि संस्कृत जान्यो चाहत नाम।' (नाममाला)

उनकी रचनाओ से विदित होता है कि उनका अध्ययन गभीर था, तथा विद्वत्ता के लिए उनका बड़ा मान था। संस्कृत के विद्वान होने के साथ-साथ भाषा से उन्हे विशेष प्रेम था।

नन्ददास ने अपने दीक्षागुरु श्री विट्ठलनाथ, तथा उनके वश के प्रति कई पदो[1] मे अपनी भक्ति प्रकट की है जिससे विदित होता है कि नन्ददास जी श्री वल्लभाचार्य, उनके पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी तथा पौत्र श्री गिरिधर जी मे पूर्ण भक्ति रखते थे और सदा उनकी सेवा मे रहते थे। उनके काव्य से उनका कृष्ण भक्त होना तो स्वय सिद्ध है। अपने इष्ट-देव की लीला-भूमि होने के कारण पुष्टि-भक्त के नाते नन्ददास ने गोवर्द्धन पर्वत, गोकुल, यमुनाजी, वृन्दावन, नन्दग्राम तथा ब्रज और मथुरा का स्तुतिपूर्ण वर्णन किया है। अन्तः साक्ष्य से इस के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नही होता।

बाह्य साक्ष्य—बाह्य साक्ष्य मे सब से प्रामाणिक ग्रथ नाभादास जी (स० १५६०—१६४०) का 'भक्तमाल' है, जिसमे नन्ददास जी के विषय में निम्नलिखित छप्पय मिलता है :—

श्री नन्ददास आनन्द निधि रसिक सुप्रभु हित रग मगै।
लीलापद रस रीति ग्रथ रचना मे नागर।
सरस उक्ति रस जुक्ति भक्ति रस गान उजागर।
प्रचुर पद्य लौ सुजस रामपुर ग्राम निवासी।
सकल सुकुल सवलित भक्त-पद-रेनु-उपासी॥
श्री चन्द्रहास-अग्रज सुहृद परम प्रेम पद मे पगे।
श्री नन्ददास आनन्दनिधि रसिक सु प्रभु हित रंग मगे॥

---

१. 'श्री वल्लभ-सुत के चरन भजौं।'
नन्ददास प्रभु प्रकट भये दोउ श्री विट्ठल गिरिधरन भजौं॥
*श्री लछमन घर बाजत आजु बधाई।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम श्री वल्लभ सुखदाई॥
(श्री लछमन वल्लभाचार्य के पिता का नाम है)

नाभादास जी की इस उक्ति से निम्नलिखित बाते प्रकट होती है :—

१. नन्ददास रामपुर ग्राम निवासी थे।

२. नन्ददास भगवान् के लीला पदो की रचना प्रचुर मात्रा मे करते थे। उन्होने कृष्ण-लीला के पद तथा रस-रीति (रसमजरी, विरह मजरी आदि) पर ग्रंथ लिखे। वे सच्चे प्रभु-भक्त थे। भक्तो की सेवा करते थे।

३. चन्द्रहास नाम के किसी व्यक्ति के बडे भाई थे।

४. शुक्ल या सु-कुल वश मे पैदा हुए थे।

५ वे अपने समय में ही बहुत प्रसिद्ध हो चुके थे।

विक्रम की १७वी शती के अन्तिम दशक मे लिखी गई एक और प्रामाणिक रचना श्री ध्रुवदास जी की 'भक्त नामावली' है जिस के तीन दोहों मे नन्ददास की इस प्रकार प्रशसा की गई है '—

नन्ददास जो कछु कह्यो राग-रग सों पागि।
अच्छर सरस सनेहमय सुनत स्रवन उठ जागि॥
रमन दसा अद्भुत हुती करत कवित सुढार।
बात प्रेम की सुनत ही छुटत नैन जल धार॥
बावरो सो रस मे फिरै खोजत नेह की बात।
आछे रस के बचन सुनि बेगि विबस ह्वै जात॥

इन दोहों में नन्ददास की काव्यकला, प्रेम-भक्ति, रसिकता आदि पर ही प्रकाश पडता है। साथ ही यह विदित होता है कि नन्ददास १७वी शती में ही अपनी भक्ति तथा काव्य के कारण बहुत प्रसिद्ध हो चुके थे।

वार्ता साहित्य से ही नन्ददास के जीवन पर कुछ प्रकाश पड़ता है। ब्रजभाषा में बल्लभ सम्प्रदाय की वैसे तो बीसो वार्ताए मिलती है, परन्तु 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' विशेष प्रसिद्ध है। इन मे प्रथम में बल्लभाचार्य के शिष्यों का और द्वितीय में

विट्ठलनाथ जी के शिष्यों का परिचय विस्तारपूर्वक है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में निम्नलिखित अवतरण[1] उल्लेखनीय हैं :—

१. नन्ददास जी तुलसीदास के छोटे भाई हते।

२. सो नन्ददास जी के ऊपर श्री गुसाई जी ने ऐसी कृपा करी, तब सब ठिकानेन सों तिन को मन खींच के श्री प्रभून में लगाय दीनो।

३. सो वे नन्ददास जी ब्रज छोड के कहूँ जाते नही हुते।

४. सो एक दिन नन्ददास जी के मन मे आई जो जैसे तुलसीदास जी ने रामायण भाषा करी है सो हमहू श्री मदभागवत भाषा करें। ये बात ब्राह्मण लोगन ने सुनि लई। तब सब ब्राह्मण मिलिकै श्री गुसाई जी के पास गये। सो ब्राह्मणन ने बिनती करी जो श्रीमदभागवत भाषा होयगो तो हमारी आजीविका जाती रहेगी। तब श्री गुसाई जी ने नन्ददास सुँ आज्ञा करी जो तुम श्रीमद्भागवत भाषा मत करो और ब्राह्मणन के क्लेश में मत परो, ब्राह्म क्लेश आछो नाहि है, और कीर्तन करिकै ब्रज-लीला गाओ। तब नन्ददास जी ने गुसाई जी की आज्ञा मानी, श्रीमद्भागवत भाषा न कर्यो।

५. सो वे नन्ददास जी श्री गुसाईं जी के ऐसे कृपापात्र भगवदीय हते जिनके कहे ते श्री गोवर्द्धननाथ जी कुँ तथा श्री रघुनाथ जी कुँ श्री रामचन्द्र जी का स्वरूप धर के दर्शन देणे पड़े।

उपर्युक्त अवतरणो तथा काकरौली की सं० १६९७ की वार्ता के नन्ददास सम्बन्धी प्रसगो से नन्ददास के जीवन के बारे में निम्नलिखित बातों का पता चलता है :—

१. नन्ददास तुलसीदास के छोटे भाई थे।

२. जाति उनकी सनाढ्य ब्राह्मण थी।

३. वे बड़े रसिक थे। सिहनद ग्राम की एक क्षत्रानी पर मुग्ध हो गये थे। रात दिन उसके घर का चक्कर लगाया करते थे। बाद में गोसाईं जी के

1. अष्टछाप (डा० धीरेन्द्र वर्मा) पृ० ९३—१०३

उपदेश से उनका मोह छूटा। गोसाईं जी ने 'तिन को मन खींच के श्री प्रभून मे लगाय दीनो'।

४. गोसाईं विट्ठलनाथ द्वारा दीक्षित हुए और उनका कृपा-प्रसाद प्राप्त किया। दीक्षित होन से पूर्व ये भी तुलसी की तरह राम-भक्त थे और रामानन्दी सम्प्रदाय के शिष्य थे।

५ दीक्षित होने से पूर्व इनका स्वभाव बड़ा उच्छृंखल तथा हठी था। तुलसीदास के समझाने पर भी वह अयोध्या मे नही रुके। स्वभाव के उतावलेपन के कारण ही वे जिस सघ के साथ रणछोड जी के दर्शन के लिए गए थे, उस संघ के मथुरा ठहर जाने पर अकेले ही दर्शन के लिए आगे चल पड़े। खत्रानी के प्रसग से भी यही प्रकट होता है कि वह हठी थे, अपनी धुन के पक्के थे और लोकलाज का भी ध्यान नहीं करते थे।

६. वल्लभ सम्प्रदाय में ये कीर्तन-सेवा करने लगे और अष्ट सखा कहलाए। विशेष शिक्षा के लिए ये छः महीने सूरदास के पास रहे। "सो या भाति नन्ददास ने बहोत कीर्तन कीये। ता पाछै नन्ददास ६ मास पर्यन्त सूरदास जी के संग पारसौली में रहे, पाछे श्री गोकुल मे रहे। सो श्री गुसाईं जी उनपर सदा प्रसन्न रहते।"[1]

७. अनन्त काल तक ब्रज वास किया। ये ब्रज से कहीं जाते नहीं थे।

८. तुलसीदास रामानन्दी राम-भक्त थे। उन्होने नन्ददास को पत्र और सदेश द्वारा कृष्ण-भक्ति सम्प्रदाय में दीक्षा लेने से रोकना चाहा, परन्तु नन्ददास दृढ रहे। तुलसीदास पत्र द्वारा विफल होने पर स्वयं गोकुल आए। 'पाछे नन्ददास जी सूरदास जी सो मिलि के श्रीनाथ जी के दर्शन करवेकूँ गये। तब तुलसीदास हू उनके पाछे-पाछे गए। जब श्रीगोवर्द्धन नाथ जी के दर्शन करे, तब तुलसीदास जी माथो नमायो नहीं। तब नन्ददास ने मन में विचार कीनो जो यहाँ और गोकुल में इनको श्रीरामचंद्र जी के दर्शन कराऊँ, तब ये श्रीकृष्ण

---

१. कांकरौली के विद्याविभाग वाली वार्ता—दूसरा प्रसंग

को प्रभाव जानेगे। पाछे नन्ददास ने श्रीगोवर्द्धननाथ सो बिनती करी। सो दोहा :—

कहा कहौ छबि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नमै, धनुषबाण लेउ हाथ॥

यह बात सुनिके श्रीनाथ जी को विचार भयो, जो श्री गुसाईं जी के सेवक कहैं, सो हमकू मान्यो चाहिए। पाछे श्री गोवर्द्धननाथ जी ने श्री रामचन्द्र को रूप धरि के तुलसीदास जी को दर्शन दिए।"[1]

इसी प्रकार गोकुल मे भी गुसाईं विट्ठलनाथ ने कृष्ण का प्रभाव और राम कृष्ण के अभेदत्व से तुलसीदास को (अपने पुत्र रघुनाथ और उसकी बहू को राम-सीता के रूप मे दर्शन करा कर) परिचित कराया।

९. नन्ददास ने तुलसी के 'मानस' के अनुकरण पर भागवत की भाषा आरम्भ की, परन्तु गुसाईं जी के रोकने पर व्रजलीला तक रखकर शेष को जल मे समाप्त कर दिया।

१०. नन्ददास जी वल्लभ सम्प्रदाय मे आने से पहले भी पद-रचना किया करते थे। यमुनास्तुति के पद उन्होने पहले ही लिखे।

११. उनकी मृत्यु अकबर और बीरबल के सामने ही मानसीगगा पर हुई। यह प्रसंग इस प्रकार है। एक बार तानसेन ने नन्ददास का रचा एक पद अकबर बादशाह को सुनाया। अकबर बहुत प्रसन्न हुआ, और बीरबल से नन्ददास को बुलाने को कहा। बीरबल नन्ददास को बुलाने गोपालपुर गया। 'तब नन्ददास ने बीरबल सो कह्यो—मोको अकबर पातसाह सो कहा प्रयोजन है? मोको कछु द्रव्य की चाहना नाहि, जो मै जाऊँ। और मेरे कछु द्रव्य नाही जो अकबर पातसाह लेवयोगा। ताते हमारो कहा काम है?

तब बीरबल ने कह्यो—जो तुम न चलोगे तो अकबर पातसाह ही तुमारे पास आवेगो। तब नन्ददास ने कही—जो तुम इहाँ वाको मति लावो। यहाँ भीड़ को काम नाही है। तातें मैं सेनआरती पाछे श्री गुसाईं जी

1 कांकरौली के विद्य विभाग नन्ददास की वार्ता—प्रसंग चार

सो दंडवत करिके मानसीगगा आऊँगो । पाछे नन्ददास सेनआरती के दर्शन करि श्री गुमाईंजी से दडवत करि के विदा होय के मानसीगग आये । सो नन्ददास को देखी पातसाह ने सम्मान कर बैठाए ।

ता पाछे अकबर पातसाह ने नन्ददास सो कह्यो—जो तुमने रास को पद बनायो है तामे तुमने कह्यो है जो 'नन्ददास गावत तहाँ निपट निकट ।' तो इतनो झूठ क्यो बोलत हो ? जो तुम कहो जो कोन भाति सो निकट आये ?

तब नन्ददास ने पातसाह सो कह्यो जो मेरे कहे को तुमको विश्वास न होयगो सो तुमारे घर मे फुलानी (रूपमजरी ?) लौडी[१] है तासों तुम पूछ लेउ, सो वह जानत है । तब अकबर पातसाह ने बीरबल कों तो नन्ददास के पास बैठाये, और आप अपने डेरा मे जायके वा लोडी सो पूछी, जो यह रास को पद नन्ददास ने गायो है, सो ताको अभिप्राय कहा है ?

तब यह वचन पातसाह के सुनिके वह लोडी पछाड खाय के गिरि पड़ी, सो देह छुटि गई । सो वह लीला में जायके प्राप्त भई । तब पातसाह नन्ददास के पास दौरे आए । सो इहाँ आयके देखे तो नन्ददास की हू देह छूटि गई है । सो एउ लीला मे जाय के प्राप्त भये ।"[२]

परन्तु बहुत से विद्वान इन 'वार्ताओ' को प्रामाणिक नही मानते, और इन्हे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं । 'दो सौ बावन वैष्णवम की वार्ता' के लेखक गुसाई गोकुलनाथ हैं, पर गोकुलनाथ का नाम इसमे बडे आदर से लिया गया है । अतः इसके रचयिता के बारे मे संदेह है । साथ ही इसमे औरगजेब के मन्दिर तोडने की नीति का विरोध प्रकट किया गया है । औरगजेब का समय गोकुलनाथ की मृत्यु के बीस वर्ष पश्चात् ठहरता है ।

---

१. "सो अकबर बादशाह के एक लौंडी हती । सो वह श्री गुसाईं जी की सेवकहती । ताके ऊपर श्री गोवर्द्धन नाथ जी बड़ी कृपा करते । वाको दर्शन देते । वा लौंडी सौं और नन्ददास सों बड़ी प्रीति हती ।" (वार्ता-कांकरौली-प्रसंग ६) (संभवतः यही लौंडी रूपमंजरी है) ।

२. कांकरौली की वार्ता नन्ददास-प्रसंग ६

इसी लिए शुक्लजी आदि आलोचक इस रचना को उनके किसी शिष्य द्वारा रचित मानते हैं। इसमे तो कोई सन्देह नही कि यह साम्प्रदायिक ग्रथ है, और सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा के लिए अनेक बातो को बढा-चढा कर लिखा गया है। हो सकता है कई प्रसग बिल्कुल कपोल-कल्पना हो। किन्तु हमे यह अवश्य मानना पडेगा कि इन वार्ताओ मे अनेक प्रसग सत्य हैं। जिन प्रसगो की पुष्टि अन्य साक्ष्यो से भी हो जाती है, उन्हे सत्य ही मानना चाहिए। पिछले दशको में जो सोरो की विपुल सामग्री प्रकाश में आई है, उससे भी उपर्युक्त अनेक बातो की पुष्टि होती है। हम आगे उस सामग्री का विस्तार के साथ वर्णन करेंगे।

नन्ददास के जीवन के सम्बन्ध मे वेणीमाधवदास कृत 'गोसाईं चरित्र' मे यह वर्णन मिलता है :—

नन्ददास कनौजिया प्रेम मढे।
जिन सेस सनातन तीर पढे।
छिच्छा गुरु-बन्धु भये तेहि ते।
अति प्रेम सो आये मिले यहि ते।

इस उद्धरण से पता चलता है कि नन्ददास कनौजिया ब्राह्मण थे। तुलसी इनके गुरु-भाई अथवा गुरु (बड़े) भाई थे। दोनों सेससनातन गुरु से पढे थे।

सन् १९३९ में सोरो जिला एटा से जो सामग्री प्राप्त हुई है वह इस प्रकार है—

१. रामचरितमानस की एक खण्डित हस्तलिखित प्रति (रचना काल-स० १६४३)

२. सूकर-क्षेत्र महात्म्य, लेखक कृष्णदास, रचना काल स० १६७०।

३. वर्ष-फल, लेखक कृष्णदास, स० १६५७।

४. भ्रमर गीत की हस्तलिपि, लेखक व्रजचन्द्र, स० १६७२।

५ रत्नावली-दोहा-सग्रह।

६. रत्नावली चरित, लेखक मुरलीधर चतुर्वेदी, सं० १८२९ ।

रामचरितमानस की उपर्युक्त खण्डित हस्तप्रति में बाल-काण्ड और अरण्यकाण्ड की पुष्पिकाएँ इस प्रकार हैं—

"इति श्री रामचरितमानसे सकल कलिकलुषविध्वसने विमल वैराग्य सम्पादिनी नाम १ सोपान समाप्त. स० १६४६ शाके १५०८.. (आगे कुछ अक्षर नष्ट हो गए हैं) वासी नन्ददास पुत्र कृष्णदास हेत लिपी रघुनाथदास ने काशीपुरी में।"

"इति श्री रामायने सकल कलिकलुषविध्वसने विमल वैराग्य सम्पादिनी पट सुजन सम्वादे रामवन चरित्र वर्ननो नाम तृतीय सोपान आरण्य काण्ड समाप्त ।।३।। श्री तुलसीदास गुरु की आज्ञा सो उनके भ्राता-सुत कृष्णदास सोरो क्षेत्र निवासी हेत लिखित लछिमनदास काशी जी मध्ये सम्वत् १६४३ आषाढ़ सुदी ४ शुक्रे इति।"

नन्ददास की जीवनी के इससे पूर्व के किसी भी ग्रथ मे नन्ददास की किसी सन्तान का नाम या पता कही नही आया। 'सूकरक्षेत्र महात्म्य' और 'रामचरितमानस' की उपर्युक्त प्रति मे यह लिखा है कि नन्ददास के पुत्र कृष्णदास थे। इन्ही कृष्णदास द्वारा रचित दो ग्रथ सोरो मे पण्डित गोविन्द-वल्लभ भट्ट को प्राप्त हुए हैं—एक 'सूकरक्षेत्रमहात्म्य', दूसरा 'पर्व-फल'। 'सूकरक्षेत्रमहात्म्य' के अन्त में कृष्णदास ने अपनी वशावली दी है। आरंभ मे कवि ने अपने पिता, ताऊ, पिता के गुरु, अपनी माता अर्थात नन्ददासजी की पत्नी तथा अपने ताऊ तुलसी की पत्नी की वदना की है और उनके नाम भी दिये है :—

> वदहुँ तुलसीदास, पितु बड़ भ्राता पद जलज,
> जिन निज बुद्धि विलास, रामचरितमानस रच्यो।
> सानुज श्री नन्ददास, पितु की वंदहुँ चरन रज,
> कीनो सुजस प्रकाश, रासपंचअध्यायि भनि।

वंदहुँ कृपानिकेत, पितु गुरु श्री नरसिंह पद,
वंदहुँ शिष्य समेत, वल्लभ आचरज सुपद।
वंदहुं कमला मात, वंदहुँ पद रत्नावली,
जासु चरन जलजात, सुमिरि लहहि तिय सुरथली।
सुकुल वंस दुज मूल, पितरन पद सरसिज नमहुँ,
रहहिं सदा अनुकूल, कृष्णदास निज अस गनि।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि नन्ददास तुलसीदास के छोटे भाई थे। इनके गुरु का नाम नरसिंह था। वे सुकुल वंशीय ब्राह्मण थे तथा उनकी पत्नी का नाम कमला था। इस ग्रंथ के अंत की वंशावली इस प्रकार है —

खेत बराह समीप सुची, गाम रामपुर एक,
तहँ पण्डित मंडित बसत, सुकुलवंश सविवेक।
पंडित नारायनसुकुल, तासु पुरुष परधान,
धार्यो सत्य सनाढ्य पद, ह्वै नप वेद निधान।

× × × × ×

तेहि सुत गुरु ज्ञानी भये, भक्त पिता अनुहारी,
पण्डित श्रीधर, शेषधर, सनक, सनातन चारी।
भये सनातन देव सुत, पण्डित परमानन्द,
व्यास सरिस वक्ता तनय, जासु सच्चिदानन्द।
तेहि सुन आत्माराम बुध निगमागम प्रवीन,
लघु सुत जीवाराम भे, पण्डित धरम धुरीन।
पुत्र आत्माराम के पण्डित तुलसी दास,
तिमि सुत जीवाराम के, नन्ददास, चन्दहास।
मथि मथि वेद पुरान सब, काव्य शास्त्र इतिहास,
रामचरितमानस रच्यो, पण्डित तुलसीदास।

वल्लभ कुल वल्लभ भये, तासु अनुज नन्ददास,
धरि वल्लभ आचार जिन, रच्यो भागवत रास।
नन्ददास सुत हौं भयो, कृष्णदास मतिमन्द,
चन्द्रहास बुध सुत अहै, चिरजीवी ब्रजचन्द।

ग्रंथ को समाप्त करते हुए कृष्णदास ने उसका रचनाकाल भी दिया है, और अपने पिता नन्ददास द्वारा अपने ग्राम रामपुर का नाम श्यामपुर रखने का भी उल्लेख किया है—

सोरह सौ सत्तर प्रमित, सम्वत सितदल माँह,
कृष्णदास पूरन करयो, क्षेत्र महात्म बराह।
तीरथ वर सौकर निकर, गाम रामपुर बास,
सोइ रामपुर श्यामपुर, करयो पिता नन्ददास।

उपर्युक्त ग्रंथ में नन्ददास के जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। नन्ददास जी के पुत्र कवि कृष्णदास कृत 'वर्षफल' के अन्तिम छन्दों से भी उनके जीवन पर कुछ प्रकाश पड़ता है और 'सूकरक्षेत्रमहात्म्य' के उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। अन्तिम छन्द इस प्रकार हैं—

दोहा— तात अनुज चन्द्रहास बुध, वर निरदेसहि धारि,
लिख्यो जथामति वर्षफल, बालबोध सचारि॥

कवित्त—कीरति की मूरती जहाँ राजै भागीरथ की,
तीरथ बराह भूमि वेदनु जे गाई है।
जाई धाम रामपुर श्यामपुर कीनी तात,
स्यमायन स्यामपुर बास सुपदाइ है।
सुकुल विप्र बस में विग्य तहाँ जीवाराम,
तासु पुत्र नन्ददास कीरति कवि पाई है।
ता सुत हौं कृष्णदास वर्षफल भाषा रच्यो
चूक होइ सोधै मम जानि लघुताई है॥
सोरह सौ सत्तावनि, विक्रम के वर्ष मांझि,
भई अति कोप दृष्टि विस्व के विधाता की।

बीतत असढ वाढ लाई बड देव धुनि,
बूढा जल जन्मभूमि रत्नावलि माता की।
नागी नर बूडे कछु सेस वड भाग रहे,
चिन्ह मिटे बदरी के दुखद कथा ताकी।
आजु नभ कृष्ण मास तेरस शनि कृष्णदास,
वर्ष फल पूरयो भई दया बोध दाता की।।

ब्रजचन्द लिपिकार द्वारा लिखित 'भ्रमरगीत' वास्तव मे नन्ददास का ही भ्रमरगीत है। उसकी पुष्पिका इस प्रकार है—

भ्रमरगीत सम्पूरनम् ....नन्ददास भ्राता तुलसीदास को स्यामसरवासी सोरोजी मध्ये लिखित कृष्णदास बेटा नन्ददास नाती जीवाराम के शुक्ल श्यामपुरी सनाढ्य... ..भरद्वाज गोती .... .तिनके बेटा नन्ददास, चन्द्रहास। नन्ददास के बेटा कृष्णदास, चन्द्रहास के बेटा ब्रजचन्द्र पोथी लिखी माघ सम्वत् १६७२ शुभम्।

'रत्नावलि दोहासंग्रह' मे नन्ददास का विशेष उल्लेख नही है। एक दोहे में तुलसी की वियोगिनी पत्नी रत्नावलि कहती है—

मोइ दीनो सन्देश पिय, अनुज नन्द के हाथ,
रतन समुझि जनि पृथक मोइ जो सुमरति रघुनाथ।

इस दोहे में बताया गया है कि तुलसीदास ने रत्नावलि के पास अपने छोटे भाई नन्ददास अथवा छोटे भाई के नन्द (पुत्र) कृष्णदास के हाथ यह सदेश भेजा कि हे रत्नावलि! यदि तू रघुनाथ का भजन करती है तो मुझे अपने से अलग मत समझ। श्री दीनदयाल गुप्त का इस सम्बन्ध मे कहना है कि उन्होने इस प्रसग पर एक जनश्रुति भी सोरो में सुनी थी "कि एक बार नन्ददास के पुत्र और तुलसीदास जी के भतीजे कृष्णदास तुलसीदास जी को काशी से सोरों लाने के लिए गये थे, उस समय यह सदेश भेजा गया था।"[1]

1. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय— पृ० १००

मुरलीधर-कृत 'रत्नावलि-चरित्र' मे रत्नावलि और तुलसीदास के चरित्र वर्णन के बीच-बीच मे नन्ददास के बारे में भी कुछ उल्लेख मिलता है। रत्नावलि के पिता दीनवन्धु पाठक अपनी पुत्री के योग्य वर की तलाश में थे, उन्हे किसी मित्र ने बताया कि पण्डित नृसिह जी की पाठशाला मे रामपुर के सनाढ्य ब्राह्मनो के दो लडके पढते हैं—

तवै मीत इक दई आस, गुरु नृसिंह के जाहु पास ॥
स्मारत वैष्णव सो पुनीन, अखिल वेद आगम अधीन ॥
चक्र तीर्थ ढिग पाठसाल, तही पढावत विपुल बाल ॥
तहां रामपुर के सनाढ्य, शुक्कुल वंश वर द्वै गुनाढ्य ॥
तुलसीदास अरु नन्ददास, पढत करत विद्या विलास।
एक पितामह पौत्र दोउ, चन्द्रहास लघु अपर साउ।
तुलसी आत्माराम पूत, उदर हुलासी के प्रसूत।
गए दोउ ते अमर लोक, दादी पोतहि करि ससोक।
बसत जोग मारग समीप, बिप्र बस कर दिव्य दीप।

एक दूसरे स्थान पर इस प्रकार लिखा है—

नन्ददास और चन्द्रहास। रहहि रामपुर मातु पास
दम्पति बसि वाराह धाम। लहत मोदु आठहुँ याम।

सोरो की इस समस्त सामग्री मे कही कोई विरोध नही मिलता। लगभग सब बातों की समानता है, और सब से वार्तासाहित्य की भी संगति वैठ जाती है।

उक्त सोरो सामग्री को डा० माताप्रसाद गुप्त ने संदेह की दृष्टि से देखा है। पहले सम्मेलन-पत्रिका स० १९९७ के एक लेख मे उन्होने इस सामग्री के तुलसीदास सम्बन्धी कुछ अंशों को प्रामाणिक और कुछ अशो को अप्रमाणिक सिद्ध किया। बाद मे अपने खोजपूर्ण प्रबन्ध 'तुलसीदास' मे इस सारी सामग्री को संदिग्ध ठहराया। विद्वानो का एक वर्ग—रामनरेश त्रिपाठी, हरिशंकर शर्मा, दीनदयाल गुप्त और कॉकरोली से सम्बन्धित विद्वान् 'वार्ता

मे मिलती-जुलती होने के कारण इस सामग्री को अप्रमाणिक नही ठहराते। वास्तव मे नन्ददास सम्बन्धी जो भी सामग्री हमे मिलती है, उसमे कही भी किसी मे तुलसीदास की जीवनी की तरह विरोध नही मिलता। अतः तुलसीदास से सम्बन्धित कुछ बातो के विषय मे जहाँ सदेह की गुंजाइश हो सकती है, वहाँ नन्ददास के विषय मे नही। वैसे भी जब तक प्राचीन ग्रथो के विशेषज्ञ कागज, स्याही और लिपि-प्रणाली की अच्छी तरह परीक्षा करके इसके विषय मे अपना मत विपरीत नहीं देते, तब तक डा० माताप्रसाद गुप्त के मत को अन्तिम रूप से स्वीकार नही किया जा सकता। इस प्रकार की विपुल सामग्री को बिल्कुल अप्रमाणिक नही माना जा सकता। जनश्रुति भी इस समस्त सामग्री की ही पुष्टि करती है। एक और ऐतिहासिक तथ्य हमे 'वर्षफल' कृष्णदास कृत मे मिलता है। सवत् १६५७ मे ईश्वरीय कोप अति-वृष्टि के रूप में हुआ था जिससे गगा मे बाढ आ गई थी और 'रत्नावलि-माता' की जन्मभूमि 'बदरिया' जल मे डूब गई थी। अब तक की प्राप्त उपर्युक्त सामग्री के आधार पर नन्ददास के जीवन का क्रमबद्ध रूप मे हम इस प्रकार अध्ययन कर सकते है—

नन्ददास जी सूकरक्षेत्र के निकट रामपुर स्थान के रहने वाले थे। उनकी जाति सुकुल आस्पदधारी सनाढ्य ब्राह्मण थी। सभी विद्वान् इन्हे ब्राह्मण मानते हैं। शिवसिह सेंगर ने अपने 'सरोज' में इन्हें केवल या केवल ब्राह्मण लिखा है, मिश्रबन्धुओ ने अपने 'विनोद' में कान्यकुब्ज माना है। परन्तु 'भक्तमाल' से ले कर आधुनिक सामग्री तक सब मे इन्हे सुकल ब्राह्मण ही कहा गया है। 'सुकवि सरोज' में भी शुक्ल ब्राह्मण माना गया है। अत. इनकी जाति यही मान्य होनी चाहिये। तुलसीदास इनके चचेरे भाई थे, और आयु में इनसे बड़े थे। नन्ददास के पूर्वजो मे एक नारायण शुक्ल हुए जिनस इनका वंश-वृक्ष इसप्रकार बनता है—
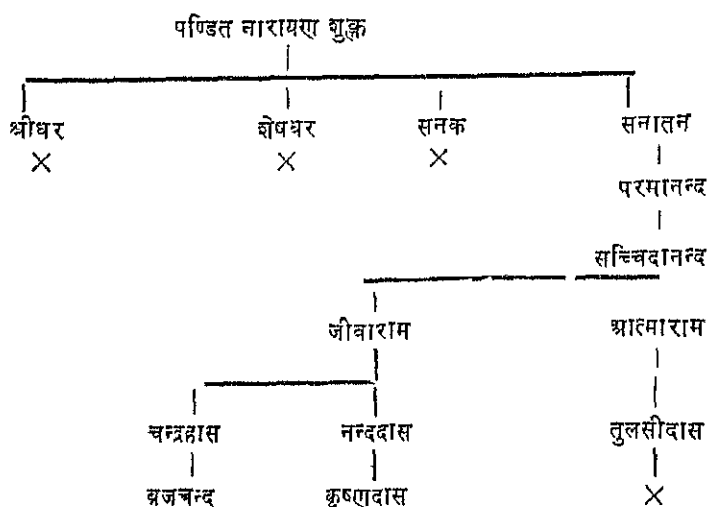
तुलसीदास और नन्ददास दोनो अपने बालपन में नृसिंह पण्डित से विद्या पढ़ा करते थे। गुरु नृसिंह जी उनके सजाती स्मार्त वैष्णव थे, जिनकी सोरो में चक्रतीर्थ के निकट पाठशाला थी। इसकेपश्चात् शेष सनातन गुरु से उन्होंने शिक्षा ली और सभवतः नन्ददास ने आरम्भ मे अपने शिक्षा-गुरु के प्रभाव से ही तुलसीदास की तरह राम-भक्ति को ही अपनाया था। यही कारण है कि उनके काव्य में श्री रामचन्द्र और हनुमान जी की वन्दना के कुछ पद पाए जाते हैं जिनका साहित्यिक सौंदर्य भी विशेष महत्व का नही है, जिससे वे नन्ददास की प्रारंभिक रचनाएँ प्रतीत होते हैं। तुलसीदास के माता-पिता उनकी बहुत छोटी अवस्था में ही परलोक सिधार गए थे। उनकी दादी ने ही उन्हे बड़े कष्ट से पाला था। नन्ददास के पिता का भी देहात उनके शैशव काल में ही हो गया था, क्योंकि 'रत्नावलि चरित, में स्पष्ट लिखा है कि तुलसीदास दादी के मरने के बाद सोरो में ही रहते थे, परन्तु नन्ददास और उनके छोटे भाई चन्द्रहास अपनी माता के पास रामपुर मे रहते थे।

तुलसीदास के वैराग्य लेने पर रत्नावलि कभी अपने मायके मे रहती थी और कभी नन्ददास के घर रामपुर रहती थी।

साम्प्रदायिक जनश्रुति और 'वार्ता' मे यह भी पता चलता है कि आरभ में नन्ददास तुलसीदास के साथ ही रहते थे। तुलसीदास के साथ ही वे पौराणिक वृत्ति के लिए काशी आदि स्थानो पर जाया करते थे। एक बार काशी मे उन्हे एक यात्रियो का दल रणछोड जी के दर्शन को द्वारिका जाने वाला मिला। उनके साथ नन्ददास की भी इच्छा द्वारिका जाने की हुई। उन्होने तुलसीदास से अनुमति चाही। किन्तु तुलसीदास के निषेध करने पर भी वे यात्रियो के साथ हो लिए। मार्ग मे यात्रियो का दल कुछ देर के लिए मथुरा ठहर गया। चचल नन्ददास रास्ता न जानते हुए भी अकेले द्वारिका की ओर बढे। पर मार्ग भटक जाने के कारण वे एक सिंधुनद नामक ग्राम मे पहुँच गए। वही वे एक खत्रानी पर मोहित हो गए और उसके सम्बन्ध से ही ब्रज एव गोकुल मे आए। गोसाईं विट्ठल नाथ द्वारा फिर उनका मोह टूटा और वे तभी वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। श्री विट्ठल नाथ ने साम्प्रदायिक ज्ञान और सत्सग के लिए उन्हे सूर को सौंपा। सूरदास जी के साथ वे पारसौली मे छ महीने तक रहे। सूरदास ने इनके लिये 'साहित्य-लहरी' की रचना की, और उन्हे साम्प्रदायिक शिक्षा दी। परन्तु सूरदास ने अनुभव किया कि अभी तक नन्ददास के हृदय मे वासना वर्तमान है, इसी कारण सूर ने नन्ददास को गृहस्थ जीवन मे प्रवेश करने की सम्मति दी। उन्होने कहा—तुम्हारे हृदय में अभी वैराग्य की दृढ़ता नही है। जब तक तुम दाम्पत्य सुख का उपभोग न करलोगे, तब तक तुमको लीलारस का अनुभव होना सम्भव नही है। इस पर नन्ददास अपने ग्राम रामपुर चले गए। इससे पूर्व जब वे गुसाईं जी की शरण में रहते थे, उनके भाई तुलसीदास ने उन्हे कृष्ण भक्ति से लौटाने का प्रयत्न किया था, परन्तु नन्ददास दृढ रहे थे। सभवतः तुलसीदास पत्र द्वारा विफल होने पर स्वय गोकुल भी उन्हे वापिस ले जाने के लिए आए थे, किन्तु नन्ददास तैयार नही हुए। हरिराय जी की 'भावनावाली वार्ता' (स० १६९६) से भी यह सिद्ध होता है कि विट्ठल

नाथ जी के पास ६-७ महीने या लगभग एक वर्ष रहकर नन्ददास सूरदास के आग्रह से रामपुर चले आए।

सोरो-सामग्री के अनुसार, रामपुर वापिस आकर उन्होंने कमला नामक एक कन्या से विवाह कर लिया, जिससे कालान्तर मे उनका कृष्णदास नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। यह कृष्णदास भी आगे चलकर अच्छा कवि हुआ। यहाँ पर नन्ददास ने अपनी कृष्ण-भक्ति का ही ध्यान रखा। रामपुर का नाम बदल कर श्यामपुर रख दिया। वहां पर श्यामसर नाम का एक तालाव भी बनवाया। डा० दीनदयाल गुप्त का कथन है—"श्यामपुर गाँव आजकल श्यामपुर और रामपुर दोनो नामों से प्रसिद्ध है। इस गाँव मे एक श्यामसर नामक तालाव भी है, जहाँ बलदेव छट के दिन प्रत्येक वर्ष मेला लगता है। कहा जाता है कि वह तालाब भी नन्ददास ही ने बनवाया था। पटवारियो के सरकारी कागजो में इस गाव का नाम श्मामसर लिखा आता है। आजकल यह गाव लगभग पचास घरो की बस्ती है। यहा ब्राह्मणों के दो-एक ही घर हैं, परन्तु वे अपने को नन्ददास अथवा चन्दहास का वंशज नही कहते। कहा जाता है कि नन्ददास के वंशज सोरो ही में रहते हैं। लेखक जब सोरों गया तो उसने नन्ददास के वंशधरों का पता लगाया। उसे एक ब्राह्मण-घर बलाया गया जो अपने को तुलसीदास और नन्ददास का वंशज बताता था। सोरों के आस-पास के गावों में सनाढ्य ब्राह्मण ही रहते हैं, अन्य प्रकार के ब्राह्मण जैसे सरयुपारी अथवा कान्यकुब्ज वहा नही हैं।"[१]

कुछ समय गृहस्थ अवस्था मे अपने गांव रहकर नन्ददास सवत् १६२४ के लगभग विरक्त भाव से फिर गोवर्द्धन आए और फिर कभी व्रज से बाहर नही गए। 'श्री गोवर्द्धन नाथ जी की प्राकाट्य वार्ता' में एक रूपमजरी का प्रसंग है जो श्रीनाथ जी की सेविका थी और नंन्ददास जी के साथ मित्रता रखती थी। उसमें लिखा है—"एक दिन श्रीनाथ जी ग्वालियर की बेटी रूपमंजरी के सग चोपड खेलते पधारे। चार पहर चोपड खेले और बीन सुने वह बीन आछी बजावत हती। चार पहर रात्रि वहा ही बिराजे। नन्ददास

१. 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय'—पृ० १०२

जी को वाको सगत हतो। गुणगान आछो करत हतो। ताके लिए नन्ददास जी 'रूपमंजरी' ग्रथ कियो है तामे चौपाई धरी हैं—"रूपमंजरी तिया को हीयो। सो गिरिधर निज आलय कियो।" हो सकता है कि नन्ददास की रचनाओ मे वर्णित रसिक मित्र यही रूपमजरी हो। इस सम्बन्ध मे डा० रामरत्न भटनागर का कथन उल्लेखनीय है। वे कहते हैं—'रूपमजरी' के अतिरिक्त चार अन्य ग्रथों का नाम 'मजरी' रखा गया है। इसमें कुछ रहस्य अवश्य है। 'मजरी' शब्द नन्ददास को विशेष रूप से प्रिय है, यही लगता है। परन्तु क्यों प्रिय है, इसका समाधान केवल 'प्राकाट्य वार्ता' के इस उल्लेख मे ही होता है। हो सकता है कि इसी की मित्रता को अमर करने के लिए और अपने सम्बन्ध के कारण इसे प्रसिद्धि देने के लिए नन्ददास ने 'रूपमंजरी' की रचना की हो।"[1]

जन्म तथा बल्लभ सम्प्रदाय में शरणागति की तिथियाँ :—

किंवदती तथा 'साहित्यलहरी' की इन पंक्तियो मे "नन्द नन्दनदास हित साहित्यलहरी कीन्ह," यह बात सत्य सिद्ध होती है कि सूरदास ने नन्ददास के लिए ही 'साहित्यलहरी' की रचना की थी। 'साहित्यलहरी' का रचना काल सवत् १६१७ है। इसलिए नन्ददास की शरणागति का समय स० १६१६ के लगभग माना जा सकता है। कुछ विद्वान 'साहित्यलहरी' का रचना समय १६०७ मानते हैं। श्री द्वारकादास कांकरोली इसी कारण शरणागति का समय स० १६०६ मानते हैं। श्री दीनदयाल गुप्त उनके दोबारा गुसाई जी की शरण में आने का समय इस तरह निश्चित करते हैं। "नन्दास की लौकिक वृत्ति उन्हे गृहस्थी मे खीच ले गई और फिर गोस्वामी विट्ठल नाथ जी के गोकुल में स्थायी रूप से निवास करन के बाद लगभग स० १६२४ मे वे फिर गोस्वामी जी की शरण में आए और फिर वे गोवर्द्धन छोड़ कर कहीं नहीं गए। २५२ वार्ता में जो पद —'जयति रुक्मिनीनाथ पद्मावती प्राणपति विप्रकुल छत्र आनन्दकारी'—नन्ददास द्वारा गाया हुआ बताया गया है, संवत्

१. नन्ददास (डा० राम रतन भटनागर) पृ० ७

१६२४ के बाद का ही है ; क्योंकि इसपद मे गोस्वामी विट्ठल नाथ जी की द्वितीय पत्नी पद्मावती का उल्लेख है जिसका विवाह लगभग सवत् १६२३ में हुआ था।''[१]

नन्ददास दीक्षा के समय वयस्क अवश्य होगे। उस समय वे युवक रसिक थे। श्री द्वारकादास जी उनका उस समय १६ वर्ष का होने का अनुमान लगाते हैं और इस प्रकार उनके अनुसार दीक्षा का समय संवत् १६०६ होने के कारण उसमे से १६ वर्ष कम करके उनकी जन्मतिथि लगभग सवत् १५९० निकालते हैं। डा० दीनदयाल गुप्त उनकी अवस्था उस समय लगभग २५-२६ वर्ष की मानते हैं, और उनके अनुसार भी दीक्षा का समय सवत् १६१६ होने के कारण जन्मतिथि लगभग १५९० बैठती है। वास्तव मे उनकी अवस्था उस समय १६ वर्ष जचती नही, क्योकि इस रसिकता का विकास भी १६ वर्ष की किशोर अवस्था मे नही हो सकता। अत. हमे डा० दीनदयाल गुप्त की बात ठीक लगती है। दीक्षा का समय भी उनका ही उपयुक्त है।

श्री कृष्णमणि शास्त्री का अनुमान है कि नन्ददास का जन्म सम्वत् १५७० के लगभग हुआ। परन्तु शास्त्री जी की बात का कोई प्रमाण नही मिलता। डा० श्याम सुन्दर दास ने भी इनका जन्म सम्वत् १५९० के लगभग माना है। एक बात और यह है कि गोसाईं तुलसीदास का जन्म सम्वत् १५८९ बहुमत मे माना गया है। अतः कुछ छोटे होने के कारण नन्ददास का जन्म १५८९ से पूर्व नही माना जा सकता। सम्वत् १५९० व उसके लगभग ही इनका जन्म काल मानना उचित है।

गोलोकवास :—'अष्टसखान वार्ता' मे नन्ददास की मृत्यु की विचित्र कथा है। इस कथा का इस ढंग से वर्णन साम्प्रदायिक महत्व के कारण ही हुआ है। किन्तु इस से इतना तथ्य अवश्य निकाला जा सकता है कि नन्ददास जी की मृत्यु मानसी गंगा पर अकबर और बीरबल के समय मे ही हुई। डा० दीनदयाल गुप्त का कथन है कि "इस बात की किंवदन्ती भी मानसी गगा

१ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० २६०

पर सुनने में आती है कि यही नन्ददास का गोलोकवास हुआ था और ये यहीं अपनी यशकाया से निवास करते है।"[1] अकबर बादशाह की मृत्यु सं० १६६२ मे हुई थी। "अकबर की धार्मिक जिज्ञासा तथा उदारवृत्ति दीनइलाही मत के चलाने के ठीक पूर्व समय मे बहुत प्रबल थी, उसी समय वह हिन्दू-देवस्थानो मे अधिक जाता था, संत और भक्तो से मिलता था तथा उनके प्रवचनो को उत्सुकता के साथ सुनता था। यह समय इतिहासकारो ने सन् १५८२ ई० के पूर्व दो तीन साल पहले का बताया है। अनुमान है कि अकबर इसी समय के लगभग मानसी गंगा तथा गोवर्द्धन पर गया था। उस समय बीरबल जीवित था और उस के साथ था। इसी समय उसने नन्ददास के पद से प्रभावित हो उनसे भेंट की थी। इसी लिए नन्ददास के निधन का संवत् अनुमान से लगभग १६३९ वि० कहा जा सकता है।"[2]

बीरबल की मृत्यु इतिहासकारो ने संवत् १६४३ मे काश्मीर की लडाई मे हुई मानी है। इसी लिए नन्ददास की मृत्यु का समय उस से पहले सं० १६४० के लगभग ही होना चाहिए। 'वार्ता'* से यह भी विदित है कि नन्ददास जी विट्ठल के सामने ही स्वर्ग सिधार गए थे। गोस्वामी विट्ठल नाथ की मृत्यु सं० १६४२ में हुई। अतः नन्ददास इससे पूर्व सम्वत् १६४० के लगभग ही गोलोकवासी हुए होगे।

इस प्रकार अब तक की प्राप्त समस्त सामग्री से नन्ददास के जीवन की रेखाएँ ही हमें प्राप्त होती हैं। उनके जीवन के आन्तरिक पक्ष को शायद हम अन्य प्राचीन कवियो की तरह कभी पा ही न सकेंगे। वे एक उच्च कोटि के कवि थे, एक सहृदय, सौंदर्य-प्रेमी तथा रसिक व्यक्ति थे; और उनकी रसिकता बाद में भगवद् आनन्द मे परिवर्तित हो गई थी। रूपमंजरी की कथा उनके सौंदर्य-प्रेमी होने का प्रमाण देती है। रणछोर जी की यात्रा को जाते हुए वे मथुरा की रचना पर रीझे थे और फिर खत्राणी के रूप-सौंदर्य पर आसक्त होना भी यही सिद्ध करता है।

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० २६०
२. वही ,, ,, ,, ,, २६२

नन्ददास का युग एवं परिस्थियाँ

कवि तथा उसका युग एक दूसरे से प्रभावित होते हैं । मेघ-परि के समान कवि समकालीन जीवन-सागर से ही भावो-रसो के कणों को अपने में भरता है और उनको भव्य एवं परिष्कृत रूप प्रदान कर वसुन्धरा को ही उर्वर बनाने के लिए बरस पड़ता है। कवि के भीतर जो कुछ सचित होता है—जो संस्कार, भावनाएं, विचार वह ग्रहण करता है—वे सब समाज, वातावरण और परिस्थितियो की ही देन होते हैं। अपने युग के प्रभावो को ही किसी-न-किसी अंश मे कवि ग्रहण करता है, और साथ ही अपनी रचनाओं से अपने ही युग अथवा आगामी युगों को प्रभावित भी करता है। अत. किसी कवि के काव्य का अध्ययन करने से पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि उसके काव्य की पृष्ठ-भूमि एवं उसके युग की परिस्थितियों का अवलोकन किया जाय, उसकी काव्य-चेतना के निर्माण एवं विकास में जिन परिस्थितियों ने योग दिया हो, उनकी खोज की जाय। कवि की भावनाओं, विचारों एवं उसके सही दृष्टिकोण को समझने के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि उसके समय की विचारधारा को समझा जाय। अतः हम इस प्रकरण मे नन्ददास के काव्य की पृष्ठभूमि पर विशद रूप से प्रकाश डालेंगे।

नन्ददास का काव्य वैसे तो समस्त भक्ति काल के और विशेष रूप से अष्टछाप के सभी कवियों की भाँति, मुख्य रूप से धार्मिक परिस्थितियों का ही परिणाम है, किन्तु तो भी प्रत्येक कवि के काव्य पर जाने या अनजाने सामाजिक, राजनैतिक, साहित्यिक एवं मनोवैज्ञानिक परिस्थितियो का भी प्रभाव पड़ता है। नन्ददास का काव्य एक विशेष प्रकार के धार्मिक आन्दोलन की देन होते हुए भी अपने से पूर्व तथा समकालीन साहित्यिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। नन्ददास का समय ईसा की सोलहवीं सदी है, अतः हम इस समय की तथा इस से पूर्व की उन समस्त परिस्थितियों का परिचय देंगे जो हमारे कवि के काव्य से सम्बन्धित है।

साहित्यिक पृष्ठभूमि :

भाषा :—नन्ददास से पूर्व हमारा हिन्दी साहित्य विकास के अनेक चरणो को पार कर चुका था। साहित्यिक भाषा ब्रज का भी सुथरा और निश्चित रूप प्रकट हो चुका था। यद्यपि वीर-गाथाओ की डिंगल भाषा मे भी ब्रजभाषा के रूप हमे मिलते हैं, तथापि काव्य-भाषा ब्रज का परिचय हमे सर्वप्रथम खुसरो की रचनाओ मे मिलता है। भक्ति-युग में संत-साहित्य की अनिश्चित और मिश्रित-भाषा मे भी ब्रज के रूप खूब पाए जाते हैं। कबीर के अनेक पदों में ब्रज भाषा का साहित्यिक रूप मिलता है। मध्ययुग के समस्त साहित्य से पता चलता है कि ब्रज-भाषा की व्यापकता इतनी थी कि ब्रज-मडल के अतिरिक्त यह उत्तर भारत के अन्य प्रदेशो मे भी काव्य-भाषा के रूप मे सर्वमान्य थी। इतना होते हुए भी शुद्ध साहित्यिक ब्रज भाषा का सुन्दर रूप हमें कृष्णकी लीला-भूमि ब्रज-मडल में प्रणीत होने वाले कृष्ण-भक्ति-काव्य में ही सर्वप्रथम मिला, जिसके प्रवर्तक कवि सूर हैं। नन्ददास ने इसी काव्य परम्परा मे प्रचलित ब्रज-मडल की भाषा को कलात्मकता प्रदान की। सूरदास की भाषा को ही वैसे नन्ददास की साहित्यिक कलापूर्ण भाषा की पृष्ठभूमि कहा जा सकता है।

संत काव्य :— अष्टछाप-काव्य का मूल-आधार-ग्रंथ श्रीमद्भागवत है। अतः अष्टछाप के कवियो के वर्ण्य-विषय—कृष्णलीलाएँ, वैराग्य, संसार की असारता, गुरुमहिमा, मानसिक-परिष्कार, प्रेम की सयोग-वियोगात्मक आध्यात्मिक अनुभूतियाँ आदि अधिकाश इसी ग्रथ से अपनाए गए है। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि संत-साहित्य मे भी आत्मा और परमात्मा की संयोग-वियोगात्मक अनुभूतियाँ, संसार की असारता, गुरु महिमा आदि उपर्युक्त विषय पाए जाते है। अतः श्रीमद्भागवत मूल-आधार-ग्रंथ होते हुए भी यह अवश्य मानना पड़ेगा कि अष्टछाप के कवियो के सम्मुख संत-काव्य भी रहा होगा। संतो की पद-शैली और दोहा-शैली भी इन कवियो ने अपनाई है। अतः नन्ददास किसी-न-किसी अंश मे सन्त-काव्य से अवश्य प्रभावित हुए हैं।

सूफी प्रेम-काव्य :—सूफियो की प्रेम-कहानियो का प्रभाव भी अष्टछाप के कवियो पर पाया जाता है। नन्ददास के काव्य पर इस धारा का अष्टछाप के अन्य कवियो की अपेक्षा अधिक प्रभाव है। सूफियो के लौकिक-प्रेम से अलौकिक प्रेम की अभिव्यजना का स्पष्ट प्रभाव नन्ददास की 'रूपमजरी' आदि रचनाओ मे देखा जा सकता है। प्रेम और विरहानुभूति की मार्मिकता मे बहुत कुछ समानताए पाई जाती हैं। यद्यपि नन्ददास ने अन्य अष्टछाप के कवियो की भांति भारतीय प्रेम-भक्ति-परम्परा को ही अपनाया, जो नारदीय-भक्ति-सूत्र, भागवत पुराण, 'शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र' आदि ग्रथो मे मिलती है, और जिसे उन्होने इन ग्रथो के साथ-साथ अपने गुरुओ से प्राप्त किया, तथापि सूफियो की प्रेम-पद्धति और काव्य-परम्परा से नन्ददास अवश्य परिचित और किसी अश मे प्रभावित रहे हैं, इसमे सदेह नही किया जा सकता। 'रूपमजरी' में तो जायसी के 'पद्मावत' का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। सूफियो की प्रेम-गाथाओ की दोहा-चौपाई की छन्द शैली का नमूना भी नन्ददास के समक्ष अवश्य था। उनकी 'रूपमंजरी' और 'दशमस्कध-भाषा' आदि रचनाओ की छन्द-शैली इसका प्रमाण है। हो सकता है नन्ददास ने जैन-चरित-काव्यों अथवा सूफियो की कहानियो से इस छन्द-शैली की सीधी प्रेरणा न ली हो और तुलसीदास के 'रामचरितमानस' से ही यह प्रेरणा उन्हो ने ग्रहण की हो, क्योकि '२५२ वैष्णवो की वार्ता' मे लिखा है कि नन्ददास ने 'भागवत भाषा दशमस्कन्ध' को तुलसी के 'रामचरितमानस' से प्रेरणा लेने के बाद लिखा था। परन्तु सूफियों की प्रेम-कहानियों की भी अवहेलना इस दृष्टि से नही की जा सकती। हमारा कवि उनसे भी अवश्य प्रभावित हुआ है।

राम-काव्य-धारा : भक्ति-काल की इस आध्यात्मिक-धारा का भी आंशिक प्रभाव नन्ददास पर पाया जाता है। तुलसीदास नन्ददास के समकालीन थे, उनका 'रामचरितमानस' अवश्य नन्ददास के सम्मुख रहा होगा। और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'मानस' की शैली का प्रभाव उन पर अवश्य पड़ा। तुलसी की आध्यात्मिक भावना का भी प्रभाव नन्ददास पर ढूंढा जा सकता है।

कृष्ण-भक्ति-काव्य : पीयूषवर्षी जयदेव की सरसपदावली तथा कृष्ण की विलास-लीलाओ के वर्णन का प्रभाव हिन्दी के कृष्ण भक्त-कवियो पर सामान्य रूप से पाया जाता है। इस सम्बन्ध मे डा० दीनदयाल गुप्त का कथन है कि "गीतगोविन्द की अनेक प्रतिलिपिया, हिन्दी की प्राचीन पुस्तको के साथ बंधी, ब्रज के वैष्णव घर तथा मन्दिरो मे मिलती हैं। इससे ज्ञात होता है कि गीत-गोविन्द का चाहे सगीत की दृष्टि से हो, चाहे इसमे निहित भावो की दृष्टि से, ब्रज मे बहुत प्रचार था। अष्टछाप की मधुर पदावली के देखने से पता चलता है कि उस पर गीतगोविन्द की भावमयी भाषा तथा सगीतमयी शब्दावली का अवश्य प्रभाव पड़ा था।"

जयदेव के 'गीतगोविन्द' के अतिरिक्त विद्यापति का कृष्ण-काव्य नन्ददास के समय में बहुत प्रसिद्ध था। चैतन्य महाप्रभु और उनके ब्रज में रहने वाले अनुयायी विद्यापति के राधा-कृष्ण-प्रेम के पदो की बडी तल्लीनता से गाते थे। "चैतन्य-सम्प्रदाय का प्रचार अष्टछाप के समय में श्रीरूपगोस्वामी जी के प्रभाव से बहुत हुआ था। उसके साथ ब्रज मे विद्यापति का भी मान बढा। इस प्रकार विद्यापति की काव्य-शैली ने भी जयदेव की तरह अष्टछाप काव्य शैली को अवश्य प्रभावित किया होगा।"[1]

यद्यपि नन्ददास को सीधी साहित्यिक प्रेरणा अपने अग्रज अष्टछाप के सखाओ—सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास तथा कृष्णदास—और इनमे भी विशेष रूप से सूरदास से मिली, जिनका काव्य सदियों तक अनेक हिन्दी कवियो के लिए आदर्श बना रहा, तो भी नन्ददास की काव्य-चेतना के निर्माण मे विद्यापति और जयदेव का भी महत्वपूर्ण योग-दान है।

इस प्रकार नन्ददास के युग मे भक्ति-काव्य की ही रचना हो रही थी। सूरदास, तुलसीदास, परमानन्ददास आदि अनेक कवियो ने नन्ददास के देखते-देखते अपनी काव्य प्रतिभा दिखाई थी। जिस वातावरण में नन्ददास रह रहे थे, उस वातावरण मे कृष्ण-लीला सम्बन्धी काव्य ही रचा जा रहा था।

1 "अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय" पृ० २९

कृष्ण-लीला गान ही वल्लभ सम्प्रदाय की साहित्यिक परम्परा बन चुकी थी और नन्ददास ने भी इसी परम्परा मे योग दिया ।

राजनैतिक परिस्थितियां

सन् ११६१ के प्रसिद्ध तराई के युद्ध के पूर्व मुसलमानों के अनेक आक्रमण समय-समय पर होते रहते थे। किन्तु मुहम्मदगौरी ने जब अन्तिम बार इस युद्ध मे पृथ्वीराज को हराकर हिन्दू-शक्ति को बिल्कुल क्षीण कर दिया, तो देश में मुसलमानों के छोटे छोटे राज्य स्थापित हुए और बाद में दिल्ली की सल्तनत जमी, जिससे हिन्दू-राजवंशों की सत्ता उत्तर भारत में समाप्तप्राय हो गई। पठानो, मुगलों आदि प्रमुख राजवंशों के अतिरिक्त और भी अनेक छोटे-मोटे मुसलमानी राज्य मध्य- युग में इधर-उधर स्थापित होते तथा बिगडते रहे, और इनके कारण राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन होने के साथ-साथ भारत की सामाजिक और धार्मिक अवस्था भी परिवर्तित एवं प्रभावित होती रही।

नन्ददास के समय में मुसलमानों का साम्राज्य प्रायः समस्त भारत में स्थापित हो चुका था। मुसलमानो का आतंक देश में छाया हुआ था। शासकों की धर्मांधता के कारण हमारे सामने ही हमारे देवमन्दिर, उपासना-गृह और पाठशालाएँ नष्ट-भ्रष्ट की जा रही थी। नन्ददास के उपास्यदेव कृष्ण की लीला-भूमि ब्रज-मण्डल को भी इस विदेशी आंधी ने नष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया था। मथुरा नगरी को भी मुसलमानों के अनेक आक्रमणो की ध्वंसकारी चोटे सहनी पड़ी थी। महमूद गजनी ने भी पहले मथुरा की सम्पत्ति को खूब लूटा था और यहाँ के रम्य-स्थलों को भी नष्ट किया था। श्री यदुनाथ अपने 'वल्लभ दिग्विजय' नामक ग्रथ में बताते हैं कि सन् १५०० ई० में सिकन्दर लोदी ने इस नगर पर अनेको जुल्म ढाये और अपनी तलवार के बल पर हजारों हिन्दुओं के जनेऊ तोड़े और जबरदस्ती मुसलमान बनाया। सिकन्दर लोदी के कर्मचारियों के अनेक अमानुषीय अत्याचारों का उल्लेख प्रस्तुत पुस्तक[1] मे मिलता है।

1, वल्लभ दिग्विजय, श्री यदुनाथ—पृ० ५०

डा० ईश्वरी प्रसाद अपने प्रसिद्ध इतिहास-ग्रंथ 'मैडीवियल इण्डिया' में उस समय की राजनीतिक दशा का वर्णन करते हुए लिखते है कि "मुसलमान शासकों ने धार्मिक तथा राजनैतिक दोनों दृष्टियो से हिन्दुओ को सताना और पीसना ही मानों अपनी नीति बना ली थी। मूर्तियों का खण्डन करना, हिन्दुओ को जबरदस्ती मुसलमान बनाना आदि उनके साधारण कार्य थे। सिकन्दर लोदी ने तो इस अत्याचार को बहुत ही अधिक उत्तेजना दी। हिन्दुओ पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध सिकन्दर लोदी ने लगाए। मुसलमान धर्म को न मानने वालों को एक विशेष कर (जजिया) देना होता था।[1]

हिन्दू-जनता यह सब कुछ देखती और सहती रही। वह एक तरह से यवनशक्ति के सामने अपनी असमर्थता का अनुभव कर चुकी थी। देश मे एक प्रकार की नैराश्य की भावना फैली हुई थी। धार्मिक परिस्थितियो के कारण, बौद्धो की निष्क्रियता एव शकर के मायावाद के प्रभाव से तथा साथ ही अपने असामर्थ्य के कारण हिन्दू-जनता भाग्यवाद एवं वैराग्य की भावनाओ मे डूब गई थी। ऐसी दशा मे निराशा के कारण असतोष तो विद्यमान था किन्तु उस असतोष की प्रतिक्रिया ईश्वर की शरण मे तुष्टि एवं शान्ति प्राप्त करने के रूप मे ही हुई। यह असंतोष भी व्यक्तिगत था। सामाजिक अथवा जातीय भावना बिल्कुल दबी हुई थी। यही कारण है कि उस समय के कवियो का असंतोष व्यक्तिगत रूप मे ही मुख्यत. प्रकट हुआ और उसका स्वरूप रहा भगवान् के प्रति आत्मनिवेदन का। तत्कालीन राजनैतिक स्थिति से उत्पन्न असंतोष राजनैतिक असंतोष के रूप में प्रकट न हो सका।

महाप्रभु बल्लभाचार्य के ग्रंथ 'कृष्णाश्रय' से उस समय के असंतोष की प्रतिक्रिया बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। 'कृष्णाश्रय' ग्रंथ में बल्लभाचार्य लिखते है—"देश म्लेच्छों से (मुसलमानो से) आक्रान्त है, म्लेच्छों से दबा देश पाप का स्थान बन गया है? सत्पुरुषो को पीडा दी जाती है। सम्पूर्ण लोक इस पीडा से पीड़ित है, ऐसी दशा में भगवान कृष्ण ही

1 हिस्ट्री आफ मैडीवियल इण्डिया पृ० ४६६—६८

हमारे रक्षक है। गङ्गा आदि सब उत्तम उत्तम तीर्थ भी दुष्टो से आक्रान्त हो रहे है। ऐसे समय मे केवल कृष्ण ही मेरी गति है।"

१५५६ ई० में अकबर बादशाह दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। आरंभ में तो वह भी राज्य-विस्तार और विद्रोह शांत करने मे लगा रहा। १५६६ ई० में उसने बनारस पर आक्रमण किया और फिर कडा मानिकपुर, इलाहाबाद और बनारस को लूटा। सन् १५६८ मे चितौड को जीत लिया और फिर रंथमभौर और कालिंजर विजित हुए तथा फतहपुर सीकरी की नींव पडी। इस प्रकार एक मजबूत केन्द्रीय सत्ता की स्थापना करके उसने बुद्धिमत्ता तथा उदार-शासन-नीति को अपनाया। इससे पहले जो घोर अत्याचार हिन्दुओं पर होते थे, उन्हे शनैः शनै. समाप्त किया। सभी धर्मों के प्रति उसकी उदार नीति होने का ही यह परिणाम हुआ कि इस युग मे सभी धर्म स्वतंत्रता के साथ विकसित हुए। अकबर ने स्वयं कृष्ण-भक्ति एव कृष्ण-भक्त कवियो के प्रति अपना सम्मान प्रकट किया। उसने कवियो को आर्थिक सहायता भी दी। उसके दरबार मे रहीम आदि कई कवि कृष्ण-भक्ति के उद्‌गार सुनाते रहते थे।

अकबर ने उस समय के कलाकारों को विशेष प्रोत्साहन दिया। तानसेन, स्वामी हरिदास, गोविन्दस्वामी आदि उस युग के प्रमुख संगीतज्ञ और गवैये अकबर द्वारा विशेष रूप से सम्मानित थे। सूरदास, नन्ददास, परमानन्ददास जैसे उच्च कोटि के गायनाचार्यों और कवियो को फिर क्यों न आदर मिलता? अकबर के समय की इस अनुकूल परिस्थिति के ही कारण अष्टछाप के कवियो की संगीत-ध्वनि समस्त उत्तर-भारत मे गूज उठी। राजनीतिक दशा मे कुछ सुधार होने के कारण ही कृष्ण-भक्त कवियो ने आत्म-विस्मृतकारी स्वरलहरी को प्रवाहित किया। सम्भवतः उन्हे विश्वास हो गया था कि भगवान् की शरण में जाने की उत्कट इच्छा का ही परिणाम इन दुःखो और अत्याचारो का कम होना है। अधिक विश्वास और अधिक तन्मयता के साथ वे कृष्णभक्ति मे आत्मलीन होते गए।

सामाजिक परिस्थितियाँ

देश में अभी तक ब्राह्मण-संस्कृति का महत्त्व था। वर्णाश्रम धर्म पर हिन्दू जनता की पूर्ण आस्था थी। यद्यपि रामानन्द आदि वैष्णव आचार्यों ने भक्ति के क्षेत्र में जात-पात के भेद-भाव को दूर करने की चेष्टा की थी और "जाति पांति पूछै नहिं कोउ, हरि को भजै सो हरि को होऊ" की ध्वनि गूंज रही थी, तो भी समाज में जाति-पाति का भेद-भाव बहुत था। ब्राह्मणवर्ग अपनी वेद-शास्त्र की परम्परा-पालन में कट्टर था। साधारण जनता अशिक्षित ही थी। ब्राह्मणों में पठन-पाठन की प्राचीन पद्धति प्रचलित थी। आश्रमों में गुरु और पण्डित लोग शिष्यों को पढ़ाते थे।

देश की आर्थिक दशा भी बुरी थी। मुसलमानों की पक्षपातपूर्ण और धर्मांध कूट नीति के कारण मुसलमान प्रजा तथा कुछ सामन्त-सरदार और दरबारी लोग ही सुखी और समृद्ध थे, बाकी साधारण जनता की दशा बहुत खराब और कष्टपूर्ण थी। मुसलमानी धार्मिक अत्याचारों से बचने के लिए तथा मुसलमानों के प्रभाव को बचाने के लिए हिन्दुओं को खान-पान, ब्याह-शादी, रीति-रिवाज आदि के कड़े बंधन बढ़ाने पड़े। सामाजिक और धार्मिक रीति-रिवाजों और विश्वासों में रूढ़िवादिता आ गई थी।

मनोवैज्ञानिक परिस्थिति :

यद्यपि हमें समस्त भक्तिकाल के काव्य को दक्षिण से आई हुई भक्ति भावना का परिणाम तथा भारतीय-धर्म-साधना का स्वाभाविक विकास, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, मानने में कोई आपत्ति नहीं है, तथापि भक्ति की इस उत्कट भावना के प्रसार और विकास में मनोवैज्ञानिक कारणों की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भले ही भक्ति-काव्य को हम हतोत्साहित भारतीय जाति का निराशापूर्ण उद्गार न मानें, किन्तु हमें इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि तत्कालीन संकट के समय में जो असंतोष और निराशा की भावना जनता में फैली हुई थी, उसके कारण भक्ति-भावना को विशेष प्रश्रय मिला। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि संकट के घोर

अंधकार में जब मनुष्य अपने को उससे बचाने में असमर्थ पाता है, तब या तो वह जीवन से बिल्कुल हतोत्साहित होकर आत्महत्या कर लेता है, या जीवन के संघर्ष से पलायन करके नशे मे चूर होकर अपने को भूल जाना चाहता है, अथवा धर्म और ईश्वर की शक्तिशाली क्रोड मे शरण ढूंढता है। उस अवस्था मे हिन्दू-जाति को आशामय भगवान् की सुर-रक्षिणी और असुर-विनाशिनी शक्ति की ओर आशा लगानी पडी। ईश्वर ही इन दुःखो और क्लेशो से बचायगा, यह विश्वास जमाकर प्रभु के चरणो मे आत्म-निवेदन और समर्पण ही उन्हे उचित लगा।

नन्ददास का जीवन हमे अधिक ज्ञात नही है, फिर भी जो थोडा बहुत पता चलता है, उससे हम उनके काव्य की संगति बिठा सकते हैं। नन्ददास युवावस्था में रसिक जीव थे। एक खत्रानी के प्रति वह जी जान से आकृष्ट हुए थे, किन्तु उन्हें इस प्रेम मे विफलता मिली थी। वैसे भी उनका जीवन कष्टपूर्ण ही रहा था। लौकिक जगत मे सफलता न पाकर उन्होने अपनी प्रेम-भावना को अलौकिक जगत् में तुष्ट किया। इस लौकिक विफलता के कारण ही उन्हे जीवन में वैराग्य लेना पडा और बल्लभ सम्प्रदाय मे दीक्षा ली। ब्राह्मण होने के कारण तथा धार्मिक शिक्षा मिलने के कारण भी उनके हृदय मे धार्मिक भावना ही विकास पा सकती थी। सूर के सम्पर्क तथा गोसाईं जी की दीक्षा के कारण उन्होंने प्रेमा-भक्ति को बड़े चाव से अपनाया।

धार्मिक पृष्ठभूमि.—भारत धर्म-प्रधान देश रहा है। बहुत प्राचीन काल से धर्म-साधना के तीन मार्ग ज्ञान-योग, कर्मयोग और भक्ति-योग यहाँ प्रचलित रहे हैं। ईसा के सैकडों वर्ष पहले से भारतीय-धर्म-साधना मे भक्ति को विशेष महत्त्व प्राप्त रहा है। श्रीमद्भगवद्गीता मे भक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा यह सिद्ध करती है कि उत्तरी-भारत में वैष्णव भक्ति और भागवत-धर्म का प्रचार ईसा से बहुत पहले से चला आ रहा है। ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों मे वैष्णव-धर्म और बौद्ध धर्म मे बहुत संघर्ष रहा है। कुशानवंशी राजाओं के बौद्ध-मतावलम्बी होने के कारण ईसा की पहली शती मे उत्तर में भागवत धर्म

कुछ शिथिल होने लगा था। कनिष्क ने बौद्ध धर्म को प्रोत्साहन दिया था, किन्तु यह पूर्ण ऐतिहासिक तथ्य है कि गुप्तवंश के राजाओ के समय मे (ई० ४००-६००) वैष्णव भक्ति और भागवत धर्म का फिर से खूब प्रचार हुआ। उत्तर भारत से ही यह भागवत धर्म और वैष्णवी-भावना दक्षिण भारत मे गई थी, और वहां भी बडी प्रबलता के साथ विकसित हुई। गुप्तवंशीय राजाओं ने वैष्णवी-भावना के प्रचार में विशेष उद्योग किया था। गुप्त साम्राज्य के समाप्त होते ही उत्तरी भारत में बौद्ध और शैव धर्मों का प्रभाव बढने लगा। हर्षवर्धन जैसे कुशल शासको ने बौद्ध-धर्म को अपना कर उसके प्रचार का मार्ग खोल दिया। ईसा की सातवी और आठवी शती के पश्चात् वैष्णव-धर्म-भावना उत्तरी-भारत मे बिलकुल दब सी गई, परन्तु दक्षिण-भारत मे, जहा उत्तर-भारत से ही ईसा की आरम्भिक शताब्दियो मे यह वैष्णवी-धारा गई थी, इसका प्रचार बराबर बढ़ता गया। आडवार भक्तो ने ईसा की सातवी शती से नवी शती तक दक्षिण-भारत मे भागवत धर्म को पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँचाया। इधर उत्तरी-भारत मे ईसा की सातवी शताब्दी के पश्चात् बौद्ध, शैव, सिद्ध, नाथपंथी, सूफी आदि अनेक अन्य धर्मों ने डेरा जमा लिया और वैष्णव-धर्म एक तरह से बिलकुल दबा रहा। आठवी शताब्दी मे स्वामी शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट के धक्के से बौद्ध-धर्म के किले तो ढह गए, परन्तु कुछ शैव-तत्वों और कुछ वैदिक बातो को अपना कर चलने वाले कई धार्मिक सम्प्रदाय चल पड़े। वैष्णवी-भक्ति-भावना दबी ही पड़ी रही। शंकराचार्य के अद्वैतवाद और मायावाद ने भक्ति के लिए कोई स्थान ही रहने नही दिया।

इस प्रकार उत्तर-भारत मे ईसा की सातवी-आठवी शताब्दी से लेकर चौदहवी शताब्दी तक वैष्णवी-भक्ति-भावना बिलकुल दबी रही। इस समय मे इस क्षेत्र मे एक तो बौद्ध-धर्म के परिवर्तित रूप वज्रयान, सहजयान आदि का प्रचार रहा। चौरासी सिद्धों का समय स० ७९७ से १२५७ (सन् ७४० से १२०० ई० तक) तक माना जाता है। इन सिद्धों का प्रभाव जनता पर बहुत था। इस सम्बन्ध मे आचार्य शुक्ल का कथन है—"बौद्ध-धर्म विकृत

होकर वज्रयान सप्रदाय के रूप मे देश के पूरबी भागों में बहुत दिनो से चला आ रहा था। इन बौद्ध तान्त्रिको के बीच वामाचार अपनी चरमसीमा को पहुँचा। ये बिहार से लेकर आसाम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे। 'चौरासी सिद्ध' इन्ही मे हुए हैं, जिनका परम्परागत स्मरण जनता को अब तक है। इन तान्त्रिक योगियो को लोग अलौकिक-शक्ति-सम्पन्न समझते थे। ये अपनी सिद्धियों और विभूतियो के लिए प्रसिद्ध थे।...... ...जनता पर इन सिद्ध योगियो का प्रभाव विक्रम की १०वीं शती से ही पाया जाता है, जो मुसलमानो के आने पर पठानो के समय तक कुछ न कुछ बना रहा।''[1]

इन सिद्धो की परम्परा मे ही गोरखनाथ ने इनसे अलग अपना 'नाथपथ' खड़ा किया जो बारहवी शताब्दी से चौदहवी शताब्दी के अन्त तक अपने चरमोत्कर्ष पर था। इन नाथपथियो का प्रभाव उत्तरी-भारत की जनता पर कम नही था। राजपुताना इनका विशेष गढ था। इनकी हठयोग साधना यद्यपि ईश्वरवाद को लेकर चली थी, किन्तु फिर भी घट के भीतर ही ईश्वर को प्राप्त करने की जटिल साधना सर्वसाधारण के बस की बात न थी। जनता पर ये योगी अपनी सिद्धियो का ही आतंक जमाते थे।

मुसलमानों के आक्रमणों से बहुत पहले ही कुछ मुसलमान सूफी भारत में रहने लगे थे। सिंध और मुलतान मे ईसा की ११वी शती मे बहुत से सूफी मुसलमान बसे हुए थ। बहुत से सूफियों ने भारतीय योगियों स प्राणायाम आदि की क्रियाये भी सीखी थी। इन सूफियो के शनै: शनैः कई सम्प्रदाय भारत में स्थापित हुए। इन का धर्म-प्रचार सर्वसाधारण जनता में बहुत बढ रहा था। चिश्ती सम्प्रदाय को भारत में लाने का श्रेय ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती को है, जिन्होंने सन् ११९२ में इस भूमि पर इसका प्रचार किया। तेरहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे सुहरावर्दी सम्प्रदाय की स्थापना हुई जिसका प्रचार भारत के अनेक स्थानो में हुआ। सिध, गुजरात और पजाब मे इस सम्प्रदाय के केन्द्र विशेष रूप से स्थापित हुए। इसी प्रकार आगे चलकर

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल पृ० ७

कादरी और नक्शबन्दी सम्प्रदायो की स्थापना १५वी और १६वी शताब्दियो मे हुई। इन सम्प्रदायो का प्रभाव अपनी सरल ईश्वरोन्मुखी भावना, उदारता और सहिष्णुता के कारण जन-समुदाय मे विशेष रूप से पडता रहा और समाज के निम्न-वर्ग के व्यक्ति, जिनकी हिन्दू समाज में उपेक्षा होती थी, लाखो की सख्या में इन सम्प्रदायो मे दीक्षित हुए। "इस प्रकार इस सूफी धर्म ने अपने शान्त और अहिंसापूर्ण प्रभाव से इस्लाम की सस्कृति को जितनी दूर पहुँचा दिया, उतनी दूर मुसलमान शासकों की तलवार भी नही पहुँचा सकी।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्ययुग में कोई सात-आठ सौ वर्ष तक उत्तर-भारत मे धर्म का कोई एक निश्चित रूप नही रहा। भक्ति-भावना तो इस समय मे बिल्कुल ही दबी रही। कापालिको, घोरपथियो, तान्त्रिको और वाममार्गियो ने अपने बीभत्स कृत्यो द्वारा धर्म को बिल्कुल विकृत बनाया हुआ था। धर्म मे अधविश्वास बहुत बढ गया था। ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनो के समन्वित रूप का धर्म मे बिल्कुल अभाव था। आचार्य शुक्ल इस सम्बन्ध म कहते हैं—"हिन्दी साहित्य के आदिकाल मे कर्म तो अर्थशून्य विधि-विधान, तीर्थाटन और पर्वस्नान इत्यादि के सकुचित घेरे मे पहले से बहुत कुछ बद्ध चला आता था। धर्म की भावात्मक अनुभूति या भक्ति, जिसका सूत्रपात महाभारत काल में और विस्तृत प्रवर्त्तन पुराण-काल मे हुआ था, कभी कही दबती, कभी कही उभरती किसी प्रकार चली भर आ रही थी।"[1] वास्तव मे कर्म के तीर्थाटन आदि अर्थशून्य बाहरी विधि-विधानो का खडन करके सिद्धो आदि ने भी मन्त्र, तन्त्र और उपचारो की उलझन में ही जनता को उलझाने का कार्य किया।

उधर दक्षिण भारत में, जैसा कि कहा जा चुका है, वष्णव-धर्म का प्रचार खूब था। आडवार भक्तो के उपरात दक्षिण भारत में ईसा की १०वी शती से १४वीं शती तक कई आचार्य हुए जिन्होंने वैष्णवी-भक्ति-भावना को विशेष प्रश्रय दिया, अपने सिद्धान्त मार्गों की स्थापना की और शंकर के मायावाद का खंडन करके भक्ति को प्रमुखता दी। इन्ही आचार्यों द्वारा वैष्णवी भावना

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल पृ० ६१

का उत्तर-भारत मे पुनरुत्थान हुआ। "भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे-धीरे उत्तर-भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय-क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला।"

ग्यारहवी शती में श्री रामानुजाचार्य ने अपने श्री-सम्प्रदाय की स्थापना की। शास्त्रीय पद्धति से सगुण भक्ति का निरूपण करके इन्होने अपने विशिष्टा-द्वैतवाद सिद्धांत का प्रचार किया। इन्ही की शिष्य परम्परा मे स्वामी रामानन्द हुए हैं जिन्होने विष्णु के रूप राम की प्रतिष्ठा की। ये दक्षिण-भारत से उत्तर-भारत मे रहने लगे और यहा अपने रामानन्दी सम्प्रदाय की स्थापना की। कबीर, रैदास, तुलसीदास आदि इनके अनेक शिष्य हुए। इनका व्यक्तित्व अद्भुत था। इन्होने जात-पात आदि के भेद-भाव को भी भक्ति के क्षेत्र से मिटाने का प्रयत्न किया। इनके द्विमुखी व्यक्तित्व से ही राम के दो रूपो की उपासना का चलन उत्तर-भारत में हुआ। तुलसीदास जी ने विष्णु के अवतार राम को सगुण-भक्ति का आलम्बन बनाया और कबीर आदि संत-भक्तो ने निर्गुण राम की उपासना का प्रवर्त्तन किया। इस प्रकार राम-भक्ति और निर्गुण-संत-धारा भक्ति की दो प्रमुख धारायें मध्ययुग के हिन्दी साहित्य मे नन्ददास से पूर्व प्रवाहित हुई। निर्गुण धारा के निर्माण मे तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियो ने भी योग दिया। "भक्ति के आन्दोलन की जो लहर दक्षिण से आई, उसी ने उत्तर-भारत की परिस्थिति के अनुरूप हिन्दू-मुसलमान दोनो के लिए एक सामान्य भक्ति-मार्ग की भी भावना कुछ लोगो मे जगाई। ..... महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त नामदेव (सं० १३२८—१४०८) ने हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिए सामान्य भक्ति-मार्ग का भी आभास दिया। उसके पीछे कबीरदास ने विशेष तत्परता के साथ एक व्यवस्थित रूप में यह मार्ग 'निर्गुण पथ' के नाम से चलाया।[१]

बारहवी शताब्दी मे दक्षिण मे दूसरे प्रमुख आचार्य निम्बार्काचार्य हुए। ये तेलगू प्रदेश से आकर वृन्दावन मे बस गए थे। 'गीतगोविन्द' के

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल—पृ० ६४

रचयिता जयदेव इन्ही के शिष्य थे। इन्होंने राधाकृष्ण की उपासना का प्रवर्त्तन किया और अपना द्वैताद्वैतवादी सिद्धान्त-मार्ग चलाया। इन्ही से प्रभावित स्वामी हरिदास ने सोलहवी शती मे टट्टी सम्प्रदाय की स्थापना की।

तीसरे प्रसिद्ध आचार्य स्वामी मध्वाचार्य (सन् ११९७—१२७६) ने अपना द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय चलाया। इन्होने भी कृष्ण-भक्ति को विशेष प्रश्रय दिया। राधा-वल्लभी सप्रदाय के प्रवर्त्तक गोसाईं हितहरिवंश (जन्म सन् १५०२ ई०) इन्ही के अनुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य थे।

चौथे आचार्य विष्णुस्वामी हुए जिन्होने अद्वैतवाद को माया से रहित मान कर शुद्धाद्वैतवाद की नीव डाली। कहा जाता है कि ये प्रसिद्ध महाराष्ट्र-भक्त ज्ञानेश्वर महाराज के गुरु थे। वल्लभ सम्प्रदायी ग्रथो से तथा किंवदन्तियो से यह पता चलता है कि श्री वल्लभाचार्य जी विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की उच्छिन्न गद्दी पर बैठे और उन्होने इसी सम्प्रदाय के सिद्धान्तो के आधार पर अपने सिद्धान्तो को निर्धारित किया। यह भी जनश्रुति है कि महाराष्ट्र सन्त श्री ज्ञानदेव, नामदेव, केशव, त्रिलोचन, हीरालाल और श्रीराम विष्णु-स्वामी-मतावलम्वी थे। महाराष्ट्र मे प्रचार पानेवाला भागवत-धर्म, जो पीछे 'वारकरी' सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ और जिसके अनुयायी ज्ञानदेव तथा नामदेव आदि उक्त भक्त थे, विष्णुस्वामी मत का ही रूपान्तर है।

इस प्रकार उपर्युक्त चारो आचार्यो के प्रभाव और प्रेरणा के फल-स्वरूप भक्ति के अनेक सम्प्रदायो—रामानन्दीय सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय (गौडीय सम्प्रदाय), राधावल्लभी सम्प्रदाय, हरिदासी या सखी सम्प्रदाय (टट्टी सम्प्रदाय) तथा श्री वल्लभाचार्य जी का पुष्टि मार्ग आदि—द्वारा भक्ति का विशेषकर कृष्ण-भक्ति का एक सजीव वातावरण समस्त भारत मे उत्पन्न हुआ। इस प्रकार के मध्ययुगीन वातावरण मे परम भक्त नन्ददास के काव्य की सरस स्रोतस्विनी प्रवाहित हुई। इन सम्प्रदायो का एक दूसरे पर प्रभाव पाया जाता है। यद्यपि हमारे कवि नन्ददास के काव्य का विशेष सम्बन्ध वल्लभ-सम्प्रदाय से है, तथापि उपर्युक्त समस्त सम्प्रदायो की सामूहिक देन, भक्ति का वातावरण निर्माण करने का महत्त्व, किसी प्रकार कम नहीं।

नन्ददास के काव्य की पृष्ठभूमि के निर्माण में सब का योग है। हम पीछे कह आए हैं कि चैतन्य-सम्प्रदाय का प्रचार नन्ददास के समय मे श्री रूपगोस्वामी जी के प्रभाव से बहुत हुआ था।

हम यह भी कह आए हैं कि उत्तर भारत मे नाथपथी योगियों का विशेष प्रभाव रहा है, और यद्यपि उनकी यह साम्प्रदायिक विचारधारा नन्द-दास के समय तक आते आते बिल्कुल क्षीण हो गई थी, किन्तु तो भी इधर-उधर कोई-कोई नाथपथी योगी दिखाई दे ही जाता था। इन नाथपंथियों के शून्यवाद और हठयोग तथा निर्गुण ब्रह्मवाद की भावना कबीर आदि संतो मे भी पाई जाती है। निर्गुणवादी सत सगुण और अवतारवाद का खण्डन कर रहे थे। नन्ददास के समय मे निर्गुण और सगुण का एक विवाद सा खडा हुआ था। यही कारण है कि निर्गुण, योग, ज्ञान आदि मार्गों की अनु-पयुक्तता तथा विरोध की अभिव्यक्ति सूरदास, परमानन्ददास तथा नन्ददास आदि सब सगुण भक्तों मे पाई जाती है। नन्ददास का भ्रमरगीत निर्गुण-सगुण के इस सघर्ष को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है।

'बल्लभ दिग्विजय' से पता चलता है कि आचार्य बल्लभ ने समस्त उत्तरी भारत का भ्रमण करके अपने शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त का प्रचार किया था। अनेक स्थानो पर उनका शैवो तथा अन्य मतावलम्बियों से शास्त्रार्थ हुआ था। उस समय बल्लभाचार्य के वैष्णव प्रभाव से पूर्व समस्त व्रज मे शैवो-पासकों का प्रभाव था। शैवो के ही मन्दिर मथुरा आदि सभी स्थानों पर अधिक पाए जाते थे, और उनकी शक्ति की उपासना खूब होती थी। श्री बल्लभाचार्य ने अपने शुद्धाद्वैत सिद्धान्त तथा पुष्टि-भक्ति का खूब प्रचार किया और ब्रज-मण्डल को तो इन्होंने अपने सम्प्रदाय का केन्द्र बना लिया। ब्रज-मण्डल के अतिरिक्त राजपूताना और गुजरात में भी उनका विशेष प्रचार हुआ। इस सम्प्रदाय की विचार-धारा और भक्ति-पद्धति पर हम आगे विस्तार के साथ प्रकाश डालेंगे। इस पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय में ही दीक्षित होकर नन्ददास ने भी अन्य कवियों की भांति तत्कालीन कृष्णलीला-गान से गुजरित वातावरण में अपनी मधुर काव्य-ध्वनि मिलाई।

नन्ददास की प्रामाणिक रचनाएँ

पीछे नन्ददास के जीवनचरित सम्बन्धी जिस सामग्री का हमने अध्ययन किया है, उसमे केवल 'रासपचाध्यायी' तथा 'भाषा-भागवत' का ही उल्लेख हुआ है, अन्य किसी रचना का नाम नही मिलता। फ्रासीसी लेखक गार्सिन द तासी ने अपने ग्रथ 'इस्त्वार द ला लितरेत्योर इंदीन' में नन्ददास के निम्नलिखित चौदह ग्रथो का नाम दिया है, जिन्हे उन्होंने डाक्टर स्प्रेंजर के पुस्तकालय में संग्रह-रूप मे स्वयं देखा था।

१. अनेकार्थमञ्जरी २ नाममाला ३. दशमस्कंध ४. पंचाध्यायी ५. भँवरगीत ६. मानमजरी ७ रासमञ्जरी ८. रसमञ्जरी ९. रूपमञ्जरी १०. जोगलीला ११. रुक्मिणीमङ्गल १२ सुदामाचरित १३. प्रबोधचन्द्रोदय १४. गोवर्द्धन लीला

'शिवसिह सरोज' मे नन्ददास की निम्नलिखित सात रचनाएँ बताई गई हैं—१. नाममाला २. अनेकार्थमाला ३. पचाध्यायी ४. रुक्मिणी-मङ्गल ५. दशमस्कध ६. दानलीला ७. मानलीला।

श्री शिवसिह सेगर का कहना है कि "इन ग्रथो के सिवा इनके हजारो पद भी हैं।" डा० ग्रियर्सन ने अपने ग्रथ 'मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव हिंदुस्तान' में 'सरोज' के ही सात ग्रंथो को दोहराया है। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों (१९०१ ई० से १९२२ ई० तक) मे नन्ददास के निम्नलिखित ग्रथो का उल्लेख हुआ है—

१. अनेकार्थ-भाषा — छन्द सख्या ११६। विषय—शब्दकोष। २. अनेकार्थमंजरी—छन्द संख्या २२८। विषय—पर्यायवाची शब्द-कोष। ३. जोगलीला—पद्य संख्या १३०। ४. दशम-स्कंध भागवत ५. नाम-चिंतामणिमाला। पद्य संख्या ४१। विषय—कृष्ण की नामावली। ६. नाममाला, छन्द सख्या ३०८। विषय—नामो का कोष ७. नाममंजरी।

पद्य संख्या ३८०। विषय—पर्यायवाची शब्दों का कोष। ८. नासिकेत पुराण भाषा (गद्य-ग्रंथ) विषय—नासिकेत की कथा। ९ पंचाध्यायी—पद्य संख्या ३७८। १०. विरह मंजरी—पद्य संख्या १८७। ११. भँवरगीत-पद्य संख्या २१६। १२. रसमंजरी—पद्य संख्या २७०। १३. राजनीति हितोपदेश—पद्य संख्या ३६५०। १४. रुक्मिणी मंगल – पद्य संख्या ९०। विषय-रुक्मिणी हरण की कथा। १५. श्याम सगाई, पद्य संख्या ६३। विषय-कृष्ण-राधा की सगाई १६. मानमंजरी नाममाला। १७. फूलमंजरी। १८. रानीमंगो। १९. कृष्ण मंगल। २०. रूपमंजरी, श्लोक संख्या १९८।

'मिश्रबंधुविनोद' में तीन और रचनाओं का उल्लेख हुआ है, जिनके नाम हैं—१. ज्ञानमंजरी २ हितोपदेश ३. विज्ञानार्थप्रकाशिका (गद्य) इनमें अन्तिम गद्य-रचना किसी संस्कृत ग्रंथ की टीका है जिसे मिश्रबंधुओं ने छत्रपुर में देखा था। प्रथम दो के विषय में कुछ प्रकाश नहीं डाला गया है कि ये ग्रंथ क्या हैं और उन्होंने कहाँ से इनके नाम प्राप्त किए हैं। काकरौली के श्री द्वारिकेश पुस्तकालय में 'रासलीला' की एक हस्तलिखित प्रति है जिसे नन्ददास की रचना कहा जाता है। इनके सिवा 'बाँसुरी लीला' तथा 'अर्धचन्द्रोदय' नाम की दो और पुस्तकें नन्ददास से सम्बन्धित बताई जाती हैं।

अब हम उपर्युक्त नन्ददास की बताई जाने वाली तीस के लगभग रचनाओं की प्रामाणिकता पर विचार करेंगे।

१. रासपंचाध्यायी : इस रचना की प्रामाणिकता में किसी को संदेह नहीं। नन्ददास के जीवन की आधारभूत सामग्री ('सूकरक्षेत्र महात्म्य') में हम इसका उल्लेख दिखा आए हैं। सर्वप्रथम यह रचना 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में भारतेन्दु द्वारा प्रकाशित हुई थी। उसमें इसका नाम केवल 'पंचाध्यायी' है। इसी प्रकार 'शिवसिंहसरोज' एवं नागरी सभा की खोज रिपोर्ट (सन् १९१७-१९) में भी इसका नाम 'पंचाध्यायी' ही मिलता है। इसकी भिन्न-भिन्न प्रतियों में पाठान्तर भी पाया जाता है। छन्द संख्या में भी भेद है। सब से प्राचीन हस्तलिखित प्रति सम्वत् १७८० की मिलती है।

इस प्रति से पता चलता है कि पीछे की प्रतियो मे लोगो ने कुछ छन्दो को और मिला दिया। इस प्रति में लगभग २११ छन्द हैं। बाद की भिन्न भिन्न प्रतियों मे करीब ११८ छन्द और पाए जाते हैं। इस प्राचीनतम प्रति को सभी विद्वान नन्ददास की प्रामाणिक रचना का रूप मानते हैं। 'रासपचाध्यायि' की सभी प्रतियों मे नन्ददास के नाम की छाप पाई जाती है और नन्ददास के अन्य ग्रंथों से यह भाव, शब्द एव शैली का साम्य भी रखती है। अत. यह निर्विवाद रूप से नन्ददास की प्रामाणिक रचना है।

२. रूपमंजरी—'रूपमजरी' को आदि इतिहास लेखक तासी ने नन्ददास की रचना बताया था, किन्तु शिवसिंह सेगर, डा० ग्रियर्सन और रामकुमार वर्मा ने इसका अपने इतिहास-ग्रंथो मे उल्लेख नही किया। नागरी सभा की खोज रिपोर्ट (सन् १९०६) मे इस रचना का केवल नामोल्लेख हुआ है। डा० दीनदयाल गुप्त से पूर्व इस ग्रथ का विवरण और विवेचन किसी इतिहासकार अथवा अनुसंधानकर्ता ने नही किया था। श्री दीनदयाल गुप्त इसके बारे में लिखते है—"ग्रंथ के अध्ययन से इस बात का यथेष्ठ प्रमाण मिल जाता है कि यह ग्रंथ नन्ददास-कृत ही है। ग्रथ के आदि और अन्त मे नन्ददास के नाम की छाप आई है। × × नन्ददास के अन्य ग्रथो के कुछ भाव और शब्दावली इस ग्रंथ मे भी प्रयुक्त हुए है। काव्य की दृष्टि से भाव-साम्य के अतिरिक्त साम्प्रदायिक भाव भी इसमें व्यक्त हुए है, जिनमें माधुर्य-भक्ति के अनुयायी, एक पुष्टिमार्गीय भक्त का परिचय मिलता है और यह कविवर नन्ददास ही हैं। इस ग्रंथ की प्राचीन प्रतियो मे भी नन्ददास का ही नाम मिलता है। इन प्रमाणो के आधार से हमें इस ग्रथ की किसी अन्य लेखक द्वारा लिखित मानने की गुंजाइश नही रह जाती।"[1] वर्तमान सभी समीक्षक इसे प्रामाणिक मानने के पक्ष मे है।

३. रसमंजरी—शिवसिंह सेंगर और सर जार्ज ग्रियर्सन को छोडकर सभी इतिहासकारो ने 'रसमंजरी' को नन्ददास की रचना कहा है। 'रूपमंजरी'

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय--पृ० ३२६—२७

की तरह ग्रंथ के आदि और अन्त मे नन्ददास के नाम की छाप है। 'भक्तमाल' मे नाभादास ने भी नन्ददास के सम्बंध मे उन्हे रस-रीति का कवि कहा है। अत: यह नायिकाभेद का ग्रथ ही उनका रस-रीति का ग्रंथ माना जाना चाहिए। अन्य कई रचनाओ की तरह कवि ने इसे भी अपने 'रसिक मित्र' के कहने से लिखा था। नन्ददास के अन्य ग्रथो से इसका भाव और शैली का साम्य भी पाया जाता है। 'रूपमंजरी' का एक दोहा तो ज्यों का त्यो 'रस-मञ्जरी' में पाया जाता है। इस ग्रथ के मङ्गलाचरण मे व्यक्त भाव भी वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुकूल है, जिससे सिद्ध होता है कि नायिकाभेद की यह रचना नन्ददास ने अपने प्रेममार्ग को समझाने के लिये ही की है। अत: इसके नन्ददास-कृत होने मे कोई सदेह नही।

४ **अनेकार्थमंजरी** — इस पुस्तक के नाम के विषय मे इतिहासकारो में भ्रम फैला रहा है। शुक्ल जी तक ने इस 'अनेकार्थमंजरी' को, जो अनेकार्थ-माला, अनेकार्थ-भाषा, अनेकार्थमंजरी—तीन नामो से प्रसिद्ध है, भ्रम के कारण तीन पृथक् पृथक् ग्रथ समझ लिया। नागरी-सभा की खोजरिपोर्टों में भी अलग अलग रचना बताया गया था। पर वास्तव मे ये तीनो अलग-अलग न होकर एक ही रचना है। यह नन्ददास की प्रसिद्ध पचमजरी ग्रथों में से एक है। इसकी अनेक प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध हुई है। सबकी भाषा-शैली नन्ददास की भाषा-शैली से मिलती जुलती है। हाँ, छन्द संख्या अवश्य सब की भिन्न-भिन्न है। सम्वत् १८३५ की एक हस्तलिखित प्रति में लिपिकार ने क्षेपक की सूचना इस प्रकार दी है —

बीस ऊपरे एक सौ नन्ददास जू कीन,
और दोहरा रामहरि, कीने है जु नवीन।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि १२० छन्दो के पश्चात् सब छन्द किसी रामहरि अथवा अन्य व्यक्ति ने बाद में सम्मिलित कर दिए है। १२०वे छन्द में नन्ददास के नाम की छाप सब प्रतियो मे पाई जाती है। कई प्रतिया इतने ही छन्दो की मिलती है।

५ विरह मंजरी—'पचमजरियो' मे 'विरहमंजरी' को भी सभी वर्तमान इतिहासकार नन्ददास की रचना मानते हैं। इसकी प्राचीनतम प्रति सम्वत् १७२५ की मिलती है। सभी हस्तलिखित प्रतियों मे नन्ददास की छाप पाई जाती है तथा नन्ददास के अन्य ग्रंथो से छद व भाव का साम्य भी मिलता है। 'रसमजरी' के अतिरिक्त नन्ददास की यह रस-रीति की दूसरी रचना है।

६ मानमंजरी—भी 'नाममाला', 'नाममञ्जरी' आदि कई नामो से प्रसिद्ध है। इसी भ्रम के कारण कई इतिहासकारो ने 'नाममाला,' 'नाम-चिंतामणि माला,' 'मानमजरी', 'नाममञ्जरी' इत्यादि इस रचना के कई नामो को अलग-अलग ग्रथ समझा हुआ था। 'अनेकार्थमाला' की भाँति इसकी भी भिन्न भिन्न प्रतियो मे दोहों की संख्या भिन्न-भिन्न मिलती है। किसी मे २७८ छंद हैं, किसी मे २६४, किसी मे २९९ हैं तो किसी मे ३०१ छद पाए जाते हैं। सम्वत् १८३५ की एक प्रति में छंद सख्या ३२५ है, परन्तु इस प्रति में भी, 'अनेकार्थमञ्जरी' की तरह, रामहरि द्वारा कुछ दोहो के बढाने की सूचना है। इसमे रामहरि लिखता है कि नन्ददास ने २६५ दोहे बनाए थे बाकी साठ दोहे मैंने बनाकर मिला दिए हैं। उमाशकर शुक्ल ने भी अपने सम्पादित-ग्रथ 'नन्ददास' मे नन्ददास के २६४ छद ही माने हैं। वास्तव में भावों और शैली के तुलनात्मक अध्ययन से भी २६४ या २६५ छदों से बाद के छदो मे भिन्नता पाई जाती है। २६४ छदो मे व्यक्त भावो का नन्ददास के अन्य ग्रथो में व्यक्त भावो से साम्य पाया जाता है। अतः इस रचना के २६४ या २६५ छदों को ही प्रामाणिक मानना चाहिए।

७. भाषा दशमस्कंध :—नन्ददास की जीवनी के आधारभूत सभी ग्रंथ, जनश्रुति तथा तासी से लेकर आजतक के सभी इतिहासकार इस रचना को नन्ददास-कृत मानते हैं। यह रचना २८ अध्यायो तक ही मिलती है। इस ग्रथ के अध्ययन से पता चलता है कि २९ वें अध्याय के आरम्भ मे ही मानों नन्ददास ने आगे लिखने से अपना हाथ रोक लिया हो। नाथद्वारे

की एक प्रति मे ग्रथ के अन्त मे लिखा मिलता है—

कीनी भाषा नन्द जब सब द्विज मिलि आई ।
कहन लागे अब जिनि करो लागत तुमरे पाई ।
तब ही कह्यो अब नहिं करौ जाहु आपने गेह ।
देहु असीस इहै सबै रहै नन्द नन्दन सों नेह ।

नन्ददास के जीवन-चरित में हमने 'वार्ता' के उद्धरण से दिखाया था कि किस प्रकार नन्ददास ने पण्डितो के आग्रह पर गोसाईं जी के कहने से रासलीला तक की भाषा भागवत लिखित रूप में रहने दी थी । अत. उपर्युक्त उद्धरण से भी यही बात पुष्ट होती है । भाव, शब्द एवं शैली के साम्य तथा नन्ददास की छाप से यह उनकी प्रामाणिक रचना सिद्ध होती है ।

८. **श्याम सगाई** :—नागरी सभा की खोज रिपोर्टों के आधार पर सभी इतिहास-लेखको ने इस ग्रंथ को नन्ददास-कृत लिखा है । जो चार हस्तलिखित प्रतियाँ इसकी मिलती हैं, उन सबमें पाठान्तर है । इनमें जहाँ तीन हस्तलिखित प्रतियो मे नन्ददास के नाम की छाप है, वहाँ एक में नन्ददास के स्थान पर किसी 'तारपाणी' के नाम की छाप है । एक और प्रति मे किसी 'नारायण' कवि की छाप है। डा० दीनदयाल गुप्त का विचार है कि 'तारपाणि' अथवा 'नारायण' छाप बाद की जोडी हुई है । 'श्यामसगाई' की हस्तलिखित प्रतियो की अधिक संख्या में नन्ददास की ही छाप है । इसके आरम्भ में न तो कवि ने वन्दना की है और न अन्त मे ग्रथ के महात्म्य का वर्णन किया है, जैसा कि उसने अपने अन्य स्वतंत्र ग्रंथो मे किया है । इसी से ज्ञात होता है कि यह नन्ददास का कोई स्वतंत्र ग्रंथ नही है । यह उसका एक लम्बा पद मात्र है । सम्पूर्ण रचना मे २८ छन्द हैं ।

९. **सुदामा चरित** :—हम पीछे दिखा आए हैं कि तासी ने नन्ददास की एक रचना 'सुदामा चरित' बताई थी । विचित्र बात यह है कि तासी के पश्चात् रामचन्द्र शुक्ल को छोड़कर किसी ने भी नन्ददास की इस रचना का कोई उल्लेख नही किया । इस रचना के बारे में डा० दीन दयाल गुप्त का मत उद्धरणीय है—"नन्ददास के १ से २९ अध्याय तक उपलब्ध

'दशम स्कध' की भाषा, छन्द, शैली आदि से 'सुदामा चरित' की भाषा शैली बहुत मिलती है। लेखक का अनुमान है कि यह रचना नन्ददास-कृत सम्पूर्ण भागवत भाषा का, जो अब अप्राप्य है, अंश है। इसके अन्तिम छन्दो[1] मे कवि ने दशम स्कध भागवत का उल्लेख भी किया है। नन्ददास-कृत "सुदामा चरित", 'श्याम सगाई' की तरह, कोई स्वतत्र ग्रथ प्रतीत नही होता। इस रचना के आरम्भ में कवि ने कोई वन्दना नही दी। पुस्तक के अन्त मे दो स्थानों पर नन्ददास का नाम आया है। × × × × × × इसकी भाषा शैली के आधार से लेखक इस रचना को नन्दास-कृत ही मानता है।"[2]

१०. गोवर्द्धन लीला :—नन्ददास के इस ग्रथ का उल्लेख तासी महोदय को छोडकर अन्य किसी इतिहास लेखक ने नही किया। श्री ब्रजरत्न दास के पास और नाथद्वारे मे इसकी हस्तलिखित प्रतियां प्राप्त हुई हैं। दोनों प्रतिया प्राय' मिलती हैं। इस रचना के भाव और भाषा का नन्ददास की अन्य रचनाओ से साम्य है। अष्टछाप सम्बन्धी अनेक बातो का उल्लेख इसी बात को प्रकट करता है कि यह रचना अष्टछाप वाले कवि नन्ददास की ही है। रचना के अन्तिम छन्द मे नन्ददास के ही नाम की छाप है। डा० दीनदयाल गुप्त इसे नन्ददास की ही रचना मानते है। जिस प्रकार नन्ददास के 'सिद्धान्त पचाध्यायी' ग्रथ मे 'रास पचाध्यायी' के कुछ छन्द पाए जाते हैं उसी प्रकार 'गोवर्द्धन लीला' में भी 'दशमस्कध भाषा' के कुछ छन्दो का समावेश है। फिर भी इस की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे अभी और खोज की आवश्यकता है।

११. सिद्धान्त पंचाध्यायी :—'रासपचाध्यायी' के साथ नन्ददास की 'सिद्धान्त पंचाध्यायी' की भाषा, शैली एव भाव पर्याप्त मिलते है। बहुत सी उक्तिया तो ज्यो-की-त्यों पाई जाती है। कवि के विचार वल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्तो के अनुकूल ही हैं। सभी आधुनिक इतिहासकार इस ग्रंथ को

१. चरित स्याम को इहि है ऐसो। बरन्यो 'नन्द' जथामति जैसो ।।
दसम स्कंध विमल सुख बानी। सुनत परीछत अति रति मानी ।।

२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—पृ० ३४१

नन्ददास का ही स्वीकार करते हैं। नन्ददास के नाम की छाप भी ग्रंथ मे मिलती है। अतः यह नन्ददास की प्रामाणिक रचना है।

१२. **रुक्मिणी मंगल**:—तासी से लेकर आजतक के सभी इतिहासकारो ने इस रचना को नन्ददास के ग्रंथों मे सम्मिलित किया है। खोज रिपोर्ट (सन् १९१२-१३-१४) में "रुक्मिनी हरण की कथा" नाम से इस ग्रथ का उल्लेख किया गया है। 'रुक्मिणी मङ्गल' की जितनी भी हस्तलिखित प्रतिया प्राप्त हैं, उनमे और खोज रिपोर्ट वाली उक्त रचना मे साम्य पाया जाता है। इस रचना में भी नन्ददास के अन्य ग्रथो से शब्दावली और भाव का साम्य है। श्री उमाशकर शुक्ल और डा० दीनदयाल गुप्त दोनों ने इसे प्रामाणिक रचना माना है।

१३. **भँवर गीत**:—नन्ददास के भ्रमरगीत को प्रायः सभी इतिहासकार प्रामाणिक रचना मानने के पक्ष मे हैं। सभा की खोज रिपोर्ट में भी नन्ददास या 'जन मुकुन्द' नामक लेखक द्वारा रचित भँवरगीत माना गया है। 'जन मुकुन्द' नाम के कारण कुछ दिनों तक इस ग्रथ को नन्ददास की रचना समझने में संदेह प्रकट किया गया। श्री दीनदयाल गुप्त ने 'भँवरगीत' के सम्बन्ध मे कहा है कि उन्होंने भँवरगीत की आठ हस्तलिखित प्रतियां याज्ञिक संग्रहालय मे देखी हैं। उनमे तीन प्रतियों के अन्तिम भाग मे जनमुकुन्द की छाप है, शेष में नन्ददास की। इन सभी प्रतियो में नन्ददास छाप वाली प्रतियां अधिक प्राचीन हैं। वास्तव मे या तो 'जन मुकुन्द' नन्ददास का ही दूसरा नाम है अथवा लिपिकारों ने नन्ददास नाम के स्थान पर 'जनमुकुन्द' जोड़ दिया है। परन्तु इस बात से भी समाधान नही हो सकता, क्योकि 'जन मुकुन्द' नन्ददास का नाम कहीं भी नही मिलता। श्री बल्लभाचार्य के एक सेवक मुकुन्ददास अवश्य थे, इसका पता 'वार्ता साहित्य' से लगता है। ये कवि भी थे। जनमुकुन्द, प्रभुमुकुन्द तथा मुकुन्दमाधव नाम की छाप से इनके कुछ पद मिलते हैं। वास्तव में बाद के किसी बल्लभ सम्प्रदायी भक्त ने ही सभवतः भ्रमरगीत की कुछ प्रतियों में नन्ददास के स्थान पर जनमुकुन्द का नाम रख दिया।

नन्ददास की 'रासपचाध्यायी' व 'भ्रमरगीत' मे कई स्थानो पर शब्दो व भावों का बिल्कुल साम्य है जिससे सिद्ध होता है कि यह नन्ददास की ही रचना है। भँवरगीत में पुष्टिमार्गीय भक्ति की ही स्थापना होने के कारण इस बात की और भी पुष्टि होती है कि यह रचना पुष्टिमार्गीय भक्त नन्द-दास की ही है। सभी प्रतियो की छन्द सख्या बराबर है। पाठ भी सब में समान पाया जाता है। भाषा-शैली भी आद्योपान्त एक सी ही है, जिससे सिद्ध होता है कि नन्ददास की इस रचना मे कोई क्षेपक नही। श्री दीनदयाल गुप्त का मत है कि क्योकि इस रचना के आरम्भ मे कोई वदना नही है, अत. यह किसी बडे ग्रंथ का एक अग है। परन्तु ऐसा मानना हम व्यर्थ ही समझते हैं। बेशक इसमे आरम्भ मे मगलाचरण नही है, किन्तु अन्त मे 'रासपचाध्यायी' की तरह इस लीला का महात्म्य व्यक्त किया गया है। 'विरहमजरी' आदि एक दो और रचनाओ मे कवि ने आरम्भ मे मगलाचरण न देकर अन्त मे केवल महात्म्य ही दिया है।

१४. दान लीला :—तासी के बाद के सभी इतिहासकारो ने नन्द-दास की इस रचना का उल्लेख किया है। नागरी सभा की खोज रिपोर्टों में इसका कोई उल्लेख नही मिलता। पता नहीं इतिहासकारो ने बिना देखे ही किस आधार पर इस रचना को नन्ददास की बताया है। इसकी एकाध जो भी प्रति मिलती है, उसमे नन्ददास की छाप के स्थान पर दासबलि नाम अकित है।

मिश्रबंधुओ ने अपने 'विनोद' मे बलिदास नामक एक कवि का उल्लेख किया है और उसकी रचना 'दान लीला' बताई है। किन्तु अन्य किसी इतिहास-कार ने बलिदास नामक किसी कवि का उल्लेख नही किया। नन्ददास की रचनाओ से इस रचना का न भाव-साम्य पाया जाता है न भाषा-शैली का साम्य। श्री उमाशकर शुक्ल तथा दीनदयाल गुप्त दोनों इसे नन्ददास की रचना नही मानते। श्री व्रजरत्नदास का भी कथन है —"नन्ददास के प्रामाणिक ग्रथो का सा काव्य कौशल, भाषा सौष्ठव तथा सारस्य नाम को भी नही है,

वरन् भाषा शैथिल्य, भावहीनता, नीरसता ही अधिक है।"[1] हो सकता है कि नन्ददास ने दान लीला' नाम की कोई रचना की हो, किन्तु उसकी अभी खोज अपेक्षित है।

१५. जोग लीला—तासी ने 'जोग लीला' को नन्ददास की रचना बताया था। परन्तु शिवसिंह सेंगर और जार्ज ग्रियर्सन ने उसका उल्लेख नहीं किया। नागरी-सभा की खोज रिपोर्ट (१९०६—७—८) में नन्ददास-कृत 'जोग लीला' का उल्लेख है। इसी के आधार पर डा० रामकुमार वर्मा ने अपने इतिहास मे इसको नन्ददास की रचनाओं मे गिना है। किन्तु इसके अतिरिक्त शुक्ल जी आदि किसी अन्य इतिहास लेखक ने 'जोग लीला' के नन्ददास-कृत होने का कोई उल्लेख नही किया।

इस रचना की अधिकाश प्राचीन प्रतियों में लेखक का नाम 'उदय' दिया हुआ है। श्री ब्रजरत्नदास वाली प्रति की केवल पुष्पिका में नन्ददास का उल्लेख है। किन्तु उसका भी प्रथम पद इस प्रकार है:-

एक समैं मम मित्र मोहि आग्या यह दीनी।
याही तें मति उकति जोग लीला तब कीनी॥
शुक सनकादिक सारदा नारद सेस महेस।
देहु बुद्धिवर उदै उर अच्छर उकति बिसेस॥

उपर्युक्त पक्तियो में "देहु बुद्धि बर उदै उर" तथा रचना के अन्तिम पद में "बसौ उदै उर में सदा" से उदय कवि की छाप स्पष्ट है। नागरी सभा की सन् १९०१ की खोज रिपोर्ट मे उदय की प्राय: २०—२५ छोटी-छोटी रचनाओ का पता चला है, जिनमे 'जोगलीला' भी है। इस खोज रिपोर्ट मे उदय की 'जोगलीला' के जो उदाहरण दिए गए हैं, उनका उपर्युक्त हस्तलिखित 'जोग लीला' की प्रतियो से साम्य पाया जाता है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने भी 'उदय' उपनाम के किसी कवीन्द्र कवि द्वारा रचित एक ग्रथ 'जोग लीला' बताया है।[2] 'मिश्रबधु विनोद' मे भी 'उदय' कवि की जोगलीला' का

१. नन्ददास-ग्रंथावली (सम्पादक श्री ब्रजरत्न दास) पृ० ३६।
२. देखो हिंदी साहित्य का इतिहास पृ०—२७०

उल्लेख मिलता है। । इस आधार पर यही कहा जा सकता है कि 'जोगलीला' नन्ददास की रचना नहीं है।

श्री उमाशंकर शुक्ल ने भी इसे नन्ददास की रचना नही माना। वास्तव में नन्ददास की रचना का भ्रम उत्पन्न करने वाले दो कारण हैं। एक तो इस ग्रंथ के प्रारम्भ मे 'रासपंचाध्यायी' आदि नन्ददास की कुछ अन्य रचनाओं की तरह किसी मित्र की प्रेरणा या आज्ञा से ग्रंथ रचना का उल्लेख है। दूसरे 'जोगलीला' के भाव और शैली 'भ्रमरगीत' से बहुत-कुछ मिलते हैं। भाषा भी नन्ददास की शब्दावली से बहुत प्रभावित है। श्री व्रजरत्न दास का इस सम्बध में कथन है—"यह रचना उदय की हो या केशोदास की हो (एक प्रति की पुष्पिका मे 'इति श्री जोगलीला केशोदास कृत सम्पूर्णम्' लिखा है, इसपर तर्क करने की यहाँ आवश्यकता नही है, पर यह रचना नन्ददास की नही है, ऐसा प्राय निश्चित रूप से कहा जा सकता है। यद्यपि यह रचना नन्ददास जी के 'भ्रमरगीत' के अनुकरण पर बनी है, पर 'भ्रमरगीत' मे अनुरागमयी विरह-विधुरा गोपियो की जो कातरोक्तियाँ हैं वे करुणरस से ओत-प्रोत हैं, और इसी कारण वे अधिक मर्मस्पर्शी हो गई हैं। × × × माता के सामने श्री राधाजी का जोगिन बन कर एक ज्ञात या अज्ञात योगी से इस प्रकार वाद विवाद करना, क्या लड़ना झगडना कहें, अनुचित ज्ञात होता है और नन्ददास जी से उत्कृष्ट भक्त-कवि के योग्य नही हो सकता।"[1] श्री दीनदयाल गुप्त भी इस रचना को १८वी शती के अंत मे होने वाले कवि उदयराम की मानते हैं। 'जोगलीला' की इन प्रतियो मे कुछ शब्द फारसी के भी ऐसे आए हैं जिनका प्रयोग नन्ददास ने कही नही किया।

१६. मानलीला :—शिवसिह सेंगर के ही कथन के आधार पर इतिहासकारो ने इस रचना का नन्ददास के ग्रथों मे उल्लेख कर दिया। संभवत: किसी ने इस ग्रंथ को देखा नही। इसकी कोई प्रति नही मिलती। नन्ददास की 'मानमञ्जरी' मे दूती द्वारा मानिनी राधा के मनाने और उसको मना कर कृष्ण के पास ले जाने की कथा है। नन्ददास

१. नन्ददास ग्रंथावली—नागरी प्रचारिणी सभा पृ०—३४

के कुछ फुटकर पद भी इस विषय के मिलते हैं। हो सकता है कि नन्ददास का 'मानमञ्जरी' ग्रंथ ही मानलीला के नाम से भी पहले माना जाता हो। नागरी सभा की खोज रिपोर्ट मे भी इसका कोई पता नही मिलता। अत. अप्राप्य होन के कारण तथा 'मानमञ्जरी' से पृथक् रचना होने का कोई कारण न होने से इस नाम की कोई अलग रचना नही मानी जा सकती।

१७. फूलमंजरी—किसी भी इतिहासकार ने इस ग्रथ का उल्लेख नही किया है। सभा की खोज रिपोर्ट (१९२९) मे इस रचना को अवश्य नन्ददास-कृत कहा गया है। परन्तु जिस प्रति के आधार पर इसे नन्ददास-कृत कहा गया है, उसमे नन्ददास के नाम की छाप कही नही मिलती। केवल पुष्पिका में "इति श्री फूलमञ्जरी नन्ददास किरत सम्पूर्ण समापतं" दिया है। नन्ददास की पचमञ्जरी वल्लभ सम्प्रदाय मे बहुत प्रसिद्ध है। इस छटी मञ्जरी का कोई उल्लेख कही नही हुआ। इस सम्बध मे श्री ब्रजरतन दास का कथन है —"फूलमञ्जरी की जो प्रति हमारे संग्रह मे है, उसका लिपि-काल स० १७९३ वि० है और यह नन्ददास की अन्य कृतियो के बीच मे लिखी गई है, पर इसमें आदि या अत मे कही नन्ददास जी का नाम नही आया। × × × × × डा० याज्ञिक की प्रति के अंतिम ३२वे दोहे मे किसी परसोतम कवि की छाप है। × × × × ऐसी अवस्था मे इसे नन्ददास जी कृत न मानना ही उचित है।"

नन्ददास की शैली की नकल करने वाले उदय आदि कई कवि हुए हैं। फूलमञ्जरियाँ भी कई लेखकों की पाई जाती हैं। डा० याज्ञिक के संग्रहालय में जो दो प्रतियाँ भिन्न भिन्न कवियो की मिलती है, उनके दोहे नागरी सभा की खोज रिपोर्ट मे उद्धृत दोहो से मिलते जुलते हैं। 'मिश्रबंधुविनोद' मे एक कवि पुरुषोतम का उल्लेख है, जो राधावल्लभ सम्प्रदाय के थे और जिन्होने 'फूलमञ्जरी' की रचना की थी। वास्तव में नन्ददास की शैली से मिलती जुलती शैली देखकर लिपिकार ने पुरुषोतम अथवा अन्य कवि की 'फूलमञ्जरी' को नन्ददास-कृत लिख दिया है। इस रचना को नन्ददास-कृत कदापि नही माना जा सकता।

१८. राजनीति हितोपदेश :—नागरी सभा की खोज रिपोर्ट सन् १९०५ मे ३६५० पद्य सख्या का एक ग्रंथ नन्ददास कृत-बताया गया है। मिश्रबंधुओ ने भी 'हितोपदेश' नामक रचना का केवल नामोल्लेख किया है। शुक्ल जी भी अपने इतिहास में लिखते हैं—"दो ग्रंथ इनके लिखे और कहे जाते हैं—हितोपदेश और नासिकेतपुराण (गद्य मे)।" खोज रिपोर्ट ही के आधार पर डा० रामकुमार वर्मा ने इसका उल्लेख किया है। वास्तव मे इतना बडा राजनीति का ग्रथ अपने इष्टदेव का ही कीर्तन करने वाले नन्ददास की रचना प्रतीत नही होता। जो प्रति इसकी मिली है वह बहुत आधुनिक है। डा० दीनदयाल गुप्त और श्री व्रजरत्न दास का कहना है कि या तो यह ग्रंथ किसी वृन्दावन वाले स्वामी नन्ददास का है अथवा 'हितोपदेश' लिखने वाले किसी दूसरे लेखक का। इसमे जो पद पाए जाते है, वैसे पद नन्ददास ने बल्लभ-सम्प्रदाय मे आने से पूर्व गाए थे। किंतु हितोपदेश के काव्य-कौशल से विदित होता है कि यह किसी प्रौढ कवि की रचना है। बल्लभ-सम्प्रदाय मे सम्मिलित होने से पूर्व नन्ददास इस प्रकार की रचना नही कर सकते थे।

१९ नासिकेत-भाषा या नासिकेत पुराण-भाषा :—खोजरिपोर्ट १९०९-१० और 'मिश्रबंधु विनोद' मे यह नन्ददास-कृत रचना मानी गई है। इसी के आधार पर इतिहासकारो ने नन्ददास के ग्रंथो में इसका उल्लेख किया। किन्तु इसकी जो तीन हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त होती हैं उनमे नन्द-दास का कही रचयिता के नाम से उल्लेख नही है। ग्रंथ के भीतर पाठ में स्वामी नन्ददास का कई बार उल्लेख हुआ है। आरम्भ मे—

१. नन्ददास जी आपणा सिखा नै कहतु है।

२. सु अबें स्वामी नन्ददास जी आपणा मित्रा ने भाषा करि कहतु है।

३ सिखु पूछतु है गुसाई जु मेरे अभिलाषा नासिकेतु सुणिवे को बहोतु है।

इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि किसी गोस्वामी नन्ददास जी ने नासिकेतु-पुराण भाषा मे अपने शिष्य या मित्र को सुनाया था, जिसे किसी तीसरे व्यक्ति ने पुस्तक का रूप दिया है। इसकी भाषा भी अत्यत शिथिल है।

नन्ददास के गद्य में रचना करने का भी कोई प्रमाण नही मिलता। डा० दीनदयाल गुप्त का भी कथन है कि यह रचना किसी और ही लेखक की है। 'भक्तमाल' में भी नन्ददास नामक दो व्यक्तियो का उल्लेख हुआ है। एक अष्टछाप वाले नन्ददास और दूसरे बरेली वाले नन्ददास। 'मिश्रबंधु-विनोद' में भी एक वृन्दावन वाले नन्ददास का उल्लेख है। कह नही सकते कि यह किसकी रचना है, किन्तु यह निश्चित है कि यह अष्टछाप के कवि नन्ददास की रचना नही।

२०. रासलीला:—रासलीला की एकाध हस्तलिखित प्रति मिलती है। किन्तु भाषा-शैली तथा भाव नन्ददास की रचनाओं से नही मिलते। यह बहुत शिथिल और नीरस रचना है। उमाशंकर शुक्ल ने भी इसे नन्ददास की रचना नही माना है। नन्ददास ने 'रासपंचाध्यायी', 'सिद्धान्तपंचाध्यायी' मे रासलीला का चित्रण किया है, तो फिर यह रास-लीला नाम से और अलग रचना वे क्यो करते? इस रासलीला मे दो स्थानों पर कवि के नाम की छाप है, किन्तु दोनो जगह 'नन्ददास दयाल' लिखा है। अत यह रचना किसी अन्य नन्ददास या 'दयाल' नाम के कवि की ही हो सकती है।

रानी-मगो, ज्ञानमंजरी, अर्थचन्द्रोदय, बासुरी लीला, विज्ञानार्थ-प्रकाशिका, प्रबोधचन्द्रोदय आदि रचनाओ की कोई प्रति प्राप्य नहीं है। प्रमाण-अभाव में इन्हे नन्ददास की रचनाएँ कसे माना जाये? खोज रिपोर्ट सन् १९२९ मे सूचित 'कृष्णमगल' भी बीस पक्तियो का एक पत्र मात्र है, जो नन्ददास का नही माना जा सकता।

नन्ददास की पदावली:—नन्ददास के फुटकर पद भी पाए जाते हैं। यह तो सर्वमान्य है कि नन्ददास उच्च कोटि के गवैये थे। अष्टसखान के रूप मे वे बड़े भारी कीर्तनकार भी थे। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिक सेवा-विधि के अनुसार इन्होने पदो की अवश्य रचना की होगी। वल्लभ सम्प्रदायी ग्रंथों मे कई ग्रथ कीर्तन-सम्बधी पदों से युक्त हैं। उनमे नन्ददास के भी अनेक पद सम्मिलित हैं। नन्ददास के कुछ पदो को छोड़कर उनके पदों का कोई प्रामाणिक सग्रह नही मिलता। इन

पदों की संख्या भी निश्चित नहीं है। शिवसिंह सेंगर ने तो "हजारों" ही कह दिया था। वास्तव में यह कहना कठिन है कि नन्ददास के कहे जाने वाले पदों में कितने प्रामाणिक हैं, क्योंकि उनके क्षेपक अंशों को किसी प्रकार भी अलग नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन से निश्चित हुआ कि केवल १३ रचनाएँ—

१. रासपंचाध्यायी २. रूपमञ्जरी ३. रसमञ्जरी ४. अनेकार्थ-मंजरी ५. विरहमंजरी ६. मान मंजरी या नाममाला ७. दशम स्कंध-भाषा ८. श्यामसगाई ९. सुदामा चरित १०. गोवर्द्धन लीला ११. सिद्धान्त-पंचाध्यायी १२. रुक्मिणी मङ्गल १३. भँवर गीत तथा दो सौ के लगभग फुटकर पद ही नन्ददास की प्रामाणिक रचनाएँ हैं।

रचनाओं का कालक्रम:—नन्ददास की किसी भी रचना में रचना-काल का उल्लेख नहीं हुआ है। अतः उनके ग्रंथों का सही काल-क्रम-निर्धारण टेढ़ी-खीर ही है। डा० दीनदयाल गुप्त ने "ग्रंथों की रचना-शैली, भाव-गांभीर्य और भाषा-विचार के आधार पर" नन्ददास के ग्रंथों को कालक्रमानुसार निम्नलिखित क्रम में रखा है—१. रसमंजरी २ अनेकार्थमंजरी ३. मान-मंजरी ४. दशमस्कंध ५. श्यामसगाई ६. गोवर्द्धन लीला ७. सुदामा-चरित्र ८. विरह-मञ्जरी ९. रूपमंजरी १०. रुक्मिणी-मंगल ११. रास-पंचाध्यायी १२. भँवर गीत १३. सिद्धांतपंचाध्यायी।

परन्तु 'रसमंजरी' की रचना नन्ददास की पहली रचना नहीं मानी जा सकती। इसके आरंभ में नन्ददास ने स्पष्ट लिखा है कि यह रचना मित्र के आग्रह पर लिखी है। ये 'रसिक मित्र' नन्ददास को आरंभ में नहीं मिले थे। साथ ही प्रथम दोहे—

रूप प्रेम आनन्द रस, जो कुछ जग में आहि।
सौ सब गिरिधर देव कौ, निधरक बरनौ ताहि ।।७।।

के बाद की पंक्तियाँ :—

एक मीत हम सो अस गुन्यो। मै नायिका-भेद नहीं सुन्यो ।।

स्पष्ट रूप से सिद्ध करती हैं कि इस रीति-शास्त्र के ग्रंथ से पूर्व नन्ददास कृष्ण-प्रेम के ग्रंथ अवश्य लिख चुके थे। साथ ही 'रूपमंजरी', 'विरह-मंजरी', 'दशमस्कंध' की तरह 'रसमंजरी' के छन्द और रचना-शैली पर तुलसी के 'रामचरितमानस' का प्रभाव स्पष्ट है। 'रामचरितमानस' की रचना तिथि संवत् १६३१ है। अतः ये सब रचनाएँ आरंभ की नहीं मानी जा सकती। जिस ढंग पर 'रसमंजरी' लिखी गई है, उस ढंग पर नायिका-भेद का ग्रंथ कोई कवि सब से पहले लिखता, यह न बुद्धिसंगत लगता है, और न उस समय की कवि-परम्परा के अनुकूल। अतः डा० दीनदयाल गुप्त जी का क्रम हमें ग्राह्य नहीं है।

'वार्ता साहित्य' से यह पता लगता है कि नन्ददास वल्लभ सम्प्रदाय में जाने से पूर्व पद-रचना किया करते थे। उनके राम-भक्ति, हनुमान और राम-कृष्ण के अभेदत्व के पद उनकी आरंभिक रचनाएँ हैं। इन पदों में लेखक की भाषा-शैली और कवित्व-शक्ति अपनी आरंभिक अवस्था में ही हैं। अन्य पद जो कृष्ण-भक्ति तथा प्रेम-वर्णन से सम्बंधित हैं, कवि ने समय-समय पर अपने जीवन के अन्त तक रचे होंगे। इनमें जो पद काव्यत्व की दृष्टि से प्रौढ़ नहीं हैं, उन्हें हम आरंभिक, और प्रौढ पदों को बाद की रचना मान सकते हैं।

सूर से साहित्य-शास्त्र की शिक्षा लेने के पश्चात्, हो सकता है, कवि ने अपने घर लौटने पर भाषा और साहित्य-शास्त्र का विशेष अध्ययन किया हो, और 'अनेकार्थ मंजरी' और 'नाममाला' जैसी रचनाएँ इसी समय की हों।

'सुदामा चरित' की ये पंक्तियाँ—"चँवर चारु ढोरत ह्वै ठाढी। पिय मुख निरखति अति रति बाढी।" तुलसी दास के जनकवाटिका के राम-सीता मिलन की पंक्तियों से बिल्कुल मिलती हैं। अतः हम नन्ददास की 'सुदामा चरित', दशमस्कंध', 'रसमंजरी', 'विरह मञ्जरी', 'रूपमंजरी' आदि रचनाओं को संवत् १६३१ से १६३५ के लगभग की रचनाएँ मानते हैं। नन्ददास के प्रौढ़तम ग्रंथ 'स्याम-सगाई', 'रुक्मिणी मङ्गल', 'रास पंचाध्यायी', 'भँवर गीत' और 'सिद्धांत पंचाध्यायी' इसके बाद संवत् १६३५ से १६३९ तक के समय में लिखे गए होंगे।

बल्लभसम्प्रदाय—शुद्धाद्वैतदर्शन और पुष्टिमार्ग

हम पीछे कह आए हैं कि विक्रम की १६वी शताब्दी में बल्लभाचार्य ने ही उत्तरी-भारत मे कृष्ण-भक्ति का विशेष रूप से प्रवर्त्तन किया। ये विष्णु-स्वामी की ही रुद्र परम्परा मे हुए है, और उनकी उच्छिन्न गद्दी पर बैठे। विष्णुस्वामी के सिद्धातो से ही प्रेरणा लेकर उन्होने शुद्धाद्वैतदर्शन तथा प्रेम-लक्षणा भक्ति के मार्ग—पुष्टि मार्ग की व्यवस्थित रूप में स्थापना की। बल्लभा-चार्य के पिता श्री लक्ष्मण-भट्ट भी परम कृष्ण-भक्त थे। अत पिता के धार्मिक सस्कारो का बल्लभाचार्य पर विशेष प्रभाव पडा। बल्लभ बडे मेधावी थे। तेरह वर्ष की अल्पता आयु मे ही उन्होने वेद, वेदाङ्ग, पुराण आदि शास्त्र-ग्रंथों का अध्ययन कर लिया था।

सम्प्रदाय की स्थापना और प्रचार :-कुछ समय बाद युवा होने पर बल्लभ ने देश का भ्रमण आरम्भ किया। सर्वप्रथम दक्षिण के राजा कृष्णदेव-राज के सम्मुख विजयनगर मे इन्होने पण्डितों की बड़ी भारी सभा मे शास्त्रार्थ करके शकर के मायावाद का खडन किया। उसी समय इनका आचार्यत्व सिद्ध हुआ और इन्हे विष्णुस्वामी की गद्दी प्राप्त हुई। स्वयं राजा ने इनका बहुत सम्मान किया। इसके पश्चात् तो अपने शुद्धाद्वैत का झडा लेकर ये स्थान-स्थान पर प्रचार के लिये निकल पडे। इन्होंने सम्पूर्ण भारतवर्ष के धार्मिक स्थानों, तीर्थों आदि की कई यात्राए की। आचार्य जी की ये यात्राएँ बल्लभ सम्प्रदाय मे पृथ्वी-प्रदक्षिणाएँ कहलाती हैं। सवत् १५४६ मे आचार्य जी व्रज मे आए और गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथ जी के एक छोटे से मन्दिर की स्थापना की। इसी समय से बल्लभ सम्प्रदाय की व्यवस्थित रूप में स्थापना समझनी चाहिए। फिर व्रज-प्रदेश मे अनेक स्थानो पर पर्य्यटन और विद्वानो से शास्त्रार्थ करके अपने मत तथा वैष्णवी-भक्ति का प्रचार किया। उनके एक शिष्य पूरनमल खत्री के धन से उन्होने श्री गोवर्द्धन पर वही श्रीनाथ जी का

एक बड़ा भारी मन्दिर बनवाया। आचार्य जी ने अनेक लोगों को अपने सप्रदाय मे दीक्षित किया। ब्रज-भूमि को अपने सम्प्रदाय का केन्द्र बनाया। अनेक स्थानो पर श्रीनाथ जी के मन्दिरों की स्थापना की।

'वल्लभदिग्विजय' में एक प्रसंग इस प्रकार आता है कि सिकन्दर लोदी के अत्याचारी कर्मचारियो ने एक बार मथुरा में विश्रान्त घाट पर एक यन्त्र लगा दिया और यह घोषणा की कि जो भूल से भी उसके नीचे होकर निकल जाता है, वह मुसलमान हो जाता है। वल्लभाचार्य ने इस बात को देखकर नगर के द्वार पर ऐसा यंत्र बाधा जिसके नीचे से गुजरने के प्रभाव से मुसलमान बने हिन्दू फिर हिन्दू हो सकते थे। इस कथा से ज्ञात होता है कि आचार्य जी ने हिन्दू-धर्म के उस सकटकाल में मुसलमानो से हिन्दू-धर्म को बचाने का कितना स्तुत्य कार्य किया। उन्होने जबरदस्ती मुसलमान बनाए गए हिन्दुओं को हिन्दू-धर्म में वापिस लेने का कार्य किया, तथा भक्ति के लिए सभी जातियो के लोगो को समान भाव से प्रोत्साहित किया। हिन्दुओ मे अपने परम्परागत शास्त्र-ग्रथो, अपने परम्परागत वैष्णव-धर्म, अपने अवतारों और धार्मिक-विचारों के प्रति आस्था, श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न किया।

"दो-सौ बावन वैष्णवो की वार्ता" मे बाबा वेणु की एक वार्ता आती है, जिससे पता चलता है कि वल्लभाचार्य के समय में काशी से प्रयाग तक के गाँवों में सर्वत्र देवी की पूजा होती थी। उस समय वैष्णव-देवताओं के नामलेवा बहुत कम थे। जैसा की पीछे धार्मिक पृष्ठभूमि में भी बताया जा चुका है कि उत्तर-भारत के प्रायः सभी प्रमुख नगरो में शैव, शाक्त एवं शाङ्कर मतों का प्राबल्य था। वल्लभाचार्य के जीवन से ज्ञात होता है कि उन्होने समस्त उत्तरी-भारत का पर्य्यटन करके, अपनी अनेक ऐतिहासिक यात्राओ में स्थान-स्थान पर अवैष्णव-मतावलम्बियों से शास्त्रार्थ करके अपने मत का डंका बजाया था। उन्होंने समस्त भारत की तीन ार यात्रा करके मायावादियो एवं अवैष्णवों को पराजित करके वैष्णव-मत का अनुयायी बनाया।

वैष्णव-धर्म के प्रचार में स्वामी रामानन्द से भी अधिक कार्य

वल्लभाचार्य ने किया है। इनके पश्चात् भी वल्लभ सम्प्रदाय की परम्परा बहुत समय तक चली। जैसा कि कह आए हैं, उन्होंने श्री कृष्ण की लीला-भूमि ब्रज के अन्तर्गत गोवर्द्धन को अपने सम्प्रदाय का प्रमुख केन्द्र और श्रीनाथ जी को प्रधान देव निश्चित किया। ब्रज भूमि से उनका प्रभाव फैलता-फैलता समस्त उत्तरी-भारत में फैल गया। ब्रज-मण्डल के अतिरिक्त गुजरात और राजपुताना में भी इस सम्प्रदाय का विशेष प्रसार हुआ। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने अपने शुद्धाद्वैतदर्शन और भक्ति-मार्ग पर अनेक ग्रंथो की रचना करके अपने सिद्धांतों का बडी विद्वत्ता के साथ प्रतिपादन किया।

श्री वल्लभाचार्य जी के गोलोकवास (सं० १५८७) के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री गोपीनाथ जी आचार्य हुए, और उन्होने भी यथा-शक्ति वैष्णव-धर्म का प्रचार किया। उनके प्रचार का मुख्य क्षेत्र गुजरात प्रान्त था। परन्तु दुर्भाग्यवश २८ वर्ष की थोडी-सी आयु में ही इनका देहान्त हो गया। इनके पश्चात् लगभग सवत् १५९६ मे वल्लभाचार्य जी के द्वितीय पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी गद्दी पर वैठे।

वल्लभाचार्य के पश्चात् श्री विट्ठल नाथ ने भी अपने पिता की भाँति यात्राएँ करके अगणित व्यक्तियों को अपना अनुयायी बनाया। इन्होंने सम्प्रदाय के वैभव को बहुत वढाया। इन्होने भी अनेक ग्रंथो की रचना करके अपने सम्प्रदाय के दार्शनिक-पक्ष की पुष्टि और व्याख्या की। ठाकुर जी के सेवा-मण्डन की यथोचित व्यवस्था का श्रेय इन्ही को है। इन्होंने ही कृष्ण-लीला से सम्बन्धित अनेक आकर्षक उत्सवो का प्रचलन किया। इस सम्प्रदाय के शिष्यों की वित्तजा-भक्ति के कारण बडे व्यय-साध्य सेवा-विधान प्रचलित हो गए। मन्दिरों का वैभव, उत्सवो की चमक-दमक, गान-वाद्य की रोचकता और भोग शृंगार का आकर्षण इस साम्प्रदायिक प्रचार के मुख्य साधन बने। इनके द्वारा प्रारंभ में तो पुष्टि-सम्प्रदाय का अवश्य व्यापक प्रचार एवं प्रसार हुआ। किन्तु बाद मे यही भोग-विलास से पूर्ण सेवा-विधि इस सम्प्रदाय व इसके विषयी-सेवको के पतन का कारण बनी।

गोसाईं विट्ठल नाथ जी की एक और देन इस सम्प्रदाय में यह है कि उन्होंने सेवा व्यवस्था की उन्नति के साथ सेवक कवियो, संगीतज्ञों, चित्रकारों, वाद्य-विशेषज्ञो, पाक-शास्त्रियो एवं अन्य कलाकारों का भी संगठन किया और उनकी कलाओं को सम्प्रदाय की उन्नति और प्रचार मे लगा दिया। अष्टछाप के निर्माण मे भी यही हेतु था। श्री विट्ठल नाथजी के भी अनेक भक्त हुए जिन मे २५२ वैष्णव भक्त सम्प्रदाय मे विशेष प्रसिद्ध हुए। बल्लभाचार्य की तरह गोसाईं विट्ठल नाथ जी ने भी पुष्टि-भक्ति का मार्ग सभी जातियों के व्यक्तियों के लिए खोले रखा। अकबर बादशाह और उसके वजीर तथा सामंत बीरबल, मानसिंह आदि उनका बड़ा सम्मान करते थे। 'वार्ता साहित्य' से पता चलता है कि बीकानेर के राजा पृथ्वीसिंह, राजा आशुकरण, रानी दुर्गावती आदि कई राजा भी उनके शिष्य हो गये थे।

इस प्रकार बल्लभ सम्प्रदाय का प्रभाव खूब बढ़ा। गोस्वामी विट्ठल नाथ के पश्चात् भी गोस्वामी गोकुल नाथ तथा गो० हरिराय जी उच्च कोटि के आचार्य हुए। गोस्वामी विट्ठल जी के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री गिरिधर जी इस सम्प्रदाय के मुख्य आचार्य हुए, और उन्होंने भी अपने सम्प्रदाय का प्रभाव बढ़ाने में योग दिया। परन्तु सम्प्रदाय की विशेष प्रतिष्ठा बढ़ाने, उसके मर्म को समझाने का असली कार्य विट्ठल नाथ जी के पश्चात् गोस्वामी गोकुल नाथ जी द्वारा और गोस्वामी गोकुल नाथ के पश्चात् श्री हरिराय जी द्वारा सम्पन्न हुआ। गोस्वामी हरिराय जी संस्कृत, गुजराती तथा ब्रज भाषा के बहुत बड़े विद्वान थे। इन्होंने न केवल "८४ एवं २५२ वैष्णवन की वार्ताओ" पर 'भावना' लिखी, अपितु संस्कृत, गुजराती तथा ब्रज भाषा के भक्ति-ग्रंथो का भी निर्माण किया और अनेक टीकाएँ व व्याख्याएँ भी लिखी। निस्संदेह ये भी बल्लभ सम्प्रदाय के बड़े उन्नायक थे।

मध्यकाल के इस विख्यात और प्रभावशाली सम्प्रदाय मे ही हमारे कवि दीक्षित हुए थे। अतः नन्ददास के दार्शनिक विचार बल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार ही हैं। नन्ददास के दार्शनिक विचारो के अध्ययन से पूर्व बल्लभ सम्प्रदाय के शुद्धाद्वैतवाद का परिचय देना आवश्यक है।

पीछे हम लिख आए है कि वैष्णवी भावना इस देश में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। महाभारत के समय मे ही नारायणीय एव वासुदेव सम्प्रदायों के रूप मे इस वैष्णवी भावना का प्रचार था। विष्णु, नारायण, राम, कृष्ण इत्यादि कई देवता उपासना के आलम्बन थे। इसी वैष्णवी भावना के अन्तर्गत बाद में पचदेवों की उपासना प्रचलित हुई। वैदिक काल से बौद्ध काल तथा मध्ययुग में कई रूपों मे वैष्णव-धर्म का उत्थान-पतन चलता आया है। हम कह आए हैं कि प्राचीन काल से ही उत्तर भारत मे इस वैष्णवी-भावना का प्रचार था। उत्तर-भारत से ही बाद में यह भावना मध्यप्रदेश व दक्षिण मे गई। किन्तु मध्यकाल में बौद्ध एव जैन आदि निवृत्ति-मार्गी एव ज्ञान-प्रधान सम्प्रदायो का कुछ ऐसा प्रभाव मध्यदेश व उत्तर भारत मे बढा कि जिसके कारण यहा यह भावना कमजोर पड गई। दक्षिण मे इसका स्वाभाविक रूप खूब विकसित हुआ। यही कारण है कि ईसा की १५वी शताब्दी मे इस वैष्णवी भावना की ऐसी बाढ दक्षिण से उत्तर-भारत मे प्रवाहित हुई कि उत्तर-भारत के शैव, शाक्त, तान्त्रिक, वाममार्गीय अनेक अवैष्णव मतो को इसने जड से हिला दिया। बौद्ध धर्म कुछ अपने ही विकृत विकास के कारण ढीला पडता जा रहा था। कुमारिल भट्ट ने इसे काफी आघात पहुँचाया। फिर शकर ने उसके रहे-सहे प्रभाव को बिलकुल समाप्त कर दिया। शंकर द्वारा भारतीय धार्मिक भावना में विशेष परिवर्तन यह हुआ कि अवैदिक भावना के स्थान पर भारतीय धार्मिक भावना का, जो वेदादि शास्त्रो से परम्परा मिलाती थी, विकास हुआ। यद्यपि शकर का मार्ग भी निवृत्ति एवं ज्ञान का मार्ग था और उसमें भक्ति के लिए बहुत कम स्थान था, तो भी शकर के अद्वैतदर्शन के कारण भारतीय चिंताधारा परम्परागत शास्त्रीय भावना से जुड गई।

शकर के मतानुसार ब्रह्म ही पारमार्थिक रूप में सत्य और मूल तत्त्व है। माया के भ्रम से ही वह मूल रूप मे निर्गुण ब्रह्म सगुण-सा आभासित होता है। शंकर ने ससार और जीव की सत्ता को भ्रम ठहराया। 'ब्रह्मसत्य जगत्मिथ्या' और 'अहब्रह्मास्मि' आदि को व्यावहारिक रूप मे न देखने के

कारण इनके मत मे भक्ति के लिए कोई स्थान न रहा। दक्षिण के वैष्णव-आचार्यो ने शंकर के इसी मायावाद का खण्डन किया। यह वैष्णवी-भावना मुख्य रूप से चार सम्प्रदायों मे विभाजित हुई। इन चारो सम्प्रदायो मे कुछ समानताएं भी पाई जाती हैं जैसे —

१. शाकर मत में निर्गुण ब्रह्म को ही तात्विक रूप मे ग्रहण किया गया। उसके सगुण रूप को केवल माया के कारण आभासित माना गया था। किन्तु इन वैष्णव सम्प्रदायो मे सगुण को भी ब्रह्म का तात्विक, पारमार्थिक और साथ ही व्यावहारिक रूप माना गया है।

२. शकर-मत मे 'ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या' की घोषणा है, किन्तु इन वैष्णव सम्प्रदायो में जगत् को भी भगवान् का सत् स्वरूप मानकर सत्य माना गया है।

३. इन वैष्णव सम्प्रदायो मे जीव को शाकर मत की तरह ब्रह्म से बिल्कुल अभिन्न नही माना गया।

इस प्रकार की समानताओ के रहते हुए भी ब्रह्म और जीव के विषय मे इन सिद्धान्तों मे बहुत सूक्ष्म सैद्धान्तिक भेद पाया जाता है। चार मुख्य सम्प्रदायो ने—श्री रामानुजाचार्य का श्री सम्प्रदाय, निम्बार्काचार्य का सनकादि सम्प्रदाय, श्री मध्वाचार्य का ब्राह्म सम्प्रदाय और विष्णु स्वामी का रुद्र सम्प्रदाय-अपने अपने विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैव तथा शुद्धाद्वैत सिद्धान्तो का प्रचार किया।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, वल्लभाचार्य और उनके अनुयायी विष्णुस्वामी की रुद्र परम्परा मे ठहरते है। विष्णु स्वामी का कोई ग्रंथ उपलब्ध नही होता, जिसके आधार पर हम उनके दर्शन पर विचार कर सके। किन्तु बाह्य-साक्ष्यो के आधार, पर भाण्डारकर ने इनके विचारों के विषय मे कहा है कि इनका वही मत और दर्शन है जिसे वल्लभाचार्य ने व्यापक रूप देकर प्रचारित किया। वल्लभ सम्प्रदाय के ग्रंथों से भी वल्लभाचार्य विष्णु-स्वामी के मतानुयायी सिद्ध होते हैं। इस प्रकार इस मे कोई सदेह नहीं

कि बल्लभाचार्य ने अपने शुद्धाद्वैतवाद की रूपरेखा विष्णुस्वामी से ही ग्रहण की। जनश्रुति से भी इस बात का पता चलता है कि बल्लभ ने विष्णुस्वामी की गद्दी को प्राप्त किया था। बल्लभाचार्य बहुत बड़े विद्वान् हुए हैं। उन्होंने अपने 'अणुभाष्य' में शुद्धाद्वैतमत पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला है। आत्मा और परमात्मा में शुद्धाद्वैतता का प्रतिपादन होने के कारण इनके मत को शुद्धाद्वैतवाद कहा जाता है।

ब्रह्म—इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म माया से रहित शुद्ध है।[1] परब्रह्म के सम्बन्ध मे बल्लभाचार्य ने जो विचार दिए है, वे बड़े पाण्डित्यपूर्ण है। ब्रह्म को एक अखण्डित, आदि, अनादि अद्वैत तत्व इन्होंने माना है। वह सत् चित् और आनन्द स्वरूप है। वह अविनाशी, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक है। वह सर्वज्ञ है, समस्त जगत् का आधारभूत कारण है। वह अविभक्त है, अपनी इच्छा मात्र से विभक्त होने वाला है। वह एकरस है और अनेक शक्तियों के साथ अपने स्वरूप और अपनी रचित लीला मे निरन्तर मग्न रहता है।

उसे जब बाह्य प्रकार से रमण करने की इच्छा होती है तो स्वान्तः-स्थित आनन्द धर्मों वाले आधिदैविक रूप से वह अपनी शक्तियों के साथ रमण करता है। उसका वही आनन्द धर्म प्रकटरूप पुरुषोत्तम कहलाता है। वह ब्रह्म विरुद्धधर्माश्रयी है। वह प्राकृत धर्मों से रहित होते हुए भी सधर्मक है। निःशेष और निर्गुण होते हुए भी सविशेष एव सगुण है। अदृश्य होते हुए भी सदृश्य है। अविभक्त होते हुए भी सविभक्त है। इसी प्रकार पूर्णावतार कृष्णावतार दशा मे वह बालक होते हुए भी रसिक मूर्धन्य है। भक्त सापेक्ष है तथापि निरपेक्ष है। सर्वज्ञ है तथापि अज्ञ है। जो ब्रह्म मन और वाणी से परे है, वही साधना और भक्ति से तथा अपनी इच्छा से गम्य और गोचर भी हो जाता है। इस सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म मे आविर्भाव और तिरोभाव की शक्ति है, जिससे वह एक से अनेक और अनेक से एक होता है। ब्रह्म से ही सभी पदार्थों का आविर्भाव और उसी मे तिरोभाव होता है।

---

१. माया सम्बन्ध रहितं शुद्धमित्युच्यते बुधै'।
कार्य करणरूपं हि शुद्धं ब्रह्मम् मायिकम् (शुद्धाद्वैत मार्तण्ड)

शंकर ने ब्रह्म से इतर जीव जगत सबको असत्य और कल्पना मात्र कहा था। ईश्वर, जीव और जगत को तो वल्लभाचार्य भी अभिन्न कहते हैं, परन्तु उनके अनुसार जड जगत् और जीव सृष्टि उसी सच्चिदानन्द के अंश होने के कारण सत् स्वरूप हैं, अतः सत्य हैं। जड-प्रकृति में उसके सत् अंश का आविर्भाव रहता है। चिद् तथा आनन्द धर्म तिरोभूत रहते हैं। जीव में सत् और चिद् धर्म प्रकट रहते हैं और आनन्द तिरोभूत।

उसकी इच्छाशक्ति ही वल्लभसम्प्रदाय मे उसकी मायाशक्ति है। यह माया शंकर की माया की तरह झूठी नही। वह आनन्दी अपने आनन्द के लिए ही लीला विस्तार करता है। 'रसोवैसः'-परब्रह्म रसरूप है। यही ब्रह्म आनन्दाकार पुरुषोत्तम रूप मे अथवा अक्षरब्रह्म के रूप में अपने अक्षर-धाम मे अपनी इच्छानुसार अनेक लीलाओ मे मग्न रहता है। उसके अक्षर-धाम को गोलोक भी कहते हैं। अपनी आनन्द-प्रसारिणी शक्तियो को अपने मे से ही प्रसारित करके यह ब्रह्म अनेक आनन्द लीलाएँ करता है। इसी रसरूप पुरुषोत्तम की लीलाओ में भाग लेकर उसका नैकट्य प्राप्त करना ही वल्लभसम्प्रदायी भक्तो को काम्य होता है।

वल्लभसम्प्रदाय के अनुसार श्रीकृष्ण ही पूर्णानन्द पुरुषोत्तम हैं। वल्लभ ने आनन्दस्वरूप श्री कृष्ण को ही मूल ब्रह्म और अपने पुष्टि-मार्ग का इष्टदेव माना है। जब आनन्दस्वरूप पुरुषोत्तम अपने आनन्द के लिए बाह्य लीला करना चाहता है, तब उसकी शक्तियाँ भी बहि-स्थित रहती हैं, और विविध रूप, गुण और नामो से उनसे विलास करती हैं। उन शक्तियो में श्रिया, पुष्टि, गिरा आदि बारह शक्तियाँ प्रमुख हैं। वे ही श्री स्वामिनी राधा के रूप में अन्य नामों से प्रकट होकर पुरुषोत्तम के साथ ही प्रगट होती हैं। इनमे से पुनः अनन्त भाव प्रकट होते हैं, जो अनेक सखी, सहचरी के रूप में उनके साथ रहते हैं। इन शक्तियो के साथ क्रीड़ा करने के लिये पुरुषोत्तम अपने में से श्री वृन्दावन, गोवर्द्धन, यमुना, कुंज निकुंज, वृक्ष, पशु, गोकुल आदि को भी प्रकट करता है। ये सब पुरुषोत्तम के आधिदैविक ऐश्वर्य रूप

होने से आनन्दमय चेतन रूप है, फिर भी कृष्ण-लीला के लिए इन सबने जड़ता धारण कर रखी है।

हमने पीछे जिन चार भक्ति-सम्प्रदायों का उल्लेख किया है, उन सब से वल्लभसम्प्रदाय की एक बात में विशिष्टता है। विष्णुस्वामी के रुद्र सम्प्रदाय की परम्परा में होते हुए भी—उनके ही शुद्धाद्वैतवाद को अपनाते हुए भी, वल्लभाचार्य ने भगवान् श्री कृष्ण के रूप में एक विशेषता रखी है। जहाँ अन्य सभी सम्प्रदाय मर्यादा-मार्गी हैं, वहाँ वल्लभ ने केवल पुष्टि-मार्ग को अपनाया। इसी कारण उनके पुष्टि-पुरुषोत्तम ब्रह्म और रामानुज अथवा रामानन्दी सम्प्रदाय के मर्यादा-पुरुषोत्तम ब्रह्म मे अन्तर है। विष्णुस्वामी, निम्बार्काचार्य और मध्वाचार्य ने भी कृष्ण का वह अवतार रूप अपनाया था, जो मर्यादापुरुषोत्तम और पुष्टि पुरुषोत्तम रसेश दोनों से युक्त था। मथुरा, द्वारिका तथा कुरुक्षेत्र मे लोक-रक्षण और धर्म-स्थापन की लीलाओं को करने वाले तथा ब्रज मे दुष्टों का संहार करने वाले कृष्ण का रूप लोक-वेद-प्रथित-धर्म सस्थापक रूप है, और बाल रूप मे माता यशोदा और बाबा नन्द को आनन्दित करने वाले, ब्रज मे सखाओं के साथ गौ-चारण करने वाले तथा गोकुल-वृन्दावन में गोपियों के साथ रास रचाने वाले किशोर-कृष्ण का रूप रसात्मक है। जहाँ अन्य सम्प्रदायों मे कृष्ण के दोनों रूप — लोक-वेद-प्रथित-धर्म-सस्थापक रूप तथा रसात्मक रूप — ग्राह्य रहे हैं, वहाँ वल्लभ के पुष्टिमार्ग मे केवल रसेश्वर श्रीकृष्ण को ही अपनाया गया। अत इसी रसेश भगवान् कृष्ण को अपनी सर्व वस्तुओं सहित समर्पण कर देना ही ब्रह्म-भाव की प्राप्ति अथवा पुष्टि है। श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत् मे कहे गए श्री कृष्ण के इस वाक्य 'सब साधनों को त्याग कर तू केवल मेरी ही अनन्य भक्ति कर' को अपना कर वल्लभ ने पुष्टिमार्ग को खड़ा किया।

जीव :- 'एकोऽहं बहुस्याम्'—तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार, ब्रह्म को जब ऐसी इच्छा हुई, तभी जीव-सृष्टि की उत्पत्ति हुई। वल्लभ-मतानुसार भी भगवान् को जब रमण करने की इच्छा होती है, तब वे अपने आनन्दादि

गुणो के अशो को तिरोहित कर स्वय जीव रूप ग्रहण कर लेते हैं। इसमें क्रीडा की इच्छा ही प्रधान कारण है, माया का सम्बन्ध तनिक भी नही रहता। जैसे अग्नि से चिंगारिया निकलती हैं, उसी प्रकार असख्य जीव ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं—

विस्फुलिग इवाग्नेस्तु सदशेन जडा अपि।
आनन्दाश स्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिण'॥

इस प्रकार शुद्धाद्वैतमत के अनुसार जीव अश है और परमात्मा अशी। जीव में आनन्द-शक्ति का तिरोभाव और चित् तथा सत् धर्म का आविर्भाव रहता है। आनन्द-धर्म का तिरोभाव हो जाने के कारण भगवान् के ऐश्वर्य, वीर्य, यश आदि छ गुणो का भी जीव मे से लोप हो जाता है। ऐश्वर्य, यश, वीर्य, श्री, ज्ञान, वैराग्य के तिरोधान से जीव में क्रमशः दीनता और पराधीनता, हीनता, अनेक दुखो, जन्म-मरण के दोष, अहबुद्धि और अज्ञानता तथा विषयों मे आसक्ति का समावेश होता है।

बद्ध-जीव अंश होने के कारण अल्पज्ञ और अल्प सामर्थ्यवान् है, इसी से वह अपने अशी परमात्मा के वशीभूत है। ब्रह्म का सदश विद्यमान रहने के कारण, जीव भी ब्रह्म की तरह सत्य है। अविद्या-माया से जीव ही आवेष्टित रहता है। यह अविद्या-माया बल्लभ-मत में स्वीकृत है, परन्तु यह ब्रह्म को नही लगती, केवल जीव को लगती है। इस अविद्यामाया के कारण जब जीव में से ऐश्वर्य आदि गुण लुप्त हो जाते हैं, तब वह देह के धर्मों को ही—सुख दुखादि को ही—अपने धर्म समझने लगता है और जन्म-मरण मे फसा रहता है।

शकर के मायावाद मे जीव की सत्ता भ्रम मात्र है। वस्तुतः न जीव है और न जगत, केवल माया-अविद्या से प्रतिभासित है। किन्तु इसके विपरीत बल्लभ-मत में जीवों की अंश रूप में स्थिति, सत्ता और अनेकरूपता बिल्कुल सत्य है।

जीव के प्रकार:—स्फुलिंगवत् व्युच्चरण के समय आनन्द का तिरोधान होने से पूर्व तक की दशा जीव की 'शुद्ध' दशा होती है। आनन्द का तिरोधान होने पर जीव 'ससारी' कहलाते हैं, और 'संसारी' जीव जब अविद्या से मुक्त हो जाते हैं तो 'मुक्त' जीव कहे जाते हैं। जीव की शुद्ध दशा और 'मुक्त दशा' मे विशेष अन्तर नही होता। 'ससारी' जीवो के विभाजन को इस प्रकार समझा जा सकता है—
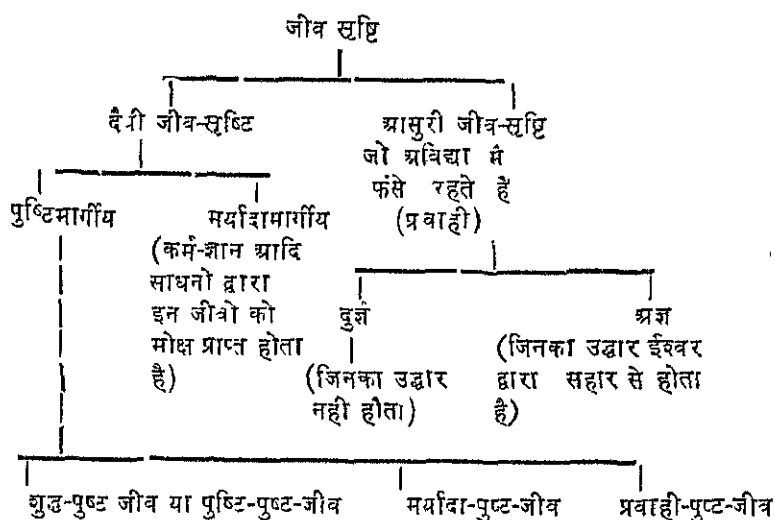
इन पुष्टिमार्गीय जीवो को ही भगवान् के लोक तथा उनकी आनन्द लीला के भागी होने का लाभ प्राप्त होता है। मुक्त अवस्था मे जीव आनन्दाश को प्रकटित कर स्वय सच्चिदानन्द हो जाता है। पुष्टिमार्ग मे यह आनन्दाश भगवदनुग्रह प्राप्त होने से होता है।

जगत :—ब्रह्म के आनन्द और चिद् धर्म के तिरोभाव तथा सत् अश के अविर्भाव से जगत की उत्पत्ति होती है। "जिस प्रकार लपेटा हुआ कपड़ा फैलाने पर वही रहता है, उसी प्रकार आविर्भाव दशा में जगत तथा तिरोभाव

रूप मे ब्रह्म एक ही हैं, भिन्न नही।"[1] जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जगत का आविर्भाव केवल भगवान की लीला के लिए है, अतः ब्रह्मरूप जगत उसका सदंश होने के कारण सत्य है, नित्य है, मिथ्या नही।

इस जगत का कर्ता ब्रह्म ही है। जिस प्रकार मकडी[2] अपनी इच्छा से अपने में से ही तन्तुओ को निकाल कर जाल मे रमण करती है, और फिर अपनी इच्छा से ही उसे अपने मुख मे समेट लेती है, उसी प्रकार शुद्ध ब्रह्म इस जगत का आविर्भाव-तिरोभाव करता है। आचार्य वल्लभ जगत की उत्पत्ति और विनाश को नही मानते, प्रत्युत अविर्भाव और तिरोभाव के पक्षपाती है। ब्रह्म ही इस जगत का निमित्त और वही इसका उपादान-कारण है। ब्रह्म का जगत रूप मे यह परिणाम दूध के दही रूप में परिणाम की तरह विकृत नही- अर्थात दूध से दही बनती है, परन्तु दही फिर दूध रूप में नही लाया जा सकता, यह परिणाम विकृत है। परन्तु ब्रह्म और जगत के सम्बन्ध मे अविकृत-परिणामवाद को ही आचार्य वल्लभ ने स्वीकार किया है। जिस प्रकार कुण्डलादि आभूषणो के रूप मे परिणत होकर भी स्वर्ण मे किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नही होता —यहा आभूषणों में टाँका आदि खोट की गणना नही है—गलाने पर वे फिर सोना हो जाते हैं, उसी प्रकार यह जगत भी शुद्ध ब्रह्म का (माया शबलित ब्रह्म का नही) अविकृत परिणाम है, और लय होने पर शुद्ध ब्रह्म ही हो जाता है। श्रीमद्भागवत एकादश स्कंध मे इसी तत्त्व का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है —

यथा सुवर्ण सुकृत पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य।
तदेव मध्ये व्यवहार्यमाण नानापदेशरहमस्य तद्वत् ॥

इस जगत का कारण ब्रह्म और कार्य जगत दोनो सत्य हैं।[3] गीता के सोलहवे अध्याये मे भी कहा गया है कि आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य ही जगत

---

१. भारतीय दर्शन—श्री बलदेव उपाध्याय पृ० ४१६

२. यथोर्णनाभि. सृजते गृह्णते च तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।
मुण्डकोपनिषद्, १/१/७

३ कार्यस्यकारणादन्यत्वं न मिथ्यात्वम्। (अणुभाष्य)

को ईश्वर-रहित और असत्य कहते हैं—

असत्यमप्रतिष्ठ ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परमभूत किमन्यत्कामहैतुकम् ।।१६/८।।

ब्रह्म ही अपने सद्धर्म से २८ तत्त्वों से युक्त होकर जगत-स्वरूप हुआ है।

जगत और संसार :—बल्लभ-मत में जगत् और संसार मे पार्थक्य स्वीकृत किया गया है।ईश्वरेच्छा के विलास से सदंश से प्रादुर्भूत पदार्थ को जगत कहते है, परन्तु पञ्चपर्वा अविद्या के द्वारा बद्ध जीव से अपनाया गया कल्पित तत्व 'संसार' है। इस प्रकार जगत ईश्वर-कृत है और ससार बद्ध-जीव-कृत। संसार को जीव ने अपनी अविद्या अथवा भ्रम से रचा है। अतः यह झूठा है। मोह, माया, ममता, आकर्षण, तृष्णा, भोग-विलास, सुख-दुख आदि देह-धर्म से सम्बधित बाते इस ससार का रूप हैं। भक्ति आदि साधनो द्वारा जीव की मुक्ति हो जाने पर ससार की समाप्ति होती है, किन्तु जगत ज्यो का त्यो स्थित रहता है।

आत्ममाया :-शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार आत्ममाया ब्रह्म की सर्व भवन-समर्थ-रूपा शक्ति है। यह परब्रह्म के अतिरिक्त और किसी के आश्रय मे नही है। बल्लभाचार्य ने इसके दो रूप बताए हैं। एक विद्या-माया और दूसरी अविद्या-माया। भगवान् की ये दो शक्तिया ही इस जगत और संसार का प्रसार करती हैं। माया के अधीन जीव है। माया भगवान् के अधीन है। जिस प्रकार अग्नि एव उसकी दाहक शक्ति, सूर्य एव उसकी प्रकाश-शक्ति भिन्न नही हैं, उसी प्रकार यह आत्ममाया परब्रह्म की दासी एव उससे अभिन्न है। अविद्या-माया से जीव संसार मे बंधता है और विद्या माया के द्वारा संसार से छुटकारा पाता है।

पुष्टि-मार्ग

जिस प्रकार बल्लभ के दार्शनिक विचारो को शुद्धाद्वैतवाद कहते हैं और दर्शन के क्षेत्र में उनके इस मत की प्रसिद्धि है, उसी प्रकार उनके भक्ति-मार्ग को पुष्टि-मार्ग कहते हैं। भक्ति के क्षेत्र में यह बहुत प्रसिद्ध है। दार्शनिक सिद्धात

के लिए भले ही वल्लभाचार्य विष्णुस्वामी के ऋणी रहे हों, किन्तु पुष्टि मार्गीय-भक्ति का निरूपण, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, उनका अपना निजी है।

वल्लभ-सम्प्रदाय में यह बात प्रसिद्ध है कि उन्हें इस पुष्टि-मार्ग के निरूपण की आन्तरिक प्रेरणा हुई थी। "सम्प्रदाय प्रदीप" नामक ग्रंथ में लिखा है—

"अन्य सम्प्रदायों (रामानुज, निम्बार्क और मध्वाचार्य) में पंचरात्र, नारद आदि शास्त्र प्रतिपादित उपासना-पद्धतियों का प्रचार होने से यद्यपि विष्णुस्वामी सम्प्रदाय मे आत्मनिवेदनात्मक भक्ति की स्थापना की गई है, तथापि वह भी मर्यादामार्गीय है। अब आप ने इस सम्प्रदाय मे पुष्टि (अनुग्रह) मार्गीय आत्मनिवेदन द्वारा प्रेम स्वरूपा सगुण-भक्ति का प्रकाश करना है। सम्प्रति भक्तिमार्गानुयायी सम्प्रदाय शांकर सिद्धान्त के प्रचार से पथ भ्रष्ट हो रहे हैं। अतः इसके लिए आप ही उद्धार का कार्य सम्पन्न कर सकते हैं।" इस बात मे तथ्य हो अथवा नही, यह तो बिल्कुल सिद्ध है कि वल्लभाचार्य ने पूर्व आचार्यो के मर्यादा-मार्गों से भिन्न पुष्टि-सम्प्रदाय की स्थापना की।

पुष्टि-मार्ग के नामकरण की प्रेरणा वल्लभाचार्य को संभवतः भागवत मे मिली। भागवत के द्वितीय स्कंध दशम अध्याय के चतुर्थ श्लोक में पुष्टि अथवा पोषण का इस प्रकार उल्लेख हुआ है— "अपने द्वारा सुरक्षित सृष्टि में भक्तो के ऊपर उनकी जो कृपा होती है, उसका नाम है पोषण।" यहां 'पोषण तदनुग्रह'—भगवान् के अनुग्रह को ही जीव का वास्तविक पोषण माना गया है। श्री वल्लभाचार्य ने भारतीय-धर्म-साधना के—कर्म, ज्ञान एवं भक्ति तीनों अंगों को माना है, किन्तु इनमे भक्ति को विशेष महत्त्व दिया है, और उसे सर्वोत्तम ठहराया है। उनके अनुसार कर्म-काण्डीय केवल स्वर्ग प्राप्त करता है, ज्ञानी अक्षर ब्रह्म को ही प्राप्त करता है किन्तु भक्त पूर्ण पुरुषोत्तम मे लीन होकर उनकी नित्य-लीलाओं का अनुभव करता है। कर्ममार्गी स्वर्गादि लोको को पाकर फिर मर्त्यलोक में आता जाता है, किन्तु पुष्टि-मार्गीय भक्त इस ससार के प्रपंच मे फिर नही आता।

वास्तव मे शुद्धाद्वैतवाद के पश्चात् वल्लभ ने सोचा कि मस्तिष्क-प्रधान मनुष्य ब्रह्म के विशुद्ध ज्ञान को प्राप्त करके संसार से मुक्त हो जायगा, परन्तु हृदय प्रधान भावुक व्यक्ति किस प्रकार ससार से मुक्त होगे ? ज्ञान और योग के साधन कलि से प्रताडित जीवो के लिए कष्ट-साध्य हैं, यह विचार कर उन्होने प्रेम-मार्ग के सरल उपाय को अपनाया, क्योकि प्रेम ही ऐसा तत्व है जिससे मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी तक प्रभावित होते है । अतः इस प्रेम-तत्व के द्वारा जीव सरलता से कृष्णासक्त होकर मुक्त हो सकता है । 'अणु-भाष्य' में उन्होने कहा है—

"कृति साध्य साधन ज्ञान भक्ति रूपं शास्त्रेण बोध्यते । ताभ्या विहिताभ्यां मुक्तिर्मर्यादा । तद्विहितानामपि स्व स्वरूप बलेन स्वप्रापणं पुष्टिरित्युच्यते ।" अर्थात् शास्त्र कहते हैं कि ज्ञान से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है और तद्विहित साधन से भक्ति मिलती है । इन साधनों से प्राप्त हुई मुक्ति का नाम मर्यादा है । ये साधन सर्वसाध्य नही । अतः अपनी ही शक्ति से ब्रह्म जो मुक्ति भक्तों को देता है, वह पुष्टि कहलाती है ।

कठोपनिषद् मे भी कहा गया है कि ईश्वर की प्राप्ति ईश्वर के अनुग्रह पर ही निर्भर है । वल्लभाचार्य के अनुसार जीव जब पूर्णतया भगवान् पर आश्रित हो जाता है, तब भगवान् उस पर परमानुग्रह करते हैं और उसके साथ नित्य-लीला करते हैं । यह नित्य-लीला-स्वरूप-प्राप्ति पुष्टि-मार्ग का सब से बडा लक्ष्य है । इस पुष्टि मार्ग मे आने के लिए आवश्यक है कि जीव लोक और वेद के प्रलोभनों से दूर हो जाय । यह तभी हो सकता है, जब वह कृष्ण के प्रति सर्वभावेन-समर्पण कर दे । यह सर्वभावेन समर्पण ही पुष्टिमार्गीय-भक्ति की चरमावस्था है। इसी समर्पण से इस मार्ग का आरंभ और भगवान् के स्वरूप का अनुभव होता है, तथा लीला-सृष्टि मे प्रवेश हो जाने पर अन्त । बीच का मार्ग सेवा द्वारा प्राप्त होता है, जिससे जीव की ममता अहमन्यता आदि का नाश ही अभिप्रेत है । श्री कृष्ण की प्राप्ति के लिए इस समर्पण और सेवा-भाव के आदर्श रूप में गोपी-जन की प्रेम भावना को माना गया है ।

वल्लभ सम्प्रदाय या पुष्टिमार्ग के सबसे प्रसिद्ध व्याख्याता श्री हरिराय जी पुष्टि-मार्ग के विषय में लिखते हैं—

"जिस मार्ग में लौकिक तथा अलौकिक, सकाम तथा निष्काम सब साधनों का अभाव है। जहा श्री कृष्ण की स्वरूप-प्राप्ति ही साधन है, उसे पुष्टि-मार्ग कहते हैं। जिस मार्ग में सब सिद्धियो का साधन भगवान् का अनुग्रह ही है, जहा देह के अनेक सम्बन्ध भगवान् की इच्छा पर छोड दिये जाते हैं, जिस मार्ग मे भगवद्-विरह की अवस्था मे भगवान् की लीला के अनुभव मात्र मे सयोगावस्था का सुखानुभूत होता है, और जिस मार्ग में सब भावों में लौकिक विषय का त्याग है, और उन भावों के सहित देहादि का भगवान् को समर्पण है, वह मार्ग पुष्टि-मार्ग कहलाता है।"

जैसा कि पीछे बताया जा चुका है, पुष्टि मार्ग मे गोपीजनों की ही भक्ति को आदर्श माना गया है। वे ही कृष्ण से सच्चा प्रेम करना जानती थी, और उन्होंने ही कृष्ण का अनुग्रह प्राप्त किया था। अतः आचार्य जी ने कहा कि पुष्टि मार्गीय भक्त को गोपियो के ही आचरण का अनुकरण करना चाहिए। गोपीजनो के सुख-दुख, हर्ष-शोक, सयोग-वियोग आदि भावो को अपने अन्तरतम मे अनुभव करने की शक्ति भक्तो मे होनी चाहिए। 'निरोध-लक्षणम्' में आचार्य जी ने अपने इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

यच्च दुःख यशोदाया नन्दादीनाम् च गोकुले।
गोपिकानाम् च यद्दुःखं तद्दु.ख स्यान्मम क्वचित् ॥१॥
गोकुले गोपिकानाम् च सर्वेषाम् ब्रजवासिनाम्।
यत्सुख सभूतन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥२॥
उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥३॥

अर्थात् जो दु.ख यशोदा नन्दादि को तथा गोपियो को गोकुल में हुआ था, वह दुख, तथा जो सुख गोकुल में गोपियो एवं समस्त ब्रजवासियों को हुआ था, वह सुख—हे भगवान्, मुझे कब होगा? उद्धव के आने पर वृन्दावन और गोकुल में जो महान् समारोह हुआ था, वह क्या मेरे मन मे कभी होगा?

गोपियो का आदर्श पुष्टि मार्गीय भक्त सदैव अपने सम्मुख रखता है। यही कारण है कि पुष्टि-भक्त-कवि कृष्ण के चरित में, उसकी लीलाओ मे वैसा ही आनन्द लेना चाहता है जैसा गोपिया लेती थी। इसीसे इन कवियो में कृष्ण चरित्र का सच्ची अनुभूति से वर्णन पाया जाता है।

पीछे बताया गया है कि पुष्टि मार्ग में जीवो की तीन अवस्थाएँ है। ब्रज मे तीन ही प्रकार की गोपिया हैं—१. ब्रजाङ्गनाएँ, २. कुमारिकाएँ, ३. गोपाङ्गनाएँ। ब्रजांगनाओ ने श्री कृष्ण की भक्ति बालरूप मे की। अतः उनकी भावना वात्सल्य भावना थी। पुष्टि-मार्ग में इसी कारण नित्य-सेवा-विधि मे वात्सल्य भक्ति को प्रधानता मिली है। कुमारिकाओं ने कात्यायनी आदि व्रतों द्वारा कृष्ण की पति रूप मे उपासना की। अत: उनका कृष्ण के प्रति स्वकीय भाव है। गोपागनाओ ने वेद-लोक आदि के भय से मुक्त होकर परकीय भाव का अवलम्बन किया और सब धर्मों के त्याग-पूर्वक शुद्ध-प्रेम से केवल पुरुषोत्तम का ही साक्षात् भजन किया है। इनकी भक्ति में सर्वार्पण होने से बल्लभ ने इनकी भावना को सर्वश्रेष्ठ माना है और इनको पुष्टि-पुष्ट जीव कहा है। कुमारिकाओ को पुष्टि-मर्यादा और ब्रजागनाओ को पुष्टि-प्रवाह बताया गया है। इन भेदो के कारण ही पुष्टिमार्ग मे हमे वात्सल्य, सख्य, कान्त-स्वकीय और कान्त-परकीय-भक्ति भावनाएँ मिलती हैं।

आरंभ मे बल्लभ-सम्प्रदाय मे राधा को विशेष महत्त्व प्राप्त नहीं था, किन्तु बाद मे गोसाईं विट्ठल नाथ के समय में राधा का महत्त्व बढा और राधा को परब्रह्म श्री कृष्ण की सर्व-भवन-समर्थ-रूपा-शक्ति माना गया। गोसाईं विट्ठल नाथ ने 'स्वामिन्याष्टक' और 'स्वामिनी स्तोत्र' की रचना राधा की स्तुति में ही की है।

पुष्टि-मार्ग मे मधुर-भाव से भक्ति करने वाले भक्तो को सखी-रूप माना जाता है, और सख्य-भाव से भक्ति करने वालों को सखा। मुख्य सखियां आठ मानी गई हैं और मुख्य सखा भी आठ ही हैं। अष्टछाप के भक्त-कवि बल्लभ सम्प्रदाय मे 'अष्ट सखान' और अष्ट सखियो के अवतार माने जाते हैं।

पुष्टिमार्गीय सेवा :—बल्लभाचार्य भक्ति मार्ग के व्यावहारिक रूप मे समर्थक होते हुए भी ज्ञान मार्ग के विरोधी नही थे। जब तक जीव अविद्या के पर्दे को दूर नही कर देता, जब तक सासारिक सुख की निवृत्ति व ब्रह्म का बोध उसे नही होता, तब तक उसे दिव्य भगवद्-प्रेम की उपलब्धि नही हो सकती। अत: आचार्य जी ने सासारिक सुख-दु.ख की निवृत्ति और विद्या उत्पन्न कराने के लिए पुष्टिमार्गीय-सेवा-विधि पर बल दिया है। उन्होने कृष्ण-सेवा के दो भेद किए— १ क्रियात्मक, २. भावात्मक। क्रियात्मक सेवा विधि के वित्तजा और तनुजा दो और भेद हैं।

भावात्मक सेवा को मानसी सेवा भी कहते हैं। इसके भी दो रूप बल्लभाचार्य ने माने—१. मर्यादा-मार्गीय-सेवा, २. पुष्टि-मार्गीय-सेवा। मानसी सेवा के इन दोनों मार्गो का एक ही लक्ष्य है, किन्तु पुष्टि-मार्गीय सेवा मर्यादा-मार्गीय सेवा से अधिक प्रशस्त और उत्तम है।

समर्पण और आत्मनिवेदन :—पुष्टिमार्गीय भक्ति में, जैसा कि कहा जा चुका है, भक्त के भगवद् अनुग्रह प्राप्ति के लिए आत्मनिवेदन तथा सर्वभावेन समर्पण का बहुत महत्त्व है। इस सम्प्रदाय मे दीक्षित व्यक्तियो से आरंभ में जो प्रतिज्ञा रूप मे मंत्र कहलाया जाता था, उसका भाव इस प्रकार है—"श्री कृष्ण मेरा आश्रय है। सहस्रों वर्षों से श्री कृष्ण से मेरा वियोग हुआ है। इस वियोग के कारण आनन्द-तत्व मेरे मे से तिरोहित हो गये। अत: भगवान् कृष्ण को देह, प्राण, अतः करण, इन्द्रिया और उनके धर्म, दारा, गृह, सुत, वित्त, इहलोक-परलोक और आत्मा सहित मैं समर्पित हूँ। मैं दास हूँ, कृष्ण मैं तुम्हारा हूँ।" इस प्रकार के आत्मनिवेदन के पश्चात् सेवा-विधियों का विधान है।

कृष्ण की उपर्युक्त सेवा विधियां निम्न दो प्रकार की हैं।

(क) **नित्य की सेवा विधियां** :–प्रातः से शयन तक नित्य-सेवा-विधियाँ चलती है जो आठ अंगो में इस प्रकार है—

१. मंगला :—इसमे कृष्ण को जगाने का, कलेउ आदि खिलाने का, और उसकी आरती का विधान है।

२. शृंगार:—इसमे कृष्ण के नहलाने, मण्डन, साज-सज्जा आदि का विधान रहता है।

३. ग्वाल :—यह कृष्ण का ग्वाल वेश बनाकर गोचारण के लिये वन मे भेजने की क्रिया है।

४. राज-भोग—कृष्ण को भोजन कराना।

५. उत्थापन—कृष्ण को नट-वेश मे सजाना।

६. भोग—कृष्ण को फिर भोग कराना ७. संध्या-आरती ८. शयन।

(ख) वर्षोत्सव विधियां:—इनमे षड्ऋतुओ के उत्सव—रास, होली, हिंडोला आदि तथा अनेक त्योहार, मकरसक्रान्ति आदि वैदिक पर्व, अन्य अवतारो की जयन्तियाँ इत्यादि पर्व और उत्सव आते हैं।

सेवा के विविध अंग:—पुष्टिमार्गीय-सेवा के प्रधान तीन अग—राग, भोग और शृगार होते हैं। आचार्य जी का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति इन तीनों सासारिक विषयो मे फँसा हुआ है। इस लिए इनसे छुटकारा पाने के लिए इन तीनो विषयों को भगवान् की सेवा मे लगाकर इनको भी भगवद्-रूप बना देना चाहिए। उनका मत है कि इन व्यसनो को भगवद् रूप बना देने से इनका सासारिक-विष समाप्त हो जाता है और इस रूप मे अपनाकर प्रत्येक मनुष्य गृहस्थ होते हुए भी जीवन-मुक्त हो सकता है। यह सेवाविधि यद्यपि बल्लभाचार्य ने ही शुरू की थी, तथापि इसकी उचित व्यवस्था और इसको क्रियात्मक विस्तार देने का श्रेय गोसाईं विट्ठलनाथ जी को है। इन सेवाओं का महत्त्व होने के कारण ही अष्टछाप-कवियों का अधिकांश काव्य नित्य और वार्षिक सेवा-विधियो के लिए कीर्तन रूप में ही व्यक्त हुआ है।

पुष्टिमार्ग और सदाचार :—पुष्टिमार्गीय भक्ति के विषय में जो यह धारणा पाई जाती है कि इसमें सदाचार के लिए स्थान नही, वह भ्रांति-पूर्ण है। 'सम्प्रदाय प्रदीप' की भूमिका में लिखा है—"कितने ही लोगों को 'पुष्टि' शब्द से एक प्रकार की घृणा है—वे 'पुष्टि-सम्प्रदाय' का तात्पर्य यही समझते

है कि जिस सम्प्रदाय में मौज, शौक, भोग-विलास तथा शारीरिक सुख-भोग को प्रधानता दी गई हो वही 'पुष्टि-सम्प्रदाय' है ।''[1]

वास्तव मे बाद के भक्तों मे जो चारित्रिक बुराइयाँ आ गईं, उनको देखकर यह नही कहा जा सकता कि इस सम्प्रदाय मे भक्ति-भावना विलास-पूर्ण थी । पुष्टिमार्गीय सेवा-विधान मे आचार तत्व की उपेक्षा नही पाई जाती । आचार्य वल्लभ ने सदाचार दो प्रकार का बताया है – १. बहिरंग और २. अन्तरग । बहिरग मे वर्णाश्रम के अनुसार शौचादि कर्मों द्वारा पवित्र होना है । अन्तरंग मैं सत्य, दया एव अहिंसा आदि हैं । अन्तरंग आचारो के बिना बहिरग आचार पूर्ण पाखण्ड माने गए हैं । श्री कृष्ण की क्रियात्मक सेवाओ के विधान मे वल्लभ ने सदाचार का महत्त्व माना है, इसमें सदेह नही । वैसे वास्तविक बात यह है कि पुष्टिमार्गीय भक्ति समर्पण का वह रूप है, जिसमे आचारादि कृष्ण-प्रेम से बाह्य बातें सोचने के लिए अवकाश ही नही रहता । श्री वल्लभाचार्य ने तो अनेक स्थलों पर अपने ग्रथो मे स्पष्ट रूप से घोषणा की है—'विषयाक्रान्तदेहानाम् नावेशः सर्वथा हरेः' अर्थात् विषयों से आक्रान्त मनुष्यों के मन मे प्रभु का आवेश कभी नही होता । सुबोधिनी टीका में भी वे स्पष्ट कहते है कि 'कामादिनाम् शिथिलत्वे भक्ति र्नोत्पत्स्यते'—अर्थात् कामादि व्यसनों के होने पर भक्ति उत्पन्न नही होती ।

पुष्टिमार्गीय भक्ति का स्वरूप : पुष्टि-मार्गीय भक्ति प्रेम लक्षणा भक्ति है । प्रेम की सिद्धि विरह से होती है, इसी लिए इस भक्ति के श्रवण कीर्तन, स्मरण आदि सभी साधन विरहात्मक हैं । आचार्य जी ने कहा है कि विरह से ही प्रेम की सिद्धि होती है और प्रेम-सिद्धि होने पर लोक और वेद दोनो से भक्त विरक्त हो जाता है । आसक्ति की दृष्टि से पुष्टि-भक्ति की तीन अवस्थाएँ हैं—१. स्वरूपासक्ति, २. लीलासक्ति, ३. भावासक्ति ।

बाल-भाव में किशोर-भाव का समावेश पुष्टि-सम्प्रदाय की विशेपता

१. सम्प्रदाय प्रदीप- भूमिका पृ० २४

है। 'सुबोधिनी' में श्री आचार्य जी ने भागवत दशम-स्कध पूर्वार्ध अध्याय बारह के आधार पर उक्त विषय का स्पष्टीकरण किया है।

भगवान् की रास-लीला और उनके गोलोक धाम की प्राप्ति पुष्टि-मार्गीय भक्त का सर्वोच्च काम्य होता है, जिसे वह भगवदनुग्रह से प्राप्त करता है। अतः बल्लभ सम्प्रदाय मे रास-लीला का बहुत महत्व है। इस जगत में भगवान् का लीला धाम होने के कारण बल्लभ-सम्प्रदाय मे गोकुल का महत्त्व वैकुंठ से भी अधिक है। यही कारण है कि ब्रज भूमि की कण-कण, कृष्ण-लीलाओं के अनेक स्थान, वहाँ के निवासी, वहाँ की भाषा, लता, पेड, पशु-पक्षी, कुंज-निकुंज, गो-ग्वाल सब की बहुत महत्ता है।

स्वामिनी और ठाकुर :-पुष्टिमार्ग के प्रमुख सेव्य श्री नाथजी अथवा ठाकुर जी हैं। कृष्ण के नवनीत-प्रिय रूप को भी बल्लभाचार्य ने सर्वप्रमुख स्थान दिया था। पुष्टिमार्ग के अनुसार सब अवतार और देवी देवता भी कृष्ण के ही अंश हैं। कृष्ण के अन्य सात रूप मथुरेश, द्वारिकेश आदि भी पुष्टि-मार्ग मे अपनाए गए हैं।

श्री स्वामिनी जी इन ठाकुर जी की सर्व-समर्थ-शक्ति-स्वरूपा हैं। ये स्वामिनी जी श्री चन्द्रावली जी और श्री राधा जी दोनो है। 'प्राचीन वार्ता-रहस्य' मे लिखा है—

"सो ब्रज में श्री स्वामिनी जी और श्री ठाकुर जी आपु ये दोउ एक रूप हैं, परन्तु ब्रज लीला प्रकट करिबे के लिए श्री ठाकुर जी श्री नन्दराय जी के घर प्रकटे और श्री स्वामिनी जी श्री वृषभानु जी के घर प्रकट होये के अनेक उपाय मिलिबे कों रात्र दिन किये।"

इससे स्पष्ट होता है कि श्री स्वामिनी जी श्री राधा जी हैं। परन्तु कृष्णदास अधिकारी की वार्ता मे समस्त सखियो को ही स्वामिनी कह दिया गया है—

"जो श्री ठाकुर जी ते श्री स्वामिनी जी प्रकटी हैं। और स्वामिनी जी के मुखचन्द्र तें श्री चन्द्रावली प्रकटी। श्री चन्द्रावली ते सगरी स्वामिनी

सखी प्रकटी हैं। ता सो श्री ठाकुर जी के दक्षिण-भाव श्री चन्द्रावली विराजत है। याते जो सगरी सखीन के स्वामिनी रूप श्री चन्द्रावली जी सो सर्व मे श्रेष्ठ है।"

ऐसा जान पड़ता है कि वल्लभ के समय उनके द्वारा तो 'एक विशेष सखी', जिसका उल्लेख भागवत में हुआ है, श्री चन्द्रावली समझी गईं, और उन्हें ही स्वामिनीत्व प्राप्त हुआ, परन्तु बाद मे राधा की मान्यता श्री स्वामिनी रूप में विट्ठलनाथ के द्वारा हुई।

प्रारंभ मे, जैसा कि कहा गया है, वात्सल्य-भक्ति को अधिक महत्ता प्राप्त थी। बाद में विट्ठल नाथ के समय मे वात्सल्य भक्ति पीछे रह गई, मधुर-भक्ति ही सब कुछ हो गई। नन्ददास के समय मे यह मधुर-भक्ति की भावना ही प्रमुख थी। यही कारण है कि नन्ददास मे हमे वात्सल्य-भक्ति विशेष नही मिलती।

पुष्टि सम्प्रदाय के मान्य ग्रंथ "प्रस्थान-चतुष्टय" है। बल्लभ से पूर्व हमारे यहाँ "प्रस्थान-त्रयी"—वेद-उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता माने गए थे। बल्लभाचार्य ने भागवत-पुराण को और मिलाकर प्रस्थान-चतुष्टय बना दिया। इस प्रकार भागवत-पुराण को पुष्टि-मार्ग मे विशेष स्थान मिला। एक तरह से देखा जाये तो भागवत-पुराण पर ही यह सम्प्रदाय विशेष रूप से आधारित है।

नन्ददास के काव्य में शुद्धाद्वैत दर्शन और पुष्टिमार्गीय भावना

पुष्टि-मार्ग के अनुयायी भक्तवर नन्ददास के काव्य मे शुद्धाद्वैत दर्शन और पुष्टिमार्ग के सिद्धात होना स्वाभाविक ही है। उनके काव्य को समझने के लिए हमे उनके साम्प्रदायिक विचारों और सिद्धान्तों को समझना बहुत आवश्यक हो जाता है। वल्लभ-सम्प्रदाय की जिस विचार-धारा और जिन सिद्धातों का उल्लेख हम पीछे कर आए हैं, उनकी स्पष्ट अभिव्यक्ति हमे नन्ददास की रचनाओ में मिलती है। पुष्टिमार्गीय सभी कवियो मे सूरदास के पश्चात् नन्ददास के काव्य में ही वल्लभसम्प्रदाय की विशिष्ट धार्मिक-भावना का विस्तृत विवेचन मिलता है। माधुर्य-भक्ति और रास-लीला का तो जितना विशद और विस्तृत रूप से निरूपण नन्ददास ने किया है, उतना अष्ट-छाप के किसी कवि ने नही किया। 'सिद्धात पचाध्यायी', 'रूपमंजरी', 'रासपंचाध्यायी,' 'भ्रमर-गीत' आदि रचनाओं मे ब्रह्म श्री कृष्ण, जीव, ससार, पुष्टि-भक्ति, रासलीला, सगुण-निर्गुण आदि सभी से सम्बन्धित उनके पुष्टि-मार्गीय दृष्टिकोण का अध्ययन किया जा सकता है।

ब्रह्मश्री कृष्ण :—सूरदास और नन्ददास ने ब्रह्म-सम्बन्धी अपने विचारो को शुद्धाद्वैत दर्शन के अनुसार ही व्यक्त किया है। नन्ददास ने ब्रह्म की अद्वैतता को पूर्ण रूप से माना है। वही ब्रह्म सब ठौर है, उसके सिवा अन्य कोई तत्व नही। वही नाम-रूप-गुण भेद से सब तरफ प्रकट हुआ है—

नाम रूप गुण भेद जे, सोइ प्रकट सब ठौर।
ता बिन तत्व जु आन कछु कहै सो अति बड-बौर ॥ (नाममाला)

वह अज है—'अज एकै जगदीस'। अनन्त होता हुआ भी एक है—'हरि अनन्त अरु एक'। उस परब्रह्म के कृष्ण रूप संसार मे अपनी लीला के हेतु प्रकट होते हैं। सत्-चित् व आनन्द तीनों

तत्वों के सम्मिश्रण से उन्हे सच्चिदानन्द कहा जाता है। इन्हीं के आनन्द तत्व के तिरोभाव व सत्-चित् के अविर्भाव से जीव की सृष्टि होती है। और आनन्द और चिद् के तिरोभाव व सत् के आविर्भाव से जगत् प्रकट होता है। इस ब्रह्म में विरुद्ध-धर्माश्रय भी है, और इसी कारण वे सब धर्मों और गुणो से रहित होते हुए भी धर्मी हैं, अकर्तु होते हुए भी कर्तु हैं। वही ब्रह्म सब जगत का कारण और कर्ता है। वह जगत का निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों है, उसी की ज्योति का प्रकाश जगत मे पाया जाता है—

जो प्रभु जोति जगत मय, कारन करन अभेव।
विघन हरन सब सुभ करन, नमो नमो ता देव॥—अनेकार्थमंजरी

यह ब्रह्म जगत के नाना रूपो मे अपने को प्रकट करता है। वही जड जगत का कर्ता है। जगत रूप में उसका प्रकट होना अविकृत-परिणामवाद के अनुसार ही नन्ददास जी मानते हैं। जिस प्रकार कञ्चन से अनेक आभूषण बनते हैं और वे कंचन ही होते हैं—केवल रूप नाम का भेद हो जाता है—उसी प्रकार ब्रह्म से जगत के नाना रूप प्रकट होते हैं—

एकै वस्तु अनेक है, जगमगात जगधाम।
जिमि कचन तें किंकिनी, कंकन, कुंडल नाम॥ (अनेकार्थ मंजरी)

जगत का यही कर्ता ब्रह्म गोकुल मे कृष्ण-रूप में प्रकट हुआ है। नन्ददास ने कृष्ण के परब्रह्म होने का भाव अनेक स्थानों पर व्यक्त किया है—

तत्रमामि पद परम गुरु, कृष्ण कमल-दल-नैन।
जग-कारन करुनायतन, गोकुल जाको ऐन॥ – नाममाला

जो ब्रह्म 'षटगुन' (ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य) से युक्त है, "अरु अवतार धरन नारायन" है, जो सब का आश्रय है, वही कृष्णावतार रूप में नन्दराय के यहाँ गोकुल मे प्रकट हुआ है—

षटगुन अरु अवतार धरन नारायन जोई।
सबको आश्रय अवधि भूत नन्दनन्दन सोई॥ सिद्धान्तपंचाध्यायी

इस कृष्ण के रूप, गुण, कर्म अपार हैं। वे परम उदार हैं। अगम, निगम, पुराण-इतिहास आदि तथा सारा ज्ञान-विज्ञान उनकी निःश्वास हैं। उनके

'षटगुन' हैं, वही नारायण हैं। वही अवतार धारण करते है, वही सबके आश्रय हैं। उनकी लीलाओ के कई भाग हैं—शिशु, कुमार, पौगंड आदि—किन्तु सर्वरूप होते हुए भी वे 'नित्य-किशोर चितचोर एकरस' हैं—

जदपि नित्य किशोर हरिबदन वेद इमि बैन।
सबै बयस ब्रज देन सुख प्रगटे पंकज नैन ॥ (दशमस्कध)

तथा— शिशु कुमार पौगंड धर्म पुनि वलित ललित लस।
धर्मी नित्य किशोर नवल चितचोर एकरस ॥ -सिद्धातपंचाध्यायी

वह ब्रह्म मायापति है। जो माया महामोहिनी है, जो तिरसूली (शिवजी) तक को मोह लेती है, जो इस विश्व का सृजन, पालन व संहार करती है, वह भगवान् के अधीन है। वह भगवान् की आज्ञा पर नाचती है—

सो माया जिनकै आधीन नित रहत मृगी जस।
विश्व-प्रभव-प्रतिपाल-प्रलय कारक आयसु-वस ॥
महा-मोहनी-मय माया मोहे तिरसूली।
कोटि-कोटि ब्रह्मांड निरखि विधि हू गति भूली ॥

(सिद्धातपंचाध्यायी)

ये ही कृष्ण इन्द्र का गर्व चूर करने वाले हैं। इन्होंने ही मदन का महामद जीतने के लिए अपनी इच्छा से रास-लीला रचाई है, जो सब रसो का निचोड है—

ब्रह्मादिक को जीति महामद मदन भरयो जब।
दर्प्प-दलन नद-ललन रास-रस प्रगट करयो तब ॥

(सिद्धातपंचाध्यायी)

वह ब्रह्मावतार कृष्ण रास-रसिक रस-रूप, रस-मय, आनन्द का घन है·

नमो नमो आनन्द घन सुन्दर नन्द कुमार।
रसमय रस कारण रसिक जग जाके आधार ॥ (रसमजरी)

वह घट-घट वासी है, एकरस है, नित्य आत्मानन्द, अखण्ड और परम उदार है। प्रेम के द्वारा वह बिलकुल सुगम है, प्रेम मार्ग के अतिरिक्त और सब प्रकार

की साधना से वह अगम्य है—

नहिं कछु इन्द्रिय-गामी कामी कामिनी कौ बस।
सब घट अन्तरजामी स्वामी परम एक रस ॥८८॥
नित्य, आतमानन्द अखंड स्वरूप, उदारा।
केवल प्रेम सुगम्य अगम्य अवर परकारा ॥८९॥

(सिद्धांतपंचाध्यायी)

दशम-स्कध भाषा में नन्ददास ने ईश्वर विषयक अपने विचार कृष्ण की अनेक स्तुतियो में प्रकट किए हैं। वे कहते हैं—हे प्रभो ! आप परम पुरुष हैं, जड़-चेतन के कारण हैं। आप ही पालन कर्ता, आप ही तारने वाले हैं। व्यक्त-अव्यक्त जो भी विश्व है, वह सब आप का ही रूप है—

परमपुरुष सबहिन के कारन। प्रतिपालन, तारन, संघारन ॥
व्यक्त-अव्यक्त जु विस्व अनूप। वेद बदत प्रभु तुम्हारो रूप ॥
× × × × × ×
तुमही जीवन तुमही जीय। तुमही सब कोउ अवर न बीय ॥

"परब्रह्म श्री कृष्ण के विश्वरूप, ज्योति-रूप रस-रूप, जीव-रूप, जगत-रूप आदि की अनेकता में जिस एकता का नन्ददास ने प्रतिपादन किया है, वह न तो शकर के केवलाद्वैत से साम्य रखती है, और न रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत से। विशिष्टाद्वैत में प्रकृति और जीव, ईश्वर या ब्रह्म के अग हैं और दोनो ही ब्रह्म के विशेषण हैं। रामानुज के मतानुसार जीव नित्य और अनेक हैं और वे ब्रह्म के नित्य अश है। इस प्रकार ईश्वर, प्रकृति और जीव से विशिष्ट है। नन्ददासादि अष्ट कवियो ने कही भी ईश्वर की इस प्रकार की विशिष्ट-अद्वैतता का उल्लेख नहीं किया।"[1]

नन्ददास ने ब्रह्म के अन्य अवतारों के प्रति भी अपनी आस्था प्रकट की है। कृष्ण की शक्ति राधा की भी उन्होने उपासना की है और अनेक पदो मे कृष्ण और राधा के युगल रूप की लीला व स्तुति की है। राधा सम्बन्धी ये विचार उनमें हितहरिवंश के राधा-स्वामी सम्प्रदाय और हरिदास के टट्टी सम्प्रदाय आदि

1. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—पृ० ४१६

के प्रभाव स्वरूप प्रतीत होते हैं। किन्तु परब्रह्म सम्बन्धी उनका दृष्टिकोण कृष्ण के अवतारी रूप से ही है।

जीव :- पीछे कहा जा चुका है कि नन्ददास ने ईश्वर और जीव की अद्वैतता को स्वीकार किया है। वह ब्रह्म ही "सब भूतनि कौ विस्तार" है, वही जीव है। 'दशमस्कध-भाषा' मे वे वल्लभमत के अनुसार ही ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति अग्नि से स्फुलिंग के समान बताते है—

तुम परमेश्वर सब के नाथ। विस्व समस्त तिहारे हाथ ॥
छिनक मैं करौ, भरौ, सहरौ। ऊर्ननाभि लौ फिरि विस्तरौ ॥
तुम तै हम सब उपजत ऐसैं, अगिनि तैं विस्फुलिंग गन जैसे ॥

इन पक्तियों मे वल्लभ के अविकृत-परिणामवाद का भी उल्लेख हुआ है। वह ब्रह्म मकडी की भाँति ही अपने मे से अपना विस्तार करता है।

जीव रूप मे ब्रह्म के आनन्द तत्व का तिरोभाव रहता है। ऐश्वर्यादि गुणो के अभाव में जीव संसार की मोह-माया-ममता तथा देहादि के धर्मों मे फस जाता है। बद्धजीव और ईश्वर मे यह भेद है कि ईश्वर तो काल, कर्म और माया आदि के बन्धन से अलग हैं। माया उसके ही अधीन है, किन्तु इसके विपरीत जीव काल, कर्म और माया के वश में है। वह विधि-निषेध और पाप-पुन्य मे बंधा है —

काल-कर्म-माया अधीन ते जीव बखाने।
विधि-निषेध अरु पाप-पुन्य तिन मे सब सानें ॥१५॥
परम धरम परब्रह्म ज्ञान विज्ञान प्रकासी।
ते क्यो कहिए जीव-सदृश प्रति शिखर--निवासी ॥१६॥
कर्म काल अनिमादि योगमाया के स्वामी।
ब्रह्मादिक कीटात जीव सर्वान्तरजामी। १७॥ (सिद्धातपचाध्यायी)

संसार सागर में फंसे हुए जीवो की दशा पर करुणा करके ही भगवान् नन्दनन्दन रूप मे प्रकट हुए हैं—

बहे जात ससार धार जिय फदे फंदन।
परम तरुन करुना करि प्रकटे श्री नन्दनन्दन ॥ (सिद्धातपंचाध्यायी)

संसार में बद्धजीव जब ईश्वर के अनुग्रह से गुणमय शरीर के धर्मों को छोड़कर ईश्वर का नैकट्य प्राप्त कर लेता है, उसका भक्त बन जाता है, तो वह भी अपने सत्य आनन्द रूप को प्राप्त करके आनन्द लाभ करता है। जैसे सच्चिदानन्द रूप आनन्दी भगवान् हैं, वैसे ही उनके भक्त हो जाते हैं—

सघन सच्चिदानन्द नन्दनन्दन ईश्वर जस।
तैसेई तिनके भगत जगत में भये भरे रस ॥ —सिद्धांतपचाध्यायी

जिन गोपिकाओं ने शरीर-धर्म को छोड़कर कृष्ण का अनुसरण किया, वे तो कृष्ण के ही शुद्ध जोति-मय रूप हो गईं, किन्तु जो घर-बार, पति-पुत्र तथा गुणमय शरीर के मोह मे फँसी रही, वे बद्ध-जीव बनी पाप-पुन्य, प्रारब्ध आदि के चक्कर मे फँसी रही—

सुद्ध जोतिमय रूप पाँच भौतिक तें न्यारी।
तिन्हि कहा कोउ गहै जोति सी जग उजियारी।
जे रुकि गईं घर अति अधीर गुनमय सरीर बस।
पुन्न-पाप प्रारब्ध सच्यो तन नाहि पच्यो रस। (रासपंचाध्यायी)

जगत :- बल्लभाचार्य के अनुसार ही नन्ददास ने जगत को मिथ्या न बता कर सत्य कहा है। बल्लभ के अनुसार ही नन्ददास ब्रह्म को ही जगत का निमित्त कारण और उपादान कारण मानते हैं—

जो प्रभु जोति जगतमय कारन करन अभेव।
विधन हरन सब सुभ-करन, नमो नमो ता देव। (अनेकार्थमंजरी)

एक ही तत्त्व किस प्रकार अनेक रूपों मे परिणत होता है, इस बात को नन्ददास ने बल्लभ के ही अविकृतपरिणामवाद से समझाया है। जिस प्रकार सोने से बने हुए आभूषण नाना-रूप आकार ग्रहण करते हुए भी स्वर्ण ही हैं, उसी प्रकार जगत् के नाना-रूप-आकार सब परब्रह्म से ही प्रसूत हैं और उसी के अविकृत परिणाम हैं—

एकै वस्तु अनेक ह्वै जगमगात जग-धाम।
जिमि कंचन तें किंकिनी कङ्कण कुंडल नाम॥ (अनेकार्थमंजरी)

ऊर्णनाभ के वितान की तरह यह जगत उसका ही विस्तार है। इस का आधार ब्रह्म ही है, उसकी ही सत्ता जगत की सत्ता है। वह सत्य है तो जगत भी सत्य है—

ब्रह्म निरीह ज्योति अविकार। सत्ता मात्र जगत आधार ॥

जगत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में 'सिद्धातपचाध्यायी' मे नन्ददास ने वल्लभ के अनुसार ही २८ तत्वो से सृष्टि-रचना का वर्णन किया है। ये तत्व हैं—पच महाभूत, पचज्ञानेन्द्रियाँ, पंचकर्मेन्द्रियाँ, पच तन्मात्राएँ, अहकार, महत्तत्व (बुद्धि), तीन गुण (सत, रज, तम), मन और इनके अतिरिक्त पुरुष और प्रकृति —

रूप, गध, रस, शब्द, (स्पर्श) जे पच विषय वर।
महाभूत पुनि पच पवन पानी अम्बर धर ॥३॥
दस इन्द्रिय अरु अहकार महत्तत्व त्रिगुन मन।
यह सब माया कर विकार कहे परमहस गन ॥४॥

जगत जहाँ प्रभु-रूप है और सत्य है, वहाँ ससार अविद्या-जन्य है और मिथ्या भ्रम है। जीव को यह ससार भ्रम में डालता है। इस संसार की धार मे फँसे जीव नाना प्रकार के दुखों और कष्टो को सहते हैं। ससार असार है। 'रासपचाध्यायी' मे नन्ददास कहते हैं कि इस ससार मे अधकार चारो ओर छाया हुआ था और सब लोग अविद्या और अज्ञान के तिमिर मे फँसे दुःखो मे कराह रहे थे, उन्ही की ऐसी दशा देखकर भागवत रूपी चिता-मणि को प्रकट किया गया—

पसरि पर्यो अँधियार सकल ससार घुमडि घुरि।
तिमिर-ग्रसित सब लोक-ओक लखि दुखित दया कर।
प्रकट कियो अद्भुत-प्रभाउ भागवत-विभाकर ॥१४॥

दशम-स्कध-भाषा मे यमलार्जुन के प्रति नारद की उक्ति मे नन्ददास ने ससार-सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट किया है। नारद कहते है कि सांसारिक ऐश्वर्य बुद्धि को भ्रम मे डालने वाले और धर्म-विनाशक हैं। इस श्री और मद से पूर्ण संसार को छोड़कर ही मनुष्य त्राण पा सकता है।

माया :—वल्लभमत में माया के दो रूपों की कल्पना की गई है। एक प्रकार की माया भगवान् की आदि-शक्ति-स्वरूपा माया है, जो सृष्टि का पालन, सृजन व संहार करती है और दूसरी माया अविद्या है, जो मनुष्य में मोह-माया, ममता का संचार करके उसे फँसाए रखती है। इसी दूसरी माया अथवा अविद्या से आच्छादित होने पर जीव अपने ईश्वरीय गुणों एवं स्वरूपों को भूल जाता है। 'सिद्धांतपंचाध्यायी' में नन्दास ने आदि-शक्ति-माया का इस प्रकार वर्णन किया है। सब तत्वों से बनी हुई सृष्टि माया का ही परिणाम है—

> रूप, गंध, रस, सब्द, (स्पर्श) जे पंच विषय वर।
> महाभूत पुनि पंच पवन पानी अम्बर धर ॥३॥
> दस इन्द्रिय अरु अहंकार महत्तत्व त्रिगुन मन।
> यह सब माया कर विकार कहें परमहंस गन ॥४॥
> सो माया जिनकै अधीन नित रहत मृगी जस।
> विश्व-प्रभव-प्रतिपाल कारण आयसु-बस ॥५॥

इस प्रकार यह माया भगवान् के ही अधीन है और उसी की इच्छानुसार जगत का सृजन, पालन और संहार करती है। 'रासपंचाध्यायी' में कृष्ण स्वयं गोपियों से कहते हैं कि मेरी शक्ति माया ने समस्त विश्व को वश में कर रखा है, किन्तु तुम्हारी प्रेम-मयी-माया ने मुझे वश में कर लिया है—

> सकल विश्व अपवस करि मो माया सोहति है।
> मोह-मई तुम्हारी माया सोइ मोहिं मोहति है ॥१८॥

'भ्रमर-गीत' में भी नन्ददास ने ईश्वर के सगुणत्व की प्रतिष्ठा में आदिशक्ति-माया व अविद्या-जन्य माया में अन्तर स्पष्ट किया है। गोपिकाएँ उद्धव को कहती हैं—"ईश्वर सगुण ही है, और उसके गुणों की परछाईं ही उसकी माया (प्रकृति) के दर्पण में पड़ रही है। ईश्वरीय गुणों से साधारण प्राकृतिक गुण अविद्या के संसर्ग से ही भिन्न दीखते हैं। यदि अविद्या-माया का मैल अलग कर दिया जाय तथा प्रकृति-माया का माध्यम रूप दर्पण हटा

दिया जाय तो शुद्ध ब्रह्म ही अपने शुद्ध गुणों से प्रोद्भासित होगा—

वा गुण की परछाइँ री माया दरपन बीच।
गुण तें गुण न्यारे भये अमल बारि मिलि कीच ॥

'जिस माया के दर्पण का नन्ददास ने यहां उल्लेख किया है वह शंकर की मिथ्या माया का मिथ्या दर्पण नहीं है, यह दर्पण ब्रह्म की 'सत्' स्वरूपा प्रकृति की माया का दर्पण है। इसमें जो विजातीय विकार है, वह अविद्या रूपिणी माया की कीच है, जो अन्यथा प्रतीति कराती है। शंकरमत में सृष्टि ब्रह्म का परिणाम नहीं है।''

मोक्ष :—वल्लभ-सम्प्रदायी कृष्ण-भक्त अभेद-मुक्ति के स्थान पर भेद-मुक्ति की कामना करते हैं, जिसमें ब्रह्म का सामीप्य, सारूप्य और सालोक्य आनन्द प्राप्त होता है। नन्ददास ने भी इसी ब्रह्मानन्द-प्राप्ति का वर्णन किया है। वे स्पष्ट कहते हैं कि कृष्ण के सामीप्य का आनन्द करोड़ों स्वर्गों के सुख से भी अधिक है। भगवान् के पद-पंकज के सान्निध्य मात्र से पुष्टि-भक्त मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। अपने भक्तों के लिए प्रभु मुक्ति को भी सुलभ कर देते हैं—

अरु अपने भक्तन के हेतु। दुर्लभ मुकति सुलभ करि देतु ॥
तुव पदपंकज-नौका करिकै। पार परे भवसागर तरि कै ॥
पदपंकज के सन्निधि मात्र। तबहीं भये मुक्ति के पात्र ॥
तिन कौं भवसागर भयौ ऐसौ। गो-बच्छ-पद कौ पानी जैसौ ॥

(भाषा दशमस्कंध)

इस प्रकार भक्त जीवन-मुक्त हो जाता है। 'रूप मंजरी' में भी नन्ददास ने नित्यरास के आनन्द को स्वर्गादि के सब सुखों से उत्तम माना है। पुष्टि-भक्ति में मान्य सर्वोत्तम मोक्ष-अवस्था भगवान के लीला-आनन्द में भाग लेना ही मानी गई है। 'रूपमंजरी' में रूपमंजरी को कृष्ण की लीला-मात्र में भागी कराके नन्ददास ने उसे पुष्टि-भक्ति के मोक्ष की प्राप्ति कराई है। इस रास-वर्णन में कवि ने सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य व सायुज्य इन चारों प्रकार की मुक्तियों का वर्णन किया है। रास-सुख का आनन्द साधारण

आनन्द नहीं होता। इस आनन्दात्मक-मोक्ष की देवगण भी स्पृहा करते हैं। यह मुख्य अद्भुत सुख है—

यह अद्भुत रस-रासि कहत कछु नहिं आवै।
सुक सनकादिक नारद सारद अतिसय भावै ॥२॥ (रास पंचाध्यायी)

कृष्ण लीला :—अष्टछाप के सभी कवियों ने कृष्ण की लीलाओं को महत्त्व दिया है। उनके अनुसार, आनन्दमय ब्रह्म लीला के लिए ही अवतार धारण करता है। उसकी लीलाओं में भाग लेना ही जीव की सब से बड़ी विशेषता है। इन लीलाओं में भाग वही ले सकता है जो भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करके उस के प्रति आत्मसमर्पण की भावना रखता है गोपियां इस दृष्टि से भगवद्-आनन्द की सब से बड़ी अधिकारिणी हैं, क्योंकि उन्होंने लोकलाज आदि की कानि को छोड़ कर कृष्ण का अनुग्रह प्राप्त करके उसके प्रति पूर्णतया आत्मसमर्पण किया है। नन्ददास ने 'रास-पंचाध्यायी', 'भंवर-गीत', 'सिद्धांत-पंचाध्यायी' आदि ग्रंथों में अनेक स्थलों पर इस भावना को प्रकट किया है। नन्ददास का निम्न प्रसिद्ध पद उनके कृष्ण-लीलाओं के नैकट्य की अभिलाषा से ही सम्बन्धित है—

देखो देखो री नागर नट निर्तत कालिंदी तट।
गोपिन के मध्य राजे मुकुट लटक।
× × × × ×
नन्ददास गावै तहँ निपट निकट ॥ ११३ ॥ (पदावली)

गोकुल वृन्दावन :—अन्य पुष्टि-मार्गीय कवियों की तरह नन्ददास ने भी वृन्दावन-धाम को भगवान् का नित्य-धाम बताया है। इसकी महत्ता का वर्णन करते वे नहीं अघाते। ब्रज-प्रेम में कवि कहता है कि मुझे नन्दगाम बहुत भाता है—

नँद-गाउँ नीको लागत री।
प्रात समें दधि मथत ग्वालिनी, विपुल मधुर-धुनि गाजत री॥
धन गोपी धन ग्वाल संग ब्रज के, जिनके मोहन उर लागत री।

× × × × ×

"नन्ददास" प्रभु-कृपा कों इहि फल, गिरिधर देखि मन जागन री ।।२१।।

ब्रह्मादि देवता भी इस भूमि के रजकरण को प्राप्त करने के लिए लालायित रहते हैं। इस वृन्दावन की रज की तुलना बैकुंठ लोक भी नहीं कर सकता। जो जीव कृष्ण का अनुग्रह प्राप्त करके इसका अधिकारी होता है, वही इस रज को पा सकता है, अन्य नहीं

जो रज ब्रज वृन्दावन आहि, बैकुंठादि लोक मैं नाहि।
जो अधिकारी होय सो पावै, बिन अधिकारी भये न आवै।

'रासपंचाध्यायी' और 'सिद्धांत पंचाध्यायी' में नन्ददास ने कृष्ण के इस नित्य-लीला-धाम[1] को कृष्ण की ही चिर-शक्ति का स्वरूप माना है। जब जब लीला के हेतु कृष्ण अवतार लेते हैं, तब-तब वे अपनी शक्ति द्वारा नित्य-लीलाधाम के अनुसार ब्रज-वृन्दावन, गोकुल आदि प्रकट करते हैं। इस वृन्दावन में परमात्मा, परब्रह्म, अन्तर्यामी कृष्ण, बाल, कुमार कृष्ण नित्य लीला किया करते हैं—

अस अद्भुत गोपाल लाल सब काल बसत जहां।
ताहि तें बैकुंठ-विभव कुण्ठित लागत तहां।। (रास पंचाध्यायी)

इस वृन्दावन ने कृष्ण लीला के कारण ही जड़ता को धारण किया है, अन्यथा यह भी चैतन्यस्वरूप है—

श्री वृन्दावन चिद्घन कछु छवि बरनि न जाई।
कृष्ण-ललित लीला के काज धरि रह्यौ जड़ताई।।
(रास पंचाध्यायी)

इस प्रकार नन्ददास ने ब्रज और वृन्दावन का वर्णन बल्लभ-सम्प्रदाय में मान्य रसरूप-पुरुषोत्तम श्री कृष्ण के लीला-धाम के रूप में किया है।

रसखान के प्रसिद्ध सवैये—"मानुषहौं तो वही रसखान..." की भाँति नन्ददास भी ब्रज-भूमि के प्रति अपने अटूट प्रेम को प्रकट करते हुए

---

१. श्री वृन्दावन चिद्घन छुन छुन धन छवि पावैं।
नंद सूनु को नित्य-सदन अतिगण जिहि गावैं ।।२०।। (सिद्धांतपंचाध्यायी)

कहते हैं—

जो गिरि रुचें तो बसों श्रीगोबर्धन, गाम रुचे तो बसों नन्द गाम।
नगर रुचें तो बसों श्रीमधुपुरी सोभा सागर अति अभिराम।।
सरिता रुचें तो बसों श्रीजमुना तट सकल मनोरथ पूरन काम।
'नन्ददास' कानन रुचि बसवो सिखर भूमि श्रीवृन्दावन धाम।।२२।।

(पदावली)

वेणु :—नन्ददास ने मुरली को 'योग माया' और 'शब्द ब्रह्म' के रूप में वर्णित किया है। वह ब्रह्म का आह्वान है। वैदिक साहित्य में ही हमें शब्द-ब्रह्म की महत्ता मिलती है। बल्लभाचार्य ने एक श्रुति उद्धृत की है –

यदा खलु पुरुषः श्रियमश्नुते वीणा अस्मै वाद्यते।

(वेणुगीत, सुबोधिनी पृ० २२)

इससे स्पष्ट है कि आदि काल से ब्रह्म की अनुकम्पा को रूपक रूप में वीणा-स्वर अथवा वेणु-गीत के रूप में प्रकाशित किया गया है। स्कंद-पुराण में तो 'शब्द' और ब्रह्म को एकान्ततः एक ही कह दिया गया है—

शब्द ब्रह्म पर ब्रह्म नानयोर्भेद दृष्यते।

(स्कन्द-पुराण, विष्णु खण्ड २८)

नन्ददास ने एक स्थान पर मुरली को योगमाया भी कहा है—

तब लीनी कर-कमल, जोगमाया-सी मुरली।
अघटित घटना चतुर, बहुरि अधरासव जुरली।।
जाकी ध्वनि तें निगम अगम प्रगटे बड़ नागर।
नाद ब्रह्म की जननी, मोहिनी, सब सुखसागर।। (रासपंचाध्यायी)

यह योगमाया भगवान् की शक्ति है। बल्लभाचार्य ने इसके लिए 'भगवच्छक्तिः' शब्द का प्रयोग किया है—

या जगत्कारणभूता भगवच्छक्तिः सा योगमाया।

(सुबोधिनी १०–१–५)

भगवद्-प्राप्ति के लिए प्रेम का मार्ग (भक्ति का मार्ग) ही उत्तम है, यह विचार भी नन्ददास के काव्य में कई स्थानों पर व्यक्त हुआ है। 'भँवर-

गीत' में तो उन्होंने गोपियों के द्वारा इसकी बड़े तार्तिक ढंग से व्याख्या की है। जिसकी साधना योगी बड़े कष्ट उठाकर करते हैं, वही ब्रह्म प्रेम-मार्ग से सहज-साध्य हो जाता है। इस प्रेम की आदर्श गोपियां हैं, जिन्होंने लोक-वेद-शरीरधर्म और समाज की लाज आदि सबका ध्यान छोड़ कर कृष्ण-प्रेम को अपनाया। पुष्टि-मार्ग में मर्यादा, ज्ञान और कर्म का बाध है, भगवान् की प्रेमासक्ति ही साध्य है। 'भँवर गीत' में अन्त में उद्धव पुष्टि-माग के प्रेम-तत्व की इस प्रकार प्रशंसा करने लगता है—

जे ऐसैं मरजाद मेटि, मोहन कौं धावें,
क्यौं नहिं परमानन्द, प्रेम-पदवी कौं पावें
ग्यान जोग सब कर्म तैं, प्रेम परे है सांच
हौं नहीं पटतर देत हौं, हीरा आगे कांच ॥
विषमता बुद्धि की ॥६४॥ (भ्रमरगीत)

परन्तु इस लोक-मर्यादा के लोप को कोई व्यभिचार न समझ ले, इसलिए नन्ददास स्थान-स्थान पर सचेत करना चाहते हैं कि यह प्रेम-कथा अथवा प्रेम-मार्ग व्यभिचार नहीं, शुद्ध प्रेम-मार्ग है—

कृष्ण तुष्ट करि कर्म करै जो आन प्रकारा।
फल बिभचार न होइ होइ सुख परम अपारा ॥
जे पंडित शृंगार ग्रंथ मत यामैं सानैं।
ते कछु भेद न जानैं हरि को विषई मानैं ॥ सिद्धान्त पंचाध्यायी)

नन्ददास ने तो स्पष्ट कहा है कि विषयी और कामी मनुष्य प्रभु-प्रेम को प्राप्त नहीं कर सकता। जब तक गोपियों के मन से काम-वासना की मलिनता जल कर समाप्त नहीं हो गई, तब तक वे कृष्ण-उपलब्धि न कर सकीं—

नहिं कछु इन्द्रिय-गामी कामी कामिनि कै बस।
सब घट अंतरजामी स्वामी परम एक रस ॥ (सिद्धान्त पंचाध्यायी)

गोपियों ने जो सुत-पति और गेह की मर्यादा को छोड़ा, वह इस लिए

ही कि ये सब बातें देह-धर्म से ही सम्बन्धित होने के कारण दुःख और क्लेश देने वाली ही हैं—

दार गार सुत-पति इन करि (कहो) कवन आहि सुख।
बढ़ै रोग सम दिन दिन छिन छिन देहिं महा दुःख ॥
(सिद्धान्त पंचाध्यायी)

इस प्रकार नन्ददास के काव्य में पुष्टिमार्ग के सभी विधि-विधान और सिद्धान्त पाए जाते हैं। कृष्ण की सभी लीलाओं तथा सेवाओं का वर्णन भी नन्ददास के पदों में मिलता है। सच तो यह है कि पुष्टि-मार्ग का जितना स्पष्ट विवेचन नन्ददास ने किया है, उतना किसी भी पुष्टि-मार्गीय कवि ने नहीं किया। पुष्टि-भक्ति का स्पष्ट रूप में निरूपण नन्ददास की रचनाओं में हुआ है। इनकी पुष्टि-भक्ति को हम आगे विस्तार के साथ दिखाएँगे, यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि नन्ददास का काव्य पूर्णतया पुष्टि-मार्गीय-काव्य है।

अष्टछाप—महत्त्व और काव्यगत विशेषताएँ

'अष्टछाप हिन्दी की अष्टधातु की मुद्रा है, जिसकी अमिट छाप हिन्दी भाषा और साहित्य पर बहुत गहरी है।' अष्टछाप की ही यह विशेषता है कि मध्यकाल के विद्वेष, कुचक्र, घृणा और पारस्परिक वैमनस्य के जलते वातावरण में उसने धर्म, दर्शन, काव्य और कला की ऐसी सुशीतल स्रोतस्विनी बहाई, जिससे आज तक सहृदय रससिक्त और आनन्दमग्न होते आए हैं। यह अष्टछाप ही है जिसने मध्ययुग की एक ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति की। इसी की प्रेरणा से समस्त भारतीय जीवन कृष्ण-भक्ति से आनन्दित हो उठा; चारों ओर मन्दिरों में कृष्ण-संकीर्तन की पवित्र, मधुर और संगीतमय ध्वनि से मानव-मन का चिर-सुप्त राग गुंजरित हो उठा। हमारे धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और सामाजिक जीवन में अष्टछाप, निस्संदेह, एक जीवन-संचारिणी लहर बन कर आई। इसका, इसके प्रवर्त्तक आचार्यों का, इसके रस-सिद्ध कवियों का हिन्दी-जगत में सर्वोच्च महत्त्व है।

अष्टछाप वल्लभसम्प्रदाय का ही साहित्यिक रूप है। वल्लभाचार्य के पश्चात् गोसाईं विट्ठल नाथ ने वल्लभ-सम्प्रदाय को पूर्ण व्यवस्थित और संगठित करने का प्रयत्न किया। इसी साम्प्रदायिक व्यवस्था और प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने अष्टछाप की स्थापना की। वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टि-मार्ग में अनेक भक्त दीक्षा ले चुके थे। गोसाईं विट्ठल नाथ जी के गद्दी पर बैठने के समय तक कई भक्त-कवि बहुत से सुन्दर-सुन्दर पदों की रचना ठाकुर जी के चरणों में समर्पित कर चुके थे। उनमें से गोसाईं विट्ठल नाथ जी ने सर्वोत्तम आठ कवि-गायकों को चुनकर 'अष्टछाप' की प्रतिष्ठा की। उन्होंने चार अपने पिता वल्लभाचार्य के प्रिय शिष्यों और चार अपने प्रिय-सेवकों को, जो सम्प्रदाय में प्रभु-लीलागान की दृष्टि से सर्वप्रमुख थे, अष्टछाप में सम्मिलित किया और उनपर अपनी कृपा की छाप लगाई। वल्लभाचार्य के शिष्य थे—

सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास और कृष्णदास। विट्ठल नाथ जी ने अपने प्रिय चार शिष्यों में गोविन्द स्वामी, छीत स्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास को छाँटा।

अष्टछाप की यह स्थापना कब हुई, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मत-भेद है। डा० दीनदयाल गुप्त ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय' में इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का विवेचन ही नहीं किया। श्री कंठमणि शास्त्री के अनुसार इसकी स्थापना संवत् १५९८ में हुई। किन्तु श्री द्वारिका-प्रसाद परीख संवत् १६०२ को अष्टछाप का स्थापना काल मानते हैं। 'प्राचीन वार्ता रहस्य' के एक चित्र से भी अष्टछाप का स्थापना काल संवत् १६०२ प्रकट होता है। वार्ता साहित्य से ज्ञात होता है कि गोसाई विट्ठल नाथ सम्प्रदाय की गद्दी पर संवत् १५९८ के पश्चात् ही बैठे। अतः उन्होंने भी गद्दी पर बैठने के कम से कम एक दो वर्ष बाद ही अष्टछाप की यह ऐतिहासिक स्थापना की होगी। अतः सं० १५९८ अष्टछाप का स्थापना काल मान्य नहीं हो सकता। नन्ददास का जन्म संवत् १५९० के लगभग सर्वमान्य है। उनका बल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षा का समय भी हमने संवत् १६१६ ही उचित ठहराया है। अतः सम्प्रदाय में दीक्षा के समय (सं० १६१६) से पूर्व उनके साथ अष्ट-छाप की स्थापना का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। श्री प्रभुदयाल मित्तल[1] ने भी सं० १६०२ को ही अष्टछाप का स्थापना काल मान लिया है। किन्तु संवत् १६०२ को अष्टछाप का स्थापना काल मानना भ्रमपूर्ण है। बड़े मज़े की बात यह है कि मित्तल जी विट्ठल नाथ जी का आचार्यत्व-ग्रहण सं० १६०७ मे मानते हैं। उनका कथन है—"सं० १६०७ में विट्ठल नाथ जी को विधि-पूर्वक पुष्टि-सम्प्रदाय का आचार्य बना दिया गया। अब वे साम्प्रदायिक उन्नति और ग्रंथ-निर्माण के कार्य में लग गए।"[2]

'सम्प्रदाय कल्पद्रुम' से पता चलता है कि गोस्वामी विट्ठलनाथ जी सं० १५९७ में गिरिधर जी के जन्म (प्राकाट्य) के पश्चात् नन्द महोत्सव

१. दे० अष्टछाप परिचय पृ० ६८। २. वही पृ० ३२

करके ब्रज में आए। उसी समय के लगभग कुंभनदास जी ने अपने नवजात पुत्र चतुर्भुजदास को, उसके जन्म के ४१ वें दिन, स्वामी जी की शरण में भेंट किया था। जब नन्ददास का जन्म संवत् १५९० सर्वमान्य है और चतुर्भुजदास का सं० १५९७ का अन्तिम मास, तो फिर क्रमशः १२ और ५ वर्ष की अवस्था में उन्हें सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ कवि, गायनाचार्य और भक्त कैसे मान लिया गया? अतः अष्टछाप का स्थापना काल संवत् १६०२ मानना बिल्कुल अनुचित है। हमारा अनुमान है कि वैसे तो सम्प्रदाय मे सूरदास, परमानन्द-दास और कुंभनदास आदि चार-पांच उच्च कोटि के भक्तों को वल्लभाचार्य के समय से ही प्रधानता मिली हुई थी, और उनमें भी सूरदास प्रमुख थे, परन्तु अष्टछाप की विधिवत् स्थापना संवत् १६१६ में ही संभव हुई होगी। नन्ददास संभवतः अष्ट-कवियों में सब से बाद में दीक्षित हुए थे, अतः संवत् १६१६ में नन्ददास को पाकर गोस्वामी विट्ठल नाथ जी ने अष्ट-सखान की माला की पूर्ति की होगी। इस समय आठों कवि जीवित थे, और कोई भी अपने शैशव काल में नहीं था।

'श्री गोवर्धन नाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' (सम्पादक मोहनलाल-विष्णुलाल पांड्या) के पृ० २७ पर लिखा मिलता है—"जब श्री गोवर्धननाथ जी प्रकट भये तब अष्ट सखाहू भूमि में प्रगट भये, अष्टछाप रूप होय कें सब लीला को गान करत भये। तिनके नाम को छप्पय श्री द्वारकानाथ जी महाराज-कृत—

"सूरदास सो तो कृष्ण, तोक परमानन्द जानो,
कृष्णदास सो ऋषभ, छीत स्वामी सुबल बखानो।
अर्जुन कुंभनदास, चत्रभुजदास बिशाला,
विष्णुदास सो भोजस्वामी, गोविन्द श्री दामाला।
अष्टछाप आठों सखा श्री द्वारकेश परमान,
जिनके कृत गुनगान करि निज जन होत सुथान।"

इस छन्द में नन्ददास के स्थान पर विष्णुदास लिखा है। 'गोवर्धन जी

के प्राकट्य की वार्ता' की कई हस्तलिखित प्रतियों में द्वारकानाथ जी का यह छप्पय नहीं है। '८४ वार्ता', 'चार सेवकन की वार्ता' आदि सभी रचनाओं से नन्ददास का अष्टछाप के प्रसिद्ध भक्तवर्ग के अन्तर्गत होना सिद्ध होता है। अतः यह छप्पय संदिग्ध है। वल्लभसम्प्रदाय में द्वारकानाथ नाम के कई आचार्य हुए हैं। संभवतः किसी बाद के आचार्य द्वारकानाथ ने अपनी असावधानी के कारण नन्ददास को विष्णुदास कह दिया। हरिराय जी की 'भावप्रकाश' में नन्ददास का ही नाम भोज सखा के रूप में है। 'भावप्रकाश' में हरिराय जी ने इन अष्ट-भक्तों के सखा-सखी रूप का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—

"जब श्री ठाकुरजी आप बन में गोचारन लीला में सखान के संग पधारत है, सो सगरी गोपीजन लीला को अनुभव करत हैं। सो घर में सगरी वन की लीला गान करत हैं। ता पाछें जब श्री ठाकुरजी संध्या समय बनतें घरकूँ आवत है, ता पाछे रात्रि को गोपीजन सों निकुंज में लीला करत हैं। सो तब अन्तरंगी सखान को विरह होत है, तब वे निकुंज लीला को गान करत हैं, अनुभव करत हैं। सो काहे तें ? कुंज में सखीजन हैं सो तिनके दोय रूप हैं—पुंभाव मे सखा और स्त्री भाव की सखी। सो दिन में सखा द्वारा अनुभव तथा रात्रि कों सखी द्वारा अनुभव है।"

अष्टछाप का साम्प्रदायिक महत्त्व :—इस प्रकार अष्टछाप के इन भक्तों के समस्त लीलात्मक रूपों को निम्न तालिका से समझा जा सकता है—

नाम-भक्त	सखा	सखी	भगवदंग	विभिन्न स्वरूपासक्ति
सूरदास	कृष्णसखा	चम्पकलता	वाक्	श्री मथुरेश जी
परमानन्ददास	तोक	चन्द्रमाला	जिह्वा	श्री नवनीतप्रिय जी
कुंभनदास	अर्जुन	विशाखा	श्रोत्र	श्री गोवर्धन नाथ जी
कृष्णदास	ऋषभ	श्री ललिता		
छीत स्वामी	सुबल	पद्मा	मुख	श्री विट्ठल नाथ जी
गोविन्द स्वामी	श्रीदामा	भामा	नेत्र	श्री द्वारिकाधीश जी
चतुर्भुजदास	विशाल	विमला	त्वचा	श्री गोकुल नाथ जी
नन्ददास	भोज	चन्द्ररेखा	उदर	श्री गोकुल चन्द्र जी

अष्टछाप के उपर्युक्त कवियों का हिन्दी-साहित्य में ही काव्य की उत्कृष्टता आदि की दृष्टि से महत्त्व नहीं है, पुष्टि-सम्प्रदाय मे भी इनका विशेष महत्त्व रहा है। इन्हें पुष्टि-सम्प्रदाय में अष्ट सखान के रूप में ख्याति प्राप्त थी। इस सम्प्रदाय में, जैसा कि वार्ता के उद्धरण से दिखाया जा चुका है, यह मान्यता है कि अष्टछाप के ये आठों महानुभाव ही श्रीनाथ जी के अंतरंग सखा है, जो उनकी नित्य-लीला में सदैव उनके साथ रहते हैं, और ये अष्ट-सखा श्रीनाथजी के गोवर्द्धन पर्वत पर प्रकट होने के साथ ही उनकी लीला के हेतु भूलोक में अवतरित हुए हैं। इस प्रकार इनका साम्प्रदायिक महत्त्व भी बहुत अधिक है।

अष्टछाप का धार्मिक महत्त्व :—अष्टछाप-काव्य का धार्मिक महत्त्व अक्षुण्ण है। भक्ति-रस से पूर्ण इनके असंख्य पद आजतक भक्तों को भगवत्प्रेम से रस-सिक्त करते आए हैं। मध्ययुग के उस भक्ति से पूर्ण वातावरण की आज हम केवल कल्पना ही कर सकते है, जबकि अनेक भक्त अष्टछाप के पदों को गा गा कर मस्त हो जाते थे, और प्रभु के चरणों में बड़े आनन्द से लोटते थे। अष्टछाप के कवियों की यह धार्मिक गूंज समग्र देश मे फैली। सब स्थानों पर इस सरस भक्ति को बड़े आनन्द और चाव से अपनाया गया। वास्तव में इस भक्ति भावना की सरसता का ही परिणाम है कि देश के कोने कोने में इस सरस भक्ति को स्थान मिला।

कर्म-काण्ड और ज्ञान-मार्ग की कष्ट साधना एवं शुष्कता तथा निर्गुण-वाद का विरोध करके इन भक्तों ने सगुण प्रेम-लक्षणा-मधुर-भक्ति की प्रतिष्ठा की। भारत के धार्मिक इतिहास में वैष्णवी-भावना का इतना प्रचार संभवतः गुप्त काल में भी नहीं हुआ था जितना इन अष्ट कवियों के सहयोग मे सोलहवीं और सतारहवी शताब्दियों में हुआ। निस्संदेह हमारी धार्मिक-भावना को नया रूप देने, उसे उत्तेजित करने और उसका समुचित प्रचार करने में अष्ट-कवियों का महत्त्वपूर्ण योग है। सैंकड़ों-हज़ारों वर्षों के निवृत्तिमार्ग को इन कवियों ने प्रवृत्तिमार्ग मे परिवर्तित कर दिया।

कलात्मक देन :—अष्टछाप की स्थापना में गोसाईं विट्ठलनाथ जी का उद्देश्य यही था कि प्रभु-लीला-गान से सम्बन्धित पदों का गायन मन्दिरों

में ठाकुर जी की झाँकी के समय प्रतिदिन होता रहे। उन्होंने ठाकुर जी की पूजा के सभी स्थानों पर यह आज्ञा भेजी हुई थी कि अष्टसखान के लीलापदों द्वारा ठाकुर जी की भक्ति का यह क्रम निरन्तर चलता रहे। नित्य और नैमित्तिक अवसरों तथा वर्षोत्सवों पर कृष्ण-लीला-गान कीर्तनों द्वारा बराबर होता था। अष्टछाप की स्थापना के पश्चात् संगीत-कीर्तन की उचित व्यवस्था हुई। अष्टछाप के प्रायः सभी कवि संगीत-कला के पूर्ण मर्मज्ञ थे। अतः इन्होंने भिन्न भिन्न रागरागिनियों में संगीतमय पदों की रचना की। इनके पदों द्वारा कीर्तन की व्यवस्था करने वाले कीर्तनकारों को संगीत-शास्त्रानुसार गान, वाद्य, स्वर, ताल आदि का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक था। कीर्तनों की इस योजना से संगीत-कला का, विशेष रूप से संगीत की ध्रुपदशैली का, बहुत विकास हुआ। तानसेन जैसे विश्व-प्रसिद्ध गवैये भी सूरदास, नन्ददास आदि अष्टछाप के कवियों की कला का सम्मान करते थे।

वास्तव में अष्टछाप की यह संगीत-माधुरी संगीताचार्यों एवं गानाचार्यों को इतनी भाई कि बड़े-बड़े 'उस्तादों' ने—हिन्दू हों चाहे मुसलमान—उनको अपनाया। एक तरह से तानसेन जैसे विश्व-विख्यात गवैये के निर्माण में भी अष्टछाप का योगदान है। संगीत-कला, काव्यमाधुरी और प्रेम की सरस झंकार ने उस युग में ऐसा सम्मोहन-सा उत्पन्न किया कि हिन्दू तो क्या मुसलमान भी कृष्ण-प्रेम का राग अलापने लगे। अष्टछाप के कवियों की रचनाएँ भी इन्हीं गायकों द्वारा सुरक्षित रहीं, अन्यथा इतने दीर्घ काल में उनका अस्तित्व बना रहना कठिन था। अनेक कीर्तन-पद-संग्रहों, राग रागिनियों की पुस्तकों तथा गायक समाज में अष्टछाप की ये रचनाएँ सुरक्षित रहीं और अब भी सुरक्षित हैं।

संगीत कला के अतिरिक्त अन्य कलाओं पर भी अष्टछाप का प्रभाव पड़ा है। चित्रकला, वास्तु-कला, कृष्ण के भोगादि की व्यवस्था के कारण पाकादि कलाओं को भी अष्टछाप के द्वारा उत्तेजना मिली।

सामाजिक महत्त्वः— अष्टछाप का सामाजिक महत्त्व भी किसी प्रकार

कम नहीं। वैसे तो यह सम्प्रदाय भगवद्लीला से ही सम्बन्धित रहा है, किन्तु अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण की सेवा-विधियों में तनुजा-सेवा के अन्तर्गत व्यक्तिगत शुद्धता एवं आचरण की पवित्रता को भी महत्त्व दिया है। बहुत से आलोचक इन कवियों की भक्ति में नैतिकता का अभाव मानते हैं, किन्तु यह बात नितान्त भ्रमपूर्ण है। आचरण की शुद्धता को अष्टछाप में पूर्ण महत्त्व प्राप्त है। इन कवियों ने स्थान-स्थान पर कृष्ण-कृपा प्राप्ति में विषय-वासना को बाधक ठहराया है। समस्त जाति को कृष्ण-भक्ति-भावना की एक लड़ी में पिरोकर अष्टछाप के कवियों ने जातीयता की भावना भी उत्पन्न की। विधर्मी संस्कृति और धर्म के आघातों से जाति की रक्षा का श्रेय भी अष्टछाप को है। अकबर जैसे मुग़ल शासक की प्रेम और सहिष्णुतापूर्ण नीति के निर्माण में भी अष्टछाप का महत्त्वपूर्ण योग है। रहीम, रसखान जैसे मुसलमान दरबारियों में भी हिन्दू-भावना और कृष्ण-प्रेम को उत्पन्न करने का महत्त्वपूर्ण कार्य इसी द्वारा हुआ।

साहित्यिक महत्त्व :—अष्टछाप-काव्य का साहित्यिक महत्त्व सर्वविदित है। वास्तव में हिन्दी साहित्य में यदि किसी एक काव्य-धारा का सर्वाधिक प्रभाव हम कह सकते हैं तो अष्टछाप-काव्य-धारा का। इसके द्वारा ब्रज भाषा-काव्य को विशेष प्रश्रय मिला। अष्टछाप की स्थापना से पूर्व ब्रज-भाषा साहित्य का अधिक प्रचार नहीं था। ब्रज-भाषा में सूरदास से पहले कुछ छुट-पुट रचनाएँ अवश्य मिलती हैं, किन्तु शुद्ध साहित्यिक ब्रज भाषा के सूरदास ही बाल्मीकि कहे जाते हैं। ब्रज-भाषा-काव्य का प्रसार अष्टछाप की महत्त्वपूर्ण देन है। अष्टछाप के कवियों के ही अनुकरण पर वैष्णव धर्म के कई अन्य सम्प्रदायों ने भी ब्रज-भाषा काव्य की वृद्धि की। अष्टछाप के ही प्रसाद से दीर्घ काल तक ब्रजभाषा-काव्य की बहुत उन्नति होती रही। हिन्दी कविता में ब्रज-भाषा की ऐसी प्रतिष्ठा रही, कि आधुनिक भारतेन्दु काल तक बल्कि वर्तमान काल तक हम कृष्ण-काव्य का प्रणयन मुख्य रूप से इसी ढंग पर पाते हैं।

ब्रज भाषा के गद्य-साहित्य और गद्य-रूप की उन्नति का श्रेय भी किसी अंश में अष्टछाप को प्राप्त है। यद्यपि अष्टछाप के कवियों ने स्वयं गद्य-रचना नहीं की, तथापि उनके प्रासंगिक चरित्र वार्ता-रूप में ब्रज-भाषा गद्य में रचे गए, जिनका भाषा की महत्ता के अति रक्त ऐतिहासिक महत्त्व भी बहुत अधिक है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता,' 'अष्टसखान की वार्ता' आदि कई ग्रंथों द्वारा ब्रज-भाषा-गद्य का विकास हुआ। यह बात दूसरी है कि किन्हीं ऐतिहासिक कारणों से एवं ब्रज-भाषा के आगामी विकास के रुक जाने से ब्रज-भाषा-गद्य खड़ी बोली के सामने टिक न सका।

अष्टछाप के काव्य का क्षेत्र सीमित है। केवल कृष्ण की विविध लीलाओं का चित्रण ही इन कवियों का विषय रहा है। परन्तु इस सीमित क्षेत्र में भी भाव, भाषा, रस और शैली आदि सभी दृष्टियों से इन कवियों ने हिन्दी साहित्य को पुष्ट किया। अष्टछाप के काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें भाव-प्रवणता खूब पाई जाती है। लाखों की संख्या में अत्यन्त उच्चकोटि के सरस पदों की जो मन्दाकिनी इन कवियों द्वारा प्रवाहित हुई, उससे आज तक सहृदय रस-सिक्त होते आए हैं, और आगे होते रहेंगे। अष्टछाप-कवियों का भाव-पक्ष बहुत सबल है। जीवन के नाना पक्षों की ओर इन कवियों का ध्यान नहीं गया, क्योंकि इनका उद्देश्य केवल प्रभु-लीला-गान ही था। इस कारण विभिन्न प्रकार के मानवीय भावों का समावेश इनमें नहीं पाया जाता। अपने सीमित क्षेत्र मे भावों की गहराई इनमें अपूर्व है। सूरदास परमानन्ददास और नन्ददास इस दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं।

इन कवियों ने रति-भाव का बड़ा व्यापक चित्रण किया है। ये कवि कोमल-रसों के ही कवि हैं। रति के तीन प्रमुख रूप—वात्सल्य-रति, दाम्पत्य-रति एवं भगवद्-रति का बहुत विस्तृत और गंभीर तथा मनोवैज्ञानिक चित्रण इनके काव्य में मिलता है। शृंगार और वात्सल्य रसों को इन कवियों ने, विशेषकर अंधे सूरदास, परमानन्ददास और नन्ददास ने पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। शृंगार रस अष्टछाप के कवियों में सर्वाधिक है। सूरदास और परमा-

नन्ददास वात्सल्य-रस चित्रण में अपूर्व है। बाल मनोविज्ञान, माता के अन्तरतम का अथाह भाव-सागर तथा वात्सल्य के संयोग-वियोग दोनों पक्षों की अनेक मनोवैज्ञानिक झाँकियां, जिस पूर्णता से सूरदास ने प्रस्तुत की है, वे विश्व साहित्य में बेजोड़ हैं। बालमनोविज्ञान और माता के वात्सल्य पूर्ण हृदय के सूरदास अपूर्व पारखी थे।

ब्रज-विहारी-कृष्ण की मधुर-मूर्ति के सामने तम्बूरा लेकर अंधे गायक सूरदास तथा उसके साथी कवियों ने न जाने कितने पदों में अपने भावोच्छ्वासों को संगीतमयी लहर में अपने प्रभु के चरणों में समर्पित किया है। श्री वियोगी हरि के शब्दों में, "उस युग में इन भक्त-सत्कवियों ने प्रेम-जाह्नवी की दिव्य-दिव्य धाराएँ बहा दी थीं। दसों दिशाओं मे जगमोहन ही मधुर-मधुर बांसुरी गूंजने लगी थी। सहस्त्रों संसार-परितप्त जीव सुशीतल प्रेम निकुंज की सुखद छाया में विश्राम और शांति पाने लगे। सैंकड़ों प्रेमोन्मत्त भक्त आपे को भूलकर नाच उठे थे।"

शृंगार-रस के विभिन्न प्रसंगों के अनेक सुन्दर शब्द-चित्र, भाव-चित्र और ध्वनि-चित्र सूर, नन्ददास और परमानन्ददास के काव्य मे मिलते हैं आगामी युग के रीति-काव्य की पृष्ठ भूमि के निर्माण में भी इनका महत्त्व-पूर्ण योग है। शृंगार-रस का इन कवियों का चित्रण कुछ-कुछ शास्त्रीय ढंग का-सा हो गया है। इन कवियों ने रीति काल के कवियों की तरह नायिका-भेद के स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखे--जैसे नन्ददास की 'रसमंजरी'। सभी प्रकार की नायिकाओं--स्वकीया, परकीया, अज्ञात-यौवना, मुग्धा, मध्यमा, ऊढ़ा, प्रौढ़ा, खण्डिता इत्यादि का वर्णन इनके काव्य में मिलता है। पूर्व-राग, मान, उपालम्भ, प्रवास आदि का भी पूर्ण वर्णन पाया जाता है। इन कवियों का नख-शिख वर्णन भी बहुत विस्तृत है। काल, अवस्थाओं और परिस्थितियों के अनुसार राधा-कृष्ण की रूप-माधुरी के अनेक शब्द-चित्र अष्टछाप के काव्य में मिलते है। नायक के भी अंग-प्रत्यंग का वर्णन अष्टछाप के अतिरिक्त और कहाँ मिल सकता है? अपने उपास्यदेव के विविध अंगों का पृथक्-पृथक् वर्णन इन्होंने बड़ी मनोहारिता के साथ किया है।

भक्ति-भावना :—अष्टछाप का समस्त काव्य भक्ति-भावना से ओत-प्रोत है। आध्यात्मिक संकेत सभी वर्णनों में पाए जाते हैं। वस्तुतः ये कवि भक्त पहले हैं, कवि बाद में। ये सभी सिद्ध कोटि के महात्मा थे। भक्ति के कई रूप इस काव्य में मिलते हैं—१. माधुर्य-भक्ति, २. वात्सल्य-भक्ति, ३. सख्य-भक्ति, और ४. शांत-भक्ति। किन्तु इन सब का आधार पुष्टि-मार्गीय-भक्ति है, जिसमें प्रभु के प्रति सर्वभावेन समर्पण की भावना रहती है।

अष्टछाप-काव्य का महत्त्व इस दृष्टि से भी बहुत है कि इसके कवि हिन्दी साहित्य में अनेक परम्पराओं के प्रतिष्ठापक हैं। हिन्दी में भ्रमर-गीत काव्य की परम्परा इन्हीं द्वारा प्रचलित हुई। नख-शिख-वर्णन, षड्ऋतुवर्णन आदि पर स्वतंत्र ग्रंथों की रचना आगे के कवियों ने बहुत-कुछ इन्हीं के अनुकरण पर की। सूरदास और नन्ददास के भ्रमरगीत हिन्दी साहित्य की उच्च कोटि की काव्य-रचनाएँ हैं। सगुण-भक्ति की प्रतिष्ठा और निर्गुण के खण्डन का उद्देश्य रहते हुए भी इनके भ्रमर-गीतों में प्रेम की शाश्वत पुकार पाई जाती है। सूरदास के भ्रमरगीत में भाव, कला, वाग्वैदग्ध्य, व्यंग्य-विनोद आदि का अद्भुत सामंजस्य मिलता है। हास-परिहास और रुदन का ऐसा अद्भुत सम्मिश्रण साहित्य में विरल है। नारी-हृदय की अनेक दशाओं का मार्मिक मनोवैज्ञानिक चित्रण इस काव्य की विशेषता है। कथोपकथन की मनोरंजकता, शब्द-सजावट, संगीत-लहरी, वाक्चातुर्य एवं दार्शनिकता की दृष्टि से नन्ददास का 'भ्रमरगीत' भी कम उत्कृष्ट नहीं। भ्रमर-गीत की परम्परा सूरदास, नन्ददास, परमानन्ददास, अक्षर अनन्य, ग्वाल कवि आदि में से होती हुई आधुनिक काल में सत्यनारायण कविरत्न, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', डा० रमाशंकर शुक्ल "रसाल" आदि तक चली आई है।

अष्टछाप के कवियों के हाथों हिन्दी गीति-काव्य खूब समुन्नत हुआ। विद्यापति की पदावली से जिस गीत-माधुरी की मधुर-संगीतमय ध्वनि सुनाई दी थी, उसका विकास इन कवियों द्वारा ही हुआ। यद्यपि संत-कवियों ने भी अनेक पदों की रचना की, किन्तु कोमलता, संगीत-माधुर्य और भाव-प्रवणता

की कमी के कारण उनके पदों में गीति-तत्व कम ही पाए जाते हैं। हिन्दी में गीति-साहित्य को प्रौढ़ एवं पुष्ट करने वाले अष्टछाप के ही कवि हुए। इनके काव्य में पदों की संख्या सर्वाधिक है। सभी कवियों ने असंख्य मनोहर पदों की रचना की। स्वयं गायक और संगीत के मर्मज्ञ होने के कारण इनके पद विभिन्न राग-रागिनियों में बंधे हुए मिलते हैं।

अष्टछाप के कवियों में सूर और नन्ददास के अतिरिक्त अन्य छः कवियों के बारे में हिन्दी-जगत अच्छी तरह परिचित नहीं है। यही कारण है कि उनके काव्य का यथार्थ महत्त्व अभी तक स्थापित नहीं हो सका है। परमानन्ददास का काव्य भी नन्ददास से कम उत्कृष्ट नहीं है। श्री प्रभुदयाल मित्तल परमानन्ददास की प्रशंसा में यहां तक बढ़ जाते हैं कि वे सूर के बाद नन्ददास से भी अधिक परमानन्ददास का महत्त्व मानते हैं। उनका कथन है-"अष्टछाप में सूरदास और परमानन्ददास के उपरांत नन्ददास की रचनाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। काव्य-परिमाण में नन्ददास की रचनाएं परमानन्ददास के उपलब्ध पद-साहित्य से कुछ अधिक हैं। उनकी कुछ रचनाओं में परमोच्च श्रेणी का कवित्व है और कुछ में साधारण कोटि का। इसीलिए सब मिलाकर उनका काव्य-महत्त्व परमानन्द से कुछ कम है। अष्टछाप के शेष पांच कवियों में क्रमशः कुंभनदास, कृष्णदास, चतुर्भुजदास की रचनाएँ मध्यम श्रेणी की और गोविन्दस्वामी एवं छीतस्वामी की साधारण श्रेणी की हैं। इन पांचों कवियों की रचनाएँ पूर्वोक्त तीनों कवियों की रचनाओं के समान नहीं हैं, किन्तु अन्य भक्त-कवियों की तुलना में इनका काव्य भी महत्त्वपूर्ण है।"[1]

अस्तु, यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि भाव प्रकाशन की दृष्टि से अष्टछाप के सभी कवि अपना-अपना महत्त्व रखते हैं। अष्टछाप के काव्य का कला-पक्ष सूरदास और नन्ददास के द्वारा विशेष रूप से समुन्नत हुआ।

माधुर्य-गुण की विशेषता इस काव्य की मुख्य विशेषता है। असंख्य पदों द्वारा इस काव्य में ब्रज-भाषा का जो परिष्कार और परिमार्जन हुआ है, वह युगों का कार्य सालों में सम्पादित होने के समान है।

---

१. अष्टछाप परिचय (प्रभुदयाल मीत्तल) पृ० ३४८

इस प्रकार अष्टछाप के काव्य का प्रभाव समस्त हिन्दी काव्य पर पाया जाता है। सूर की कविता संसार के महान् कवियों के लिए भी स्पर्द्धा की वस्तु है। नन्ददास के काव्य में माधुर्य प्रचुर मात्रा में मिलता है। इन कवियों के ग्रंथों में केवल काव्य-सौन्दर्य ही नहीं है, संगीत का ज्ञान ही नहीं है, कृष्णभक्ति का त्रिविध रूप भी इनमें मिलता है। साहित्य-प्रेमी इनके काव्य का रसास्वादन करते हैं, संगीतमर्मज्ञ इनको सुनकर प्रफुल्लित होते हैं, और भक्त इनको सुनकर और पढ़कर परम आनन्द प्राप्त करते हैं। कृष्ण-चरित्र को लेकर इतने प्रेम, वात्सल्य, श्रद्धा और भक्ति से यह काव्य रचा गया है कि इसकी तुलना किसी और काव्य से नहीं हो सकती। इन कवियों की प्रेरणा का ही परिणाम है कि कृष्ण-काव्य गुजराती, बंगला आदि सभी भारतीय भाषाओं में प्रचुरता के साथ रचा गया। कृष्ण-चरित को लेकर जितना काव्य लिखा गया है, उतना किसी भी अन्य अवतार से सम्बंधित नहीं रचा गया। "आचार्यों की छाप लगी आठ वीणाएँ श्री कृष्ण की प्रेम लीला का कीर्तन करने उठीं, जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी। मनुष्यता के सौन्दर्यपूर्ण और माधुर्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर इन कृष्णोपासक वैष्णव कवियों ने जीवन के प्रति अनुराग जगाया।"—आचार्य शुक्ल।

अष्टछाप-काव्य को नन्ददास की देन

अष्टछाप-काव्य की पीछे बताई गई विशेषताओं और महत्त्व में नन्ददास पूर्ण रूप से भागी हैं। अष्टछाप के कवियों में सूरदास के पश्चात् नन्ददास और परमानन्ददास दो प्रमुख कवि हैं। कला-वैशिष्ठ्य की दृष्टि से नन्ददास परमानन्ददास से बहुत बढ़े-चढ़े हैं। सभी इतिहासकारों ने नन्ददास को अष्टछाप के कवियों में दूसरा स्थान प्रदान किया है। वस्तुतः कला-सृष्टि और अष्टछाप की विचारधारा एवं भक्ति-भावना के स्पष्ट-चित्रण के कारण अष्टछाप-काव्य में सूर के पश्चात्, परमानन्ददास से भी अधिक, नन्ददास ही प्रमुख माने जा सकते हैं। अष्टछाप-काव्य को नन्ददास की अपूर्व देन है।

अष्टछाप के सभी सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक तथा साम्प्रदायिक पक्षों का स्पष्टीकरण नन्ददास ने अष्टछाप के सभी कवियों से अधिक पूर्णता के साथ किया है। पुष्टि-मार्गीय-भक्ति का जितना स्पष्ट वर्णन इन्होंने किया है, उतना स्पष्ट वर्णन हमें सूरदास के काव्य में भी नहीं मिलता।

नन्ददास की अष्टछाप-कवियों में एक विशेषता यह है कि उन्होंने कई कथात्मक-ग्रंथ भी फुटकर-साहित्य के अतिरिक्त अष्टछाप-काव्य को दिए। 'रूपमंजरी', 'रासपंचाध्यायी', 'भँवरगीत', 'रुक्मिणी-मंगल', 'श्याम सगाई' आदि नन्ददास की ऐसी कथात्मक-काव्य-रचनाएँ हैं जिनसे उनकी कथा-वर्णन-शक्ति का परिचय मिलता है। वास्तव में नन्ददास को जहाँ भी जरा से कथा-सूत्र मिल जाते हैं, वहीं वे उनमें कला का विकास करने की अद्भुत क्षमता दिखाते हैं। यद्यपि वे तुलसीदास जैसे कथाकार अथवा प्रबन्धकार नहीं हैं, और कथाकार की अपेक्षा उनके ग्रंथों में कलाकार का ही रूप प्रधान है, तो भी अष्टछाप के फुटकर-पदों के काव्य-संग्रहों में नन्ददास के कथात्मक खंड-काव्य महत्त्वपूर्ण है। वर्णन-शक्ति भी नन्ददास में अपूर्व है। यही कारण है कि

इनकी रचनाएँ अधिकतः पौराणिक प्रसंगों के आधार पर होती हुई भी मौलिक-सी प्रतीत होती है।

भाषा-सौष्ठव :—अष्टछाप-काव्य को ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण हिन्दी-ब्रज-भाषा-साहित्य को नन्ददास की सबसे बड़ी देन है भाषा-सौष्ठव। नन्ददास का काव्य माधुर्य एवं प्रसाद गुणों से ओतप्रोत है। वर्ण-मैत्री, नाद-सौन्दर्य, शब्द-माधुर्य, अनुप्रास आदि की अद्भुत छटा इनकी भाषा की विशेषता है। इनके शब्द पदों व वाक्यों में इस प्रकार जड़े होते है जैसे हार में मोती। और भाषा की इसी विशेषता के कारण इनके सम्बन्ध में "और कवि गढ़िया नन्द-दास जड़िया" की उक्ति प्रसिद्ध है। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में इनका "प्रत्येक पद मानो अंगूर का गुच्छा है जिसमें मीठा रस भरा हुआ है।" शब्द-चित्रों से नन्ददास ने मधुर ब्रज-भाषा को और भी मधुर बना दिया।

ऋतुवर्णन व प्रकृति चित्रण :—अष्टछाप के कवियों में नन्ददास का ऋतुवर्णन भी उत्कृष्ट है, बल्कि सर्वश्रेष्ठ है। बारहमासा और षड्ऋतुवर्णन भी अष्ट-कवियों में केवल नन्ददास ने किया है। कृष्ण की रासलीला में प्रकृति की पृष्ठभूमि अपने भव्यतम रूप में है। परम्परागत प्रकृति-चित्रण के अतिरिक्त इन्होंने स्वतंत्र रूप में भी प्रकृति के अनेक सुन्दर दृश्य प्रस्तुत किए हैं। सूरदास से भी अधिक विस्तृत और भव्य नन्ददास का प्रकृति-प्रयोग है, संदेह नहीं।

अष्टछाप के कवियों में, जिस प्रकार सूर की 'साहित्य-लहरी' ने रीति-परिपाटी को प्रोत्साहन दिया, उसी प्रकार नन्ददास की 'रसमंजरी' जैसी रचनाओं ने भी शास्त्रीय परिपाटी की आधार-शिला का कार्य किया। नन्ददास के शृंगार-वर्णन में भी सभी शास्त्रीय लक्षण पाए जाते हैं।

हिन्दी साहित्य में जिस भ्रमरगीत की परम्परा को सूरदास ने चलाया, उसमें नन्ददास ने भी अपने 'भ्रमरगीत' की रचना द्वारा योग दिया। उनके 'भ्रमरगीत' का भी, जैसा कि कहा गया है, अपना महत्त्व है। सूर की तरह इन्होंने भी 'भँवरगीत' में सगुण की प्रतिष्ठा और निर्गुण का खण्डन किया है। भावुकता के साथ तार्किकता का सम्मिश्रण इनकी विशेषता है।

अष्ट-कवियों ने मुख्य रूप से पदों की रचना की है। 'सूरसागर' में यद्यपि सूरदास ने पदों के अतिरिक्त दोहा, चौपाई आदि कुछ अन्य छन्दों का भी प्रयोग किया है, किन्तु इस बात में कोई संदेह नहीं कि सूरदास पदों के अतिरिक्त अन्य छन्दों में असफल रहे हैं। अष्टछाप-कवियों में नन्ददास की यह भी एक विशेषता है कि उन्होंने दोहा, चौपाई, चौपई, रोला, सोरठा, कवित्त, सवैया इत्यादि कई छन्दों का सफल प्रयोग किया है। इनका पदावली साहित्य भी उच्चकोटि का है। उसमें विभिन्न राग-रागिनियाँ पाई जाती हैं।

आगे हम नन्ददास-काव्य के सभी मुख्य पक्षों का अध्ययन करके उनकी हिन्दी साहित्य को विशिष्ट देन प्रकट करेंगे। नन्ददास एक उच्च कोटि के रसिक, भक्त और महात्मा थे। उनके काव्य का महत्त्व अक्षुण्ण है।

हिन्दी साहित्य में भ्रमरगीत-परम्परा

मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति में प्रकृति के उपादानों को प्राचीन काल से सहायक रूप में प्रयुक्त किया जाता रहा है। 'मेघदूत', 'पवन दूत' इत्यादि के अतिरिक्त चकोर, चातक, चक्रवाक युग्म, मेघ आदि का संदेश-वाहक रूप में तथा काव्य-रूढ़ि के रूप में प्रयोग मानवीय भावनाओं को उत्तेजित करने के लिए ही होता रहा है। भ्रमर का प्रयोग भी साहित्य में प्रतीकरूप में बहुत प्राचीन काल से इसी प्रकार होता आया है।

हिन्दी साहित्य में भ्रमरगीत की परम्परा हमें सूरदास से मिलती है। इस भ्रमरगीत का उद्गम-स्थल भागवत पुराण का भ्रमरगीत प्रसंग है। भागवत-दशमस्कंध के ४६वें और ४७वें अध्यायों में भ्रमरगीत का विशद् वर्णन मिलता है। परन्तु भ्रमर के रूप में उपालम्भ देने की भावना इससे भी बहुत पुरानी है। भ्रमर स्वार्थी एवं रसलोभी के रूप में साहित्य में प्रारंभ से ही वर्णित हुआ है, और उसकी इसी लोभवृत्ति के कारण उसे प्रतीक रूप में अपना कर नायक के ऊपर उपालम्भ के छींटे फेंके जाने की परम्परा भी अत्यन्त प्राचीन काल से मिलती है।

भ्रमर-गीत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में गोपियों की यह पंक्ति—"पुम्भिः स्त्रीपु कृतायद्वत सुमनस्त्विव षड्पदैः" भी कल्पना को यथेष्ट प्रश्रय देती है। उद्धव को आया देख गोपियों के मन में स्वतः भ्रमर की लोभी वृत्ति का स्मरण हो आता है। इस प्रसंग से स्पष्ट है कि भ्रमर की रसलोलुपता प्रेम का प्रतीक न ीं है। वह पुष्प से प्रेम नहीं करता, किन्तु उसके मकरन्द का लोभी अवश्य है। अन्य स्थलों पर भी जहां प्रकृति-वर्णन के अन्तर्गत हम भ्रमर का दर्शन पाते हैं, वहां भी उसकी इसी लोभी वृत्ति की प्रधानता रहती है। तुलसीदास जी ने भी—

'तहां जाय देखी वन सोभा। गुंजत चंचरीक मधु लोभा॥'

में भ्रमर की इसी वृत्ति का परिचय दिया है। कालिदास ने महर्षि कण्व के आश्रम की लताओं, सुमन-पादपों के वर्णन के साथ ही भ्रमर का भी वर्णन किया है। शकुन्तला की मुख-श्री पर उसका मोहित होना कवि कल्पना का हेतु होने के साथ ही भ्रमर की लोलुपता का भी परिचायक है। कवि नवीन-कृत "नेहनिदान" भी भ्रमर की इसी वृत्ति को सूचित करता है। इस छोटी सी पुस्तिका में भ्रमर सम्बन्धी अन्योक्तियाँ हैं। 'माधवानल काम कन्दला' में भी नृत्य करती हुई कामकंदला के समीप भ्रमर का आभास होना उसकी इसी अस्थिर वृत्ति का परिचायक है। ऐसा ज्ञात होता है कि भागवतकार की कल्पना का आधार मध्ययुग की नारी का मूक रुदन ही है। कवि ने चिरकाल से तिरस्कृत नारी की व्यथा को ही इस आध्यात्मिक अवगुण्ठन में मूर्त रूप देने का प्रयास किया है। भारत के पुरुष-प्रधान समाज में एक पुरुष के साथ अनेक स्त्रियों का सम्बन्ध प्राचीन काल से ही धर्मसम्मत माना जाता था। उस युग में अन्तः पुरों तथा रनिवासों में अनेक नारियाँ अपनी चिरसंगिनी मूक वेदना का अवलम्ब ले जीवन-यापन कर रही होंगी। नारी के इस बंधन और विवशता के प्रति कवि यथेष्ट अनुभवशील रहा होगा। ऐसी ही परिस्थिति में उसने पुष्प पर भँवर को गुनगुनाते देखा। कवि की संवेदना को यह व्यापार परिचित लगा, उसकी कल्पना को आधार मिल गया और रनिवास की मूक वेदना भ्रमर को उपालंभ का विषय चुनकर मुखरित हो उठी। किन्तु इस उपालभ में कोमलता और विवशता दोनों के ही दर्शन होते हैं। यह उस समय की परिस्थिति को देखते हुए स्वाभाविक ही था। श्रीमद्भागवत से आरंभ होने वाले भ्रमरगीत में उपालम्भ की व्यंजना प्रेम की अभिव्यक्ति ही है। गोपियों की कुब्जा के प्रति ईर्ष्या-भावना आगे चलकर प्रेम की प्रगाढ़ता में ही बदल जाती है। समय के निरन्तर प्रत्यावर्तन से यह धारा छिपी या लुप्त नहीं हुई, अपितु अपनी परिस्थितियों से प्रभावित होती हुई आज तक उतनी ही सजीव है।[1]

---

१. हिन्दी साहित्य में भ्रमरगीत की परम्परा (सरला शुक्ल) पृ० ४

इस प्रकार भ्रमर को उपालम्भ का पात्र मान कर ही इस परम्परा का जन्म हुआ। श्रीमद्भागवत के विस्तृत प्रसंग के आधार पर ही हिन्दी में भ्रमर-गीत की परम्परा चली। भागवत का यह प्रसंग इस प्रकार है—

अत्याचारी कंस का दमन करने के पश्चात् एवं अग्रसेन का उद्धार कर चुकने पर, जब कृष्ण मथुराधिपति बन जाते हैं, तब वे एक दिन बृहस्पति के शिष्य, अपने परम सखा तथा मंत्री, उद्धव जी का हाथ अपने हाथ में लेकर कहते हैं—"सौम्यस्वभाव उद्धव, तुम ब्रज में जाओ। वहां मेरे पिता-माता नन्दबाबा और यशोदा मैया हैं, उन्हें आनन्दित करो; और गोपियां मेरे विरह की व्याधि से बहुत ही दुःखी हो रही हैं, उन्हें मेरा संदेश सुनाकर वेदना से मुक्त करो।"[1] इस प्रकार कृष्ण का आदेश पाकर उद्धव रथ पर चढ़ सूर्यास्त के समय नन्दबाबा के ब्रज में पहुँचते है। नन्दबाबा उनका भव्य आदर-सत्कार करते हैं। नन्दबाबा और यशोदा कृष्ण की लीलाओं को याद करके प्रेम-विह्वल हो जाते हैं और अश्रुमोचन करने लगते हैं। नन्दबाबा उद्धव से पूछते हैं—'उद्धव जी! श्री कृष्ण कभी हम लोगों को भी याद करते हैं? यह उनकी मां है, ये स्वजन सम्बन्धी हैं, सखा हैं, गोप हैं; उन्हीं को अपना स्वामी और सर्वस्व मानने वाला यह ब्रज है; उन्हीं की गौएँ, वृन्दावन और यह गिरिराज है; क्या वे कभी इनका स्मरण करते हैं?" ॥१८॥ उद्धव जी नन्दबाबा और यशोदा रानी के हृदय में इतना अगाध कृष्ण-अनुराग देखकर कहने लगे—हे मानद! आप दोनों धन्य हैं, जो परम-पुरुष नारायण के प्रति वात्सल्य स्नेह रखते हैं। बलराम और श्री कृष्ण पुराण पुरुष हैं; वे सारे संसार के उपादान कारण और निमित्त कारण भी हैं। भगवान् श्री कृष्ण पुरुष हैं, तो बलराम जी प्रधान (प्रकृति)। ये दोनों ही समस्त शरीरों में प्रविष्ट होकर उन्हें जीवन दान देते हैं। भक्त-वत्सल यदुवंश शिरोमणि भगवान् श्री कृष्ण थोड़े ही दिनों में ब्रज में आएँगे और आप को आनन्दित करेंगे। × × × आप श्री कृष्ण को अपने पास ही देखेंगे; क्योंकि जैसे काठ में अग्नि सदा ही व्यापक रूप से रहती है,

---

१. श्री भागवत-सुधा-सागर—गीताप्रेस गोरखपुर—दशमस्कंध-अध्याय ४६

वैसे ही वे समस्त प्राणियों के हृदय में सर्वदा विराजमान रहते हैं।"[1] इस प्रकार उस रात उद्धव नन्द-यशोदा से ही मिलते हैं और उन्हें समझा बुझा कर सान्त्वना देते हैं।

अगले दिन जब भगवान् भुवनभास्कर का उदय हुआ, तब गोपियाँ देखती हैं कि नन्दबाबा के दरवाजे पर एक सोने का रथ खड़ा है। वे एक दूसरे से पूछ-ताछ करने लगती हैं कि इतने में उद्धव जी दिखाई देते हैं। कृष्ण जैसा ही उनका रंग-रूप, आकृति, वेश-भूषा इत्यादि देखकर वे उद्धव का परिचय प्राप्त करने के लिए उत्सुक हो उठती हैं। जब उन्हें मालूम हुआ कि ये तो रमारमण भगवान् श्री कृष्ण का संदेश लेकर आए हैं, तब उन्होंने विनय से झुक कर सलज्ज हास्य, चितवन और मधुर वाणी आदि से उद्धव जी का अत्यन्त सत्कार किया तथा एकान्त में आसन पर बैठाकर वे उनसे इस प्रकार कहने लगीं—"उद्धव जो! भौंरों का पुष्पों से और पुरुषों का स्त्रियों से जो प्रेम-सम्बन्ध का स्वांग होता है, वह स्वार्थ के ही लिए होता है। जब वेश्या समझती है कि अब मेरे यहां आने वाले के पास धन नहीं, तब उसे वह धत्ता बता देती है। जब वृक्षों पर फल नहीं रहते, तब पक्षीगण वहां से बिना कुछ सोचे विचारे उड़ जाते हैं............।"[1] इस प्रकार गोपियाँ कृष्ण को उपालंभ देती हैं, उन्हें स्वार्थी एवं लोभी बताती हैं। भ्रमर को उनका उपमान कहती हैं। भ्रमर भी फूलोंके रस का अनुरागी होता है, रस ग्रहण कर उड़ जाता है। इसी प्रकार कृष्ण भी कोरे लोलुप निकले। इस तरह उपालम्भ देती हुईं वे कृष्ण की लीलाओं को याद कर-करके आत्मविस्मृत होकर स्त्री-सुलभ लज्जा को भी भूल गईं और फूट-फूट कर रोने लगीं। एक गोपी को उस समय स्मरण हो रहा था भगवान् श्री कृष्ण के मिलन की लीला का। उसी समय उसने देखा कि पास ही एक भौरा गुनगुना रहा है। उसने ऐसा समझा मानो मुझे रूठी हुई समझकर श्री कृष्ण ने मनाने के लिए दूत भेजा हो। वह गोपी भौरे से इस प्रकार कहने लगी – "रे मधुप! तू कपटी का सखा है; इस लिए तू भी कपटी है। तू हमारे पैरों को मत छू।

१. वही दशमस्कंध अध्याय ४६

× × × जैसा तू काला है, वैसे ही वे (कृष्ण) भी हैं। तू भी पुष्पों का रस लेकर उड़ जाता है, वैसे ही वे भी निकले। × × × रे मधुप! जब वे राम बने थे, तब उन्होंने कपिराज बालि को व्याध समान छिपकर बड़ी निर्दयता से मारा था। बेचारी शूर्पणखा कामवश उनके पास आई थी, परन्तु उन्होंने अपनी स्त्री के वश होकर उस बेचारी के नाक कान काट लिए और इस प्रकार उसे कुरूप कर दिया। ब्राह्मण के घर वामन के रूप में जन्म लेकर उन्होंने क्या किया? बलि ने तो उनकी पूजा की, उनकी मुंहमांगी वस्तु दी और उन्होंने उसकी पूजा ग्रहण करके भी उसे वरुणपाश से बाँध कर पाताल में डाल दिया—ठीक वैसे ही, जैसे कौआ बलि खाकर भी बलि देने वाले को, अपने अन्य साथियों को साथ मिला कर, घेर लेता है और परेशान करता है। अच्छा, तो अब जाने दो, हमें कृष्ण से क्या, किसी भी काली वस्तु के साथ मित्रता से कोई प्रयोजन नहीं। परन्तु यदि तू यह कहे कि 'जब ऐसा है तब तुम लोग उनकी चर्चा क्यों करती हो?' तो भ्रमर! हम सच कहती हैं, एक बार जिसे उसका चसका लग जाता है, वह उसे छोड़ नहीं सकता। × × × × जैसे कृष्णसार मृग की पत्नी भोली-भाली हरिणियां व्याध के सुमधुर गान का विश्वास कर लेती हैं और उसके जाल में फंसकर मारी जाती हैं, वैसे ही हम भोली-भाली गोपियां भी उस छलिया कृष्ण की कपट भरी मीठी-मीठी बातों में आकर उन्हें सत्य मान बैठीं। × × × अच्छा, हमारे प्रियतम के प्यारे दूत मधुकर! हमें यह बतलाओ कि आर्यपुत्र भगवान् श्री कृष्ण अब सुख से तो हैं? क्या वे कभी नन्दबाबा, यशोदारानी, यहां के घर, सगे-सम्बन्धी और ग्वाल-बालों को भी याद करते हैं? और हम दासियों की भी कोई बात कभी चलती है?"[१]

इस प्रकार गोपियाँ कृष्ण-दर्शन के लिए अत्यन्त उत्सुक और व्याकुल हो रही थीं। उनकी बातें सुनकर उद्धव जी ने उन्हें उनके प्रियतम का संदेश

---

१. वही—दशमस्कंध अध्याय ४७

सुनाकर सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा—"अहो गोपियो ! तुम धन्य हो, तुम्हारा जीवन सफल है। देवियो ! तुम सारे संसार के लिए पूजनीय हो, क्योंकि तुम लोगों ने इस प्रकार भगवान् कृष्ण को अपना हृदय, अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है। दान, व्रत, तप, होम, जप, वेदाध्ययन, ध्यान, समाधि और कल्याण के अन्य विविध साधनों के द्वारा भगवान् की भक्ति प्राप्त हो, यही प्रयत्न किया जाता है। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि तुम ने भगवान् कृष्ण के प्रति वही सर्वोत्तम प्रेम-भक्ति प्राप्त की है, और उसी का आदर्श स्थापित किया है, जो बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों के लिए भी अत्यन्त दुर्लभ है। × × × तुम्हारे प्रियतम भगवान् श्री कृष्ण ने तुम लोगों को परमसुख देने के लिए यह प्रिय सन्देश भेजा है, उसे सुनो। भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है कि मैं सबका उपादान कारण होने से सबका आत्मा हूँ, सबमें अनुगत हूँ; इस लिए मुझ से तुम्हारा कभी भी वियोग नहीं हो सकता। जैसे संसार के सभी भौतिक पदार्थों में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पंचभूत व्याप्त हैं, इन्हीं से सब वस्तुएँ बनी हैं, और ये ही वस्तुओं के रूप में हैं, वैसे ही मैं मन, प्राण, पंचभूत, इन्द्रिय और उनके विषयों का आश्रय हूँ। वे मुझ में हैं, मैं उनमें हूँ, और सच पूछो तो मैं ही उनके रूप में प्रकट हो रहा हूँ। × × × × अशेष वृत्तियों से रहित सम्पूर्ण मन मुझ में लगाकर जब तुम लोग मेरा अनुस्मरण करोगी, तब शीघ्र ही सदा के लिए मुझे प्राप्त हो जाओगी। कल्याणियो ! जिस समय मैंने वृन्दावन में शारदीय पूर्णिमा की रात्रि में रास-क्रीडा की थी, उस समय जो गोपियाँ स्वजनों के रोक लेने से ब्रज में ही रह गई—मेरे साथ रास-विहार में सम्मिलित न हो सकीं, वे मेरी लीलाओं का स्मरण करने से ही मुझे प्राप्त हो गई थीं। तुम्हें भी मैं अवश्य प्राप्त हूँगा, निराशा की कोई बात नहीं।[1]

अपने प्रियतम श्री कृष्ण का यह संदेश सुनकर गोपियों को बड़ा आनन्द मिला। उनके संदेश से उन्हें श्री कृष्ण के स्वरूप और एक-एक लीला की याद आने लगी। प्रेम से भरकर उन्होंने उद्धव जी से कहा—

१. वही दशमस्कंध अध्याय ४७

उद्धव जी ! यह बड़े सौभाग्य और आनन्द की बात है कि पापी कंस मारा गया, और कृष्ण के मनोरथ पूर्ण हुए । किन्तु आप यह तो बताइए कि जब कभी नागरी नारियों की मण्डली में कोई बात चलती है और हमारे प्यारे स्वच्छन्द रूप से, बिना किसी संकोच के प्रेम की बातें करने लगते हैं, तब क्या कभी प्रसंगवश हम गँवार ग्वालिनों की भी याद करते हैं ? × × ×
तब एक गोपी ने कहा 'अरी सखी ! अब तो वे बड़े-बड़े नरपतियों की कुमारियों से विवाह करेंगे, यहां गवाँरिनों के पास क्यों आएँगे ?' × × ×
फिर दूसरी गोपी कहने लगी—"श्याम सुन्दर ! तुमने बार बार हमारी व्यथा मिटाई है, हमारे संकट काटे हैं। गोविन्द ! तुम गौओं से बहुत प्रेम करते हो। क्या हम गौएँ नहीं हैं ? तुम्हारा यह सारा गोकुल — जिसमे ग्वाल-बाल, पिता-माता, गौएँ और हम गोपियाँ हैं—दुख के अपार सागर में डूब रहा है, तुम इसे बचाओ, तुमही हमारी रक्षा करोगे।"

इस प्रकार गोपियों के खीझ, शोक, क्षोभ व रुदन को उद्धव ने कृष्ण-संदेश देकर तथा उनके प्रेम की प्रशंसा करके दूर किया। कृष्ण-संदेश सुनकर उनके विरह की व्यथा शांत हो गई थी। वे इन्द्रियातीत भगवान् श्री कृष्ण को अपने आत्मा के रूप में सर्वत्र स्थित समझने लगीं। भगवान् का संदेश सुनने पर उन्हें शुद्ध ज्ञान प्राप्त हुआ।

उद्धव जी गोपियों की विरह-व्यथा मिटाने के लिए कई महीनों तक वहीं रहे। उद्धव जी ने ब्रज में रहकर गोपियों की इस प्रकार की प्रेम-विकलता तथा और भी बहुत सी चेष्टाएँ देखीं। उनकी इस प्रकार श्री कृष्ण में तन्मयता देखकर वे प्रेम और आनन्द से भर गए। अब वे गोपियों को नमस्कार करते हुए इस प्रकार गान करने लगे ।।५७।। 'इस पृथ्वी पर केवल इन गोपियों का ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ एवं सफल है; क्योंकि ये सर्वात्मा भगवान् श्री कृष्ण के परम प्रेममय दिव्य महाभाव में स्थित हो गई हैं। प्रेम की यह ऊँची से ऊँची स्थिति संसार के भय से भीत जनों के लिए ही नहीं, अपितु बड़े-बड़े मुनियों—मुक्त पुरुषों तथा हम भक्तों के लिए भी अभी

बांछनीय ही है। हमें इसकी प्राप्ति नहीं हो सकी। सत्य है, जिन्हें भगवान् श्री कृष्ण की लीला-कथा के रस का चसका लग गया है, उन्हें कुलीनता की, द्विजाति-समुचित संस्कार की और बड़े-बड़े यज्ञ-यागों में दीक्षित होने की क्या आवश्यकता है?" ॥५८॥ × × × मेरे लिए तो सबसे अच्छी बात यही है कि मैं इस वृन्दावन-धाम में कोई झाडी, लता अथवा औषधि-जड़ीबूटी ही बन जाऊँ! अहा! यदि मैं ऐसा बन जाऊँगा, तो मुझे इन ब्रजाङ्गनाओं की चरणधूलि निरन्तर सेवन करने के लिए मिलती रहेगी। इनकी चरणरज में स्नान करके मैं धन्य हो जाऊँगा।"

इस प्रकार उद्धव गोपियों की प्रेम-भक्ति से प्रभावित होते हैं, और कई महीनों तक ब्रज में रहने के बाद एक दिन मथुरा जाने को तैयार होते हैं। सबसे विदा लेकर वे रथ पर सवार हुए। जब उनका रथ ब्रज से बाहर निकला, तब नन्दबाबा आदि गोपगणों ने बहुत-सी भेंट की सामग्री उनको दी। मथुरा पहुँच कर उद्धव ने भगवान् श्री कृष्ण को प्रणाम किया, और उन्हें ब्रजवासियों की प्रेममयी भक्ति का उद्रेक, जैसा उन्होंने देखा था, कह सुनाया। इसके बाद नन्दबाबा ने भेंट की जो-जो सामग्री दी थी, वह उनको दे दी।६६।

भागवत के इन अध्यायों की यही कथा हिन्दी साहित्य के भ्रमर-गीतों का आधार रही है। किन्तु कवियों ने समय, परिस्थिति और अपनी रुचि के अनुसार कुछ-कुछ परिवर्तन भी किए हैं। सूरदास एवं नन्ददास के भ्रमर-गीतों में ज्ञान, योग, और भक्ति तथा सगुण-निर्गुण का वादविवाद है, जो भागवत में बिल्कुल नहीं। हाँ, भागवत में उद्धव बाद में गोपियों की भक्ति को योगादि अन्य साधनाओं से भी श्रेष्ठ अवश्य मानने लगे हैं। उद्धव ने कृष्ण का जो संदेश भागवत में गोपियों को दिया है, वह कोरा ज्ञान का संदेश नहीं। वह संदेश तो भक्ति का ही है, पर मनोनिग्रहपूर्वक ज्ञानमार्गीय भक्ति का है। नन्ददास और सूरदास के उद्धव भक्ति का खण्डन कर स्पष्ट रूप से

ज्ञान-मार्ग के पक्षपाती के रूप में आते हैं। सूर और नन्ददास के भँवर-गीतों में ज्ञान-मार्ग और निर्गुण का खण्डन करके प्रेम-लक्षणा भक्ति की स्थापना की गई है, जिसमें ज्ञान और साधना को पीछे छोड़ दिया जाता है, और प्रेम तथा आत्मसमर्पण ही सब कुछ माने जाते हैं। भागवत में गोपियों की विरह-व्यथा भी सजीव रूप ग्रहण नहीं कर सकी है। भागवत, सूर और नन्ददास के भ्रमर-गीतों की विस्तृत तुलना हम आगे करेंगे, पहले इस प्रकरण में हिन्दी भ्रमर-गीत की परम्परा और विकास का अध्ययन समाप्त करते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि भागवत के आधार पर सूरदास जी ने ही हिन्दी में भ्रमर-गीत-काव्य की परम्परा चलाई। सूरदास ने तीन भ्रमर-गीत लिखे हैं। एक तो भागवत का ही अविकल अनुवाद है। यह दोहा-चौपाई छन्द में लिखा गया है। इसमें ज्ञान और साधनापूर्ण भक्ति की ही चर्चा, भागवत की तरह, की गई है। भाव-प्रवणता एवं साहित्यिक दृष्टि से यह विशेष महत्त्व का नहीं है।

सूरदास के अन्य दो भ्रमर-गीत मौलिक हैं। इनमें भी एक छोटा है और दूसरा बहुत विस्तृत। छोटा भ्रमरगीत सूरदास ने दोहा-रोला के मिश्रित प्रयोग से एक विशेष छन्द में बद्ध किया है, जिसका अनुकरण नन्ददास ने अपने भ्रमरगीत में किया। यह छन्द दो पंक्तियां रोला छन्द की, फिर दो दोहा छन्द की पंक्तियों के मिश्रण से बना है। सूरदास का यह भ्रमरगीत आकार में छोटा अवश्य है, परन्तु इसमें गोपियों के हृदय की व्यथा को सूरदास ने खूब अच्छी तरह सजीव कर दिया है।

वस्तुतः सूरदास का विस्तृत भ्रमरगीत ही उनकी अद्भुत काव्य-प्रतिभा का द्योतक है। यह हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ उपालंभ काव्य है। इस भ्रमर-गीत का उद्देश्य गोपी-प्रेम के साथ-साथ सगुण का मण्डन और निगुण का खण्डन है। भागवत के भ्रमरगीत को सूरदास ने मौलिक रूप दिया है। इसी कारण भागवत के भ्रमरगीत से इसमें पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। भागवत

कार ने उद्धव को केवल कुशल-क्षेम लाने और गोपियों एवं नन्द-यशोदा को सान्त्वना देने के लिए कृष्ण द्वारा भेजा गया वर्णित किया है। पर सूर ने यह दिखाया है कि उद्धव ज्ञान-गर्वित था। कृष्ण ने उसकी यह रीति देखकर, गोपियों के प्रेम का उसपर प्रभाव डालने के लिए तथा उसे भक्ति-मार्गी बनाने के लिए गोकुल भेजा। भागवत में भी उद्धव गोपियों के प्रेम से प्रभावित होते हैं, परन्तु वे अपने ज्ञानपूर्ण कृष्ण-संदेश से भोली-भाली गोपियों को शांत कर देते हैं। सूरदास के भ्रमरगीत में गोपियों का प्रेम इतने सुन्दर ढंग से व्यक्त किया गया है, कि उद्धव को कुछ कहते ही नहीं बनता। उसमें गोपियाँ उद्धव को बोलने ही नहीं देतीं। वे बड़े भोलेपन से भावुकता-पूर्वक अपने हृदय की सच्ची विवशता, प्रेम की उत्कटता तथा खीझ और उपालंभ प्रकट करती है। उनका प्रेम उद्धव के ज्ञान और अहम् को दूर कर देता है। उद्धव लौट कर कृष्ण को कहते हैं—"सूर उनके भजन आगै लागै फीको ज्ञान।"[1]

भागवतकार की तरह सूर के कृष्ण उद्धव को भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए नहीं भेजते, बल्कि उनका हृदय भी नन्द, यशोदा एवं गोपियों के प्रेम से द्रवित है। सूरदास जी ने अपनी मौलिकता और भी कई प्रकार से दिखलाई है। सूर के भ्रमरगीत में उद्धव ब्रज में जाते हैं। इन्हें दूर से ही गोपियाँ देखती हैं। इस दृश्य का बड़ा मनोवैज्ञानिक वर्णन सूर ने प्रस्तुत किया है। वे उसी प्रकार के रथ पर उसी प्रकार के श्यामतनधारी, पीतपट व वैसी ही अन्य वेश-भूषा से युक्त उद्धव को देखकर उसे कृष्ण समझ बैठती है :-

कोउ आवत है तन स्याम !
वैसेइ पट, वैसिय रथ-बैठनि, वैसिय है उर दाम ।।
जैसी तिं उठि तैसिय दौरी छांड़ि सकल गृह-काम ।
रोम पुलक, गदगद भई तिहि छन सोचि अंग अभिराम ।।
इतनी कहत आए गए ऊधो, रहीं ठगी तिहि ठाम ।
सूरदास प्रभु ह्याँ क्यों आवे बँधे कुब्जा-रस स्याम ।।१३।

(भ्रमरगीतसार)

---

१. भ्रमरगीतसार—रामचन्द्र शुक्ल पृ० १४२.

निकट आने पर जब वे कृष्ण को नहीं पातीं, तब उन्हें बहुत निराशा होती है। इस स्थिति का वर्णन कितना मनोवैज्ञानिक है !

सूर नारी-हृदय के सच्चे पारखी हैं। उन्होंने अपने भ्रमरगीत में नारी-हृदय का भौतिक चक्षुओं के अभाव में भी अन्त: चक्षुओं से अवगाहन किया है। प्रत्येक पद में गोपियों की आन्तरिक वेदना मुखरित हो उठी है। व्यंग्य-विनोद और हास-परिहास से पूर्ण उपालंभ के साथ अभावग्रस्त हृदय की करुणा और रुदन का इस प्रकार का अद्भुत संयोग हिन्दी साहित्य में तो क्या, विश्व साहित्य में भी विरल है। सूर के भ्रमरगीत में गोपियों का प्रेम ही नहीं, माता यशोदा का भी प्रेम व्यक्त हुआ है। उसमें नन्द, यशोदा और गोपियाँ सब को स्थान मिला है।

सूरदास के पश्चात् तो भ्रमरगीत लिखने की एक परिपाटी ही चल पड़ी। परमानन्ददास, नन्ददास, हितवृन्दावनदास, ग्वालकवि, रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंह, 'कविरत्न' सत्यनारायण, रत्नाकर आदि अनेक कवियों ने भक्ति-काल से लेकर आधुनिक काल तक भ्रमरगीत काव्य की परम्परा का पालन किया। यों तो तुलसी, रहीम, मतिराम, देव, घनानन्द, पद्माकर, भारतेन्दु आदि अनेक कवियों के स्फुट छन्दों से लेकर मैथिलीशरण गुप्त के 'द्वापर', अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'प्रियप्रवास' आदि प्रबन्ध काव्यों तक में भ्रमरगीत प्रसंग का उल्लेख हुआ है, परन्तु हम यहाँ उन्हीं लेखकों एवं उनकी रचनाओं का परिचय देंगे, जिनमें यह प्रसंग कुछ क्रम बद्ध रूप में पाया जाता है।

सूरदास के पश्चात् परमानन्ददास के काव्य में गोपी-उद्धव-संवाद और भँवर-गीत सम्बन्धी पद मिलते है, जो संख्या में सूर की तुलना में बहुत कम हैं। चौपाई और साखी के कुछ छन्दों में भी यह प्रसंग परमानन्ददास ने चित्रित किया है। इस प्रसंग में जैसा ज्ञान, योग और भक्ति तथा निर्गुण-सगुण का वाद-विवाद सूरदास और नन्ददास के काव्य में मिलता है, वैसा परमानन्ददास के पदों में नहीं है। इनके पदों में कवि की भावानुभूति ही प्रधान है। चौपाई और साखी छन्दों में कहे हुए परमानन्ददास के भँवर-गीत में गोपियों की

विरह-दशा के चित्रण की प्रधानता है। एकाध पद में उद्धव के योग और ज्ञान के उपदेश का तर्कपूर्ण उत्तर देती हुई भी गोपियाँ पाई जाती हैं—

मेरो मन गह्यो माई मुरली के नाद,
आसन पवन ध्यान नहिं जानों कौन करै अब वाद विवाद।
मुक्ति देहु सन्यासनि को हरि कामिन देहु काम की रासि,
धर्मिन देहु धर्म को मारग, मेरो मन रहै पद अंबुज पासि।
जो कोउ कहे जोति सब यामें सपने न छुवें तिहारो जोग,
परमानन्द स्याम रंग राती सबै सहों मिलि एक अंग लोग।

गोपियों की भक्ति से प्रभावित होकर, सूरदास जी के भ्रमर-गीत की तरह, उद्धव वापिस जाकर कृष्ण से कहते हैं—

ऐसी मैं देखी ब्रज की बात।
तुम बिन कान्ह कमलदल लोचन जैसे दूलह बिन बरात॥
वेई मोर कोकिला वेई वेई पपीहा हैं बन बोलत,
वेई ग्वाल गोपिका वेई वेई गोधन कानन डोलत।
यह सब संपति नंद गोप की तुम्हरे प्रसाद रमा के नाथ,
परमानन्द प्रभु एक बार मिलि यह पतियाँ लिखी मेरे हाथ।

इस प्रकार इनका भ्रमरगीत सूरदास और नन्ददास आदि के भ्रमरगीतों की तरह खण्ड-काव्य के रूप में नहीं है। केवल कृष्णलीला-गान के पदों में कुछ पद भ्रमरगीत-सम्बन्धी क्रमबद्ध रूप में मिल जाते हैं। भाव-प्रवणता के साथ वाग्वैदग्ध्य एवं अलंकरण की प्रवृत्ति इनके पदों में नहीं है। इनकी गोपियाँ भी, सूर की तरह, प्रेम-पगी भोली-भाली ब्रज-नारियाँ हैं।

दूसरे प्रमुख भ्रमरगीत-लेखक नन्ददास ने खण्डकाव्य के रूप में अपने प्रसिद्ध भँवरगीत की रचना की। दार्शनिकता, वाक्‌चातुर्य और तर्क-पद्धति की दृष्टि से, तथा भाषा-शैली की कोमलता और माधुर्य की दृष्टि से, इनका भँवर-गीत विशेष महत्वपूर्ण है। भाव-प्रवणता भी इसमें पर्याप्त है। इनके 'भँवरगीत' में नन्द और यशोदा के विरह का कहीं भी वर्णन नहीं। उद्धव आकर केवल गोपियों से ही ज्ञान-कथा आरंभ करते हैं। भागवत के ४६ वें अध्याय को

इन्होंने नहीं अपनाया। नन्ददास की गोपियाँ तार्तिक हैं, सूर की भांति कोरी भोली-भाली नहीं। इनके 'भँवरगीत' में पुष्टि-मार्ग के सिद्धान्तों की छाप स्पष्ट है।

भक्ति-काल के कुछ और कवियों ने भी क्रमबद्ध रूप में कुछ पदों की रचना भ्रमरगीत के प्रसंग को लेकर की। अक्षर अनन्य और हितवृन्दावन-दास ऐसे ही कवि हैं। इनके पदों का भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष सहज ही है, कोई विशेष मौलिकता इनमें नहीं पाई जाती।

शृंगार काल में फुटकर कवित्तों के रूप में भ्रमर-दूत-प्रसंग की प्रचुर मात्रा में रचना मिलती है। इस समय में अनेक कवियों द्वारा कभी अलंकारों के उदाहरण स्वरूप और कभी रस-निरूपण के अन्तर्गत बहुत से कवित्त, बरवै आदि लिखे गए। रहीम, मतिराम, पद्माकर, सेनापति, देव, आलम, ठाकुर आदि सभी कवियों के कवित्त-सवैयों में यह प्रसंग पाया जाता है। किन्तु इन कवियों ने इस प्रसंग का क्रम बद्ध रूप में कोई वर्णन नहीं किया। इनका दृष्टिकोण भी आध्यात्मिक नहीं है, पूर्णतया लौकिक है। इस काल में स्वतंत्र भ्रमरगीतों की खण्ड-काव्यों के रूप में रचना नहीं हुई, किन्तु कुछ कवियों ने क्रम-बद्ध रूप में इस विषय पर अवश्य लिखा है। रसनायक-कवि के "विरह-विलास", ग्वाल कवि-कृत "गोपी-पच्चीसी", रसरासि-कृत "रसिकपच्चीसी", तथा ब्रजनिधि कवि की "परीति पच्चीसी" में हमें क्रम-बद्ध रूप में भ्रमर-गीत प्रसंग मिलता है। ये रचनाएँ पदों की बजाय कवित्त छन्द में लिखी गई हैं।[1]

आधुनिक काल में भी भ्रमर-गीत-परम्परा हमें आजतक मिलती है। परिस्थिति और समय-परिवर्तन के कारण आधुनिक कवियों ने अनेक परिवर्तन इस प्रसंग में किए हैं। सामयिक परिस्थितियों का प्रभाव इनमें स्पष्ट रूप से है। आधुनिक भ्रमरगीतकारों में जगन्नाथदास रत्नाकर का 'उद्धवशतक,' सत्य-नारायण कविरत्न का 'भ्रमरदूत,' डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' का 'उद्धव-गोपी-संवाद' तथा रीवाँ नरेश रघुराजसिंह की रचनाएँ प्रसिद्ध हैं।

जगन्नाथदास रत्नाकर आधुनिक युग में ब्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनका 'उद्धव-शतक' आधुनिक युग का सर्वश्रेष्ठ विरह-काव्य है। भाषा-सौष्ठव

---

१. हिन्दी साहित्य में भ्रमरगीत की परम्परा—पृ० ७

की दृष्टि से भी उसका बहुत महत्त्व है। वास्तव में सूर और नन्ददास के भ्रमरगीतों के पश्चात् भ्रमर-गीत-परम्परा में 'उद्धव-शतक' का ही सर्वाधिक महत्त्व है। इसमें सूर के प्रेम और विरह की तीव्रता तथा नन्ददास के तर्क और वाक्चातुर्य एवं रीति कालीन कवित्व-शैली-तीनों का सुन्दर योग पाया जाता है। अलंकरण की प्रवृत्ति, ऊहात्मक विरह-वेदना, उद्दीपन-रूप में प्रकृति का चित्रण - ये कुछ रीतिकालीन प्रभाव भी इस काव्य में पाए जाते है। अभिनयात्मकता और कथोपकथन की प्रवृत्ति की प्रधानता के कारण इसमें रोचकता खूब आ गई है। रचना के आरंभ में यमुना-स्नान के समय जल में बहते हुए कमल में राधिका की सुगंध से कृष्ण का विरहाकुल होना दिखाया गया है, जो कवि की मौलिक सूझ है। उनकी गोपियाँ यद्यपि उद्धव के ज्ञान का खण्डन करती हैं, अपने प्रेम और भक्ति के पथ की स्थापना करती हैं तो भी उनमें भावावेश अधिक है। उनमें सूर की गोपियों का हृदय, नन्ददास की गोपियों की बुद्धि और आधुनिक नारी के चातुर्य और चापल्य का मिश्रण है। किन्तु उनके समस्त तर्क और वाक्चातुर्य के पीछे उनका विरह-विदग्ध-हृदय छिपा हुआ है। भाषा में नवीन प्रयोग भी पाए जाते हैं। सूक्ष्म-भावाभिव्यंजना कहीं-कहीं छायावादी ढंग की भी हो गई है। बिहारी का-सा वाग्वैदग्ध्य और नन्ददास का-सा माधुर्य सर्वत्र पाया जाता है। वास्तव में यह सूर के भ्रमरगीत की तरह इस परम्परा का सर्वश्रेष्ठ खण्ड काव्य है।

आधुनिक युग के दूसरे प्रमुख भ्रमरगीतकार हैं कविवर सत्यनारायण 'कविरत्न'। इन्होंने बड़े साहस के साथ परम्परागत-भ्रमरगीत के प्रसंग को बिल्कुल ही नया रूप दे दिया है। इसमें उद्धव है न गोपियाँ, न ज्ञान, योग और भक्ति का वाद-विवाद है, न सगुण-निर्गुण का खण्डन-मण्डन। यशोदा माता ही भ्रमर को दूत बना कर कृष्ण के पास भेजती है। देश की सामाजिक, राजनीतिक अधोगति का चित्रण ही इसका मुख्य उद्देश्य है। पुरानी परम्परा को छोड़ कर कवि ने यशोदा को भारतमाता के रूप में चित्रित किया है। संदेश भी मथुरावासी कृष्ण के पास भेजा गया है। इसकी भाषा बड़ी स्वाभा-

विक है। कविरत्न जी ने नन्ददास के भ्रमरगीत का ही मिश्रित छन्द अपनाया है।

वर्तमान युग में डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने भी उद्धव-गोपी-संवाद' नामक इस विषय का एक खण्ड-काव्य लिखा। इसमें गोपियों की विरह-व्यथा के साथ साथ शब्द-क्रीड़ा, वाग्विदग्धता, वचनचातुर्य तथा रचना-कौशल पाया जाता है। इनके अतिरिक्त खण्ड-काव्य अथवा स्वतंत्र काव्य के रूप में हमें आधुनिक काल में कोई रचना नहीं मिलती। किन्तु कई कवियों ने इस प्रसंग को कुछ विस्तार के साथ अपने काव्य में वर्णित किया है। रीवाँ नरेश, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। कन्हैयालाल पोद्दार का गोपी-गीत भी इसी विषय की कविता है।

इस प्रकार गीतात्मक मुक्तक-काव्य-धारा की यह परम्परा भागवत-पुराण के आधार पर भक्ति काल से वर्तमान काल तक अबाध रूप से प्रवाहित हुई है। समय, शैली और परिस्थिति के अनुसार इसके स्वरूप में अवश्य कुछ परिवर्तन हुए हैं, किन्तु अन्तर्गत भावना, केवल सत्यनारायण 'कविरत्न' की राष्ट्रीय-भावना के अतिरिक्त, सब में समान रही है। अनेक महाकवियों ने इसके पोषण में योग दिया और भविष्य में किन किन रसिक-कवियों के द्वारा इसे और बढ़ावा मिलेगा, यह भविष्य के गर्भ में है।

नन्ददास का भ्रमरगीत--भागवत और सूर से तुलना

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, 'भागवत' का भ्रमर-गीत यद्यपि सूरदास और नन्ददास के भ्रमरगीतों का आधार है, तो भी उसका उनसे उद्देश्य, प्रसंग तथा साहित्यिकता की दृष्टि से बहुत अन्तर है। सूरदास और नन्ददास के युग में ज्ञान-मार्गीय निर्गुणवादियों तथा प्रेम-मार्गीय-सगुणवादियों में बड़ा संघर्ष चल रहा था। अतः इन दोनों ने अपने भ्रमरगीतों के प्रणयन का उद्देश्य, काव्यात्मक ढंग से ज्ञान, योग और भक्ति का वादविवाद दिखा कर, सगुण-भक्ति की प्रतिष्ठा और ज्ञान-मार्ग तथा निर्गुण का खण्डन बना लिया। इनके इसी उद्देश्य के कारण कई बातों में अन्तर पड़ गया है। भागवत से इनका उद्धव भिन्न है। भागवत में उद्धव कृष्ण का सखा, परम-भक्त और विद्वान् बताया गया है। वह सूर और नन्ददास के उद्धव की तरह केवल ज्ञान-मार्गी नहीं है। वह सगुण-भक्ति-मार्गी ही है, हाँ, भक्ति में ज्ञान और मनोनिग्रह को भी महत्त्व देने वाला है।

सूरदास और नन्ददास को प्रेम-लक्षणा-भक्ति की अपने भ्रमर-गीतों में प्रतिष्ठा करने की भावना भागवत से ही मिली है। भागवत में भी बाद में उद्धव गोपियों की कृष्ण के प्रति भक्ति को आदर्श मानने लगता है और कहता है—"इस पृथ्वी पर केवल इन गोपियों का ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ एवं सफल है; क्योंकि ये सर्वात्मा भगवान् श्री कृष्ण के परम प्रेम-मय दिव्य महा-भाव में स्थित हो गई हैं। प्रेम की यह ऊंची से ऊँची स्थिति संसार के भय से भीतजनों के लिए ही नहीं, अपितु बड़े-बड़े मुनियों, मुक्त पुरुषों तथा हम भक्तजनों के लिए भी अभी वांछनीय ही है। हमें इसकी प्राप्ति नहीं हो सकी। सत्य है जिन्हें भगवान् श्री कृष्ण की लीला-कथा के रस का चसका लग गया है, उन्हें कुलीनता की, द्विजाति-समुचित संस्कार की और बड़े-बड़े यज्ञयागों में दीक्षित होने की क्या आवश्यकता है? × × × × धन्य हैं ये

गोपियाँ। देखो तो सही, जिनको छोडना अत्यन्त कठित है, उन स्वजन-सम्बन्धियों तथा लोक-वेद की आर्य-मर्यादा का परित्याग करके इन्होंने भगवान् की पदवी, उनके साथ तन्मयता, उनका परम प्रेम प्राप्त कर लिया है[1]।

इन पंक्तियों में योग, ज्ञान आदि की साधना पर गोपियों की प्रेम-भक्ति की प्रतिष्ठा स्पष्ट है। इस प्रेम-भक्ति से प्रभावित होकर ही भागवत के उद्धव भी गोपियों की चरण-रज की बांछा करने लगते हैं। भागवत के इस भाव का सूर और नन्ददास दोनों ने अनुकरण किया है। उनके उद्धव भी गोपियों की भक्ति से प्रभावित होते हैं। सूरदास के उद्धव मथुरा लौटने पर कृष्ण के सम्मुख कहते हैं—

माधव ! सुनौ ब्रज कौ नेम।
बूझि हम षट मास देख्यो गोपिकन को प्रेम॥

×　　×　　×　　×

सूर उनके भजन आगे लगै फीको ज्ञान॥—भ्रमरगीतसार ३८३

नन्ददास के उद्धव भी प्रभावित होकर कहने लगते हैं—

धन्य धन्य ये लोग भजत हरि कौं जे ऐसे।
और कोऊ बिनु रसहि प्रेम पावत है कैसे॥
मेरे वा लघु ग्यान कौं उर में मद होइ ब्याधि।
अब जान्यौं ब्रज-प्रेम की लहत न आधी आधि॥
　　　　　　　　　　वृथा स्रम करि मर्‌यौ॥६५॥

×　　×　　×　　×

अब ह्वै रहौं ब्रज-भूमि को मारग मैं की धूरि।
बिचरत पग मो पर धरैं सब सुख जीवनमूरि॥ मुनिनहू दुर्लभ जो॥६६॥

×　　×　　×　　×

गोपी-प्रेम प्रसाद सों हौं ही सीख्यौ आय।
ऊधौ तें मधुकर भयौ दुविधा जोग मटाय॥ पाय रस प्रेम कों॥६८॥

---

१. श्रीमद्‌भागवत— १०— ४७, श्लोक संख्या ५८ व ६१

इस प्रकार गोपियों की प्रेमपूर्ण-भक्ति की जो प्रतिष्ठा भागवत में है, वही सूरदास एवं नन्ददास के भ्रमरगीतों में है। नन्ददास के भँवरगीत में पुष्टि-मार्गीय-तन्मयासक्ति भागवत के अनुसार ही है। भागवत के ६१वें श्लोक के उदाहरण के अनुसार ही नन्ददास के उद्धव भी गोपियों की मर्यादा आदि को त्याग कर कृष्ण में प्रेमासक्ति की उसी प्रकार प्रशंसा करते है—

हौं कह निज मरजाद की ग्यान रु कर्म निरूपी।
ये सब प्रेमासक्त होइ रहीं लाज कुल लोपि॥
धन्य ये गोपिका॥६३॥

जे ऐसी मरजाद मेटि मोहन कों ध्यावें।
काहे न परमानन्द प्रेम पदवी को पावें॥
ग्यान जोग सब कर्म तें परे प्रेम ही साँच।
हौं या पटतर देन हौं हीरा आगे कांच॥ विषमता बुद्धि की॥६४॥

भागवत की और सूरदास तथा नन्ददास की इस प्रेम-भक्ति की प्रतिष्ठा में अन्तर है तो यह कि जहाँ भागवत में मर्यादा-मार्गीय भक्ति पर तन्मयतापूर्ण-प्रेम-भक्ति अथवा पुष्टि-भक्ति की प्रतिष्ठा है, वहां सूरदास और नन्ददास के भ्रमर-गीतों में ज्ञान, कर्म और योगमार्ग तथा निर्गुण की साधना पर सगुण पुष्टि-भक्ति की प्रतिष्ठा का विधान है। भागवत में ज्ञान-योग और निर्गुण की साधना का प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ उद्धव ब्रह्म के गुणातीत रूप को जानता हुआ भी सगुण का भक्त है।

उपर्युक्त उद्देश्य की भिन्नता के कारण कई प्रसंगों में भी अन्तर पाया जाता है। भागवत में उद्धव कृष्ण के आदेश पर गोपियों, नंद और यशोदा को विरह की विकलता से शांत करने तथा कुशल-क्षेम लाने के लिए ब्रज जाते हैं। कृष्ण का जो संदेश उद्धव गोपियों को सुनाते हैं, वह न ज्ञान मार्ग का उपदेश है, न योग का, न निर्गुण की साधना का। हाँ, वह विवेकपूर्ण मर्यादा-भक्ति का संदेश अवश्य है। सूरदास ने उद्धव को ज्ञान-मार्गी निर्गुणवादी दिखाया है, और उसके ज्ञान के गर्व को चूर करने के लिए ही कृष्ण उसे ब्रज में भेजते हैं—

जदुपति जानि उद्धव रीति ।
जिहि प्रकट निज सखा कहियत करत भाव अनीति ।
विरह दुःख जहाँ नाहि जामत नहीं उपजै प्रेम ।।
रेख रूप न वरन जाके ताहि धरयो वह नैन ।
त्रिगुण तनु करि लखत हम कों ब्रह्म मानत और

× × × ×

प्रेम भजन न नेकु याके जाय क्यों समुझाय ।
सूर प्रभु मन इन्हैं आनि ब्रजहि देऊं पठाय ।।—सूरसागर २६०६

सूर और भागवत दोनों में उद्धव के भेजने की यह पृष्ठभूमि वर्णित है। उद्धव कृष्ण का आदेश पाकर ब्रज पहुँचते हैं। भागवत में उद्धव उस रात नन्द-यशोदा से ही भेंट करते हैं, गोपियों से अगले दिन मिलते हैं, किन्तु सूरदास में ब्रज पहुँचने पर गोपियों से ही सीधी उनकी भेंट होती है। गोपियाँ दूर से ही कृष्ण जैसी आकृति, वेशभूषा और रथ वाले उद्धव को आते देखती हैं। इस प्रकार सूरदास जी ने अपने भ्रमरगीत में भागवत की तरह गोपी-उद्धव संवाद की एक पृष्ठभूमि तैयार की है, किन्तु नन्ददास जी ने गोपी-उद्धव संवाद को ही महत्त्व दिया है। अतः उनके उद्धव सीधे ब्रज पहुँचे मिलते हैं और एकदम गोपियों से वार्तालाप शुरू कर देते हैं। नन्ददास के भ्रमरगीत का उद्देश्य तो अवश्य ज्ञान-मार्ग का खण्डन और प्रेम-भक्ति का निरूपण है, किन्तु सूरदास की तरह कृष्ण के इस अभिप्राय से उसे ब्रज भेजने की पृष्ठभूमि बिल्कुल नहीं है, केवल बाद में कुशल-क्षेम लाना कृष्ण का आदेश बताया गया है। उद्धव ज्ञानोपदेश के रूप में ही कृष्ण का संदेश कहते हैं। गोपी-उद्धव-संवाद ही नन्ददास का उद्देश्य है, अतः उन्होंने भागवत दशमस्कंध के ४६ वें अध्याय में वर्णित नन्द और यशोदा की विरह-दशा का चित्रण नहीं किया। उनके भ्रमरगीत में सूरदास और भागवतकार के विपरीत नन्द और यशोदा का कहीं वर्णन नहीं मिलता।

नन्ददास का भ्रमरगीत आरम्भ में संवाद रूप में है। प्रायः एक एक

पद में तर्कपूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तर चलता है। यह विशेषता नन्ददास के ही भ्रमर-गीत में है।

जहाँ भागवत की गोपियाँ भोली-भाली ग्रामीण स्त्रियाँ हैं, कृष्ण के प्रेम में पूर्णतया डूबी हुई हैं—उनमें सूर की गोपियों की-सी अधीरता और वाक्चातुर्य भी नहीं है, वहां नन्ददास की गोपियाँ बुद्धिवादी, वाक्चातुर्य से पूर्ण तार्किक नारियाँ हैं। वे सूर की गोपियों की तरह भावुक और प्रेमपगी भी हैं, और इसी कारण वे अपने प्रेम-विदग्ध हृदय से प्रेम के तर्क भी उपस्थित करती हैं, किन्तु इसके साथ-साथ वे शास्त्रीय-तर्कों द्वारा भी उद्धव को परास्त करती हैं। भागवत में उद्धव के कृष्ण-सन्देश पर— कि "मैं सबका उपादान कारण होने से सबका आत्मन् हूँ, सबमें अनुगत हूँ, इस लिए मेरा तुमसे वियोग नहीं हो सकता"—गोपिकाएँ संतुष्ट हो जाती हैं। किन्तु नन्ददास की गोपियों के समक्ष उद्धव जब यह संदेश रखते हैं—

> वे तुमतें नहिं दूरि ग्यान की आंखिन देखौ।
> अखिल विस्ब भरि पूरि रूप सब उनहिं बिसेखौ।।
> लोह दारू पाषान में, जल थल मही अकास।
> सचर अचर बरतत सबै, जोति ब्रह्म परकास।।
> सुनो ब्रज नागरी ।।७।।

तो गोपियों का संतुष्ट होना तो दूर रहा, वे उद्धव को अपने क्षुब्ध-हृदय की गाथा चातुर्य-पूर्ण उक्तियों से सुनाती हैं। वास्तव में नन्ददास के उद्धव और गोपियों का संवाद ज्ञान-योगी निर्गुणवादी पंडित एवं प्रेमयोगी सगुणवादी-भक्त का शास्त्रार्थ-सा हो गया है, जिसमें प्रेम-भक्ति की विजय होती है, और ज्ञान-मार्गी उद्धव उससे प्रभावित होता है।

नन्ददास जी के भ्रमरगीत में गोपियों की तन्मयता की अवस्था में उनके श्री कृष्ण के प्रत्यक्ष दर्शन का वर्णन किया गया है। भागवतकार की गोपियाँ भी कृष्ण-लीला-स्मरण में आत्मविस्मृत-सी तो अवश्य हो जाती हैं, परन्तु कृष्ण-दर्शन की यह सूझ नन्ददास की मौलिक सूझ है, जो भागवत

और सूरदास के भ्रमरगीतों में नहीं है।

भागवत में नन्द-यशोदा और गोप-गोपियों ने कृष्ण को उपहार भेजे हैं, परन्तु नन्ददास ने कोई ऐसा उल्लेख नहीं किया। सूरदास के भ्रमर-गीत में भी माता के उपहार भेजने का बड़ा मनोवैज्ञानिक वर्णन पाया जाता है—

कहियो जसुमति की आसीस।
रहौ जहाँ पर तहाँ लाडिले, जीवो कोटि बरीस॥
× × × ×
मुरली दई दोना घृत भरि, उधौ धरि लेइ सीस।
इह घृत तौ उनही सुरभिन कौ, जो प्यारी जगदीस॥

सम्बन्ध-भावनागत प्रेम का कैसा भव्य उदाहरण है। माता पुत्र के लिए वही वस्तुएँ भेजती है, जो उसके लाल को प्रिय और रुचिकर थीं। मुरली का भेजना कितना मार्मिक है। सूरदास की गोपियों ने भी अपनी मंगल-कामनाएँ एवं सद्भावनाएँ भेजी हैं, जोकि बहुत मनोवैज्ञानिक एवं मार्मिक हैं—

जहँ जहँ रहैं राज करैं तहँ तहँ लेहु कोटि सिर भार।
यह असीस हम देत सूर सुनु न्हात खसै जनि बार॥

नन्ददास ने इस प्रकार का कोई वर्णन नहीं किया।

सूर के भ्रमरगीत में भ्रमर को वैसे ही उपमान मान लिया गया है अथवा यों कहना चाहिए कि भ्रमर पहले से ही उपस्थित है, किन्तु नन्ददास में, भागवत के ही अनुसार, भ्रमर का आगमन वार्तालाप के बीच में होता है—

ताहि छिन एक भँवर कहूँ तें उड़ि तहँ आयौ।
ब्रज-वनिता के पुंज माँझ गुंजत छवि छायौ॥
बैठ्यौ चाहै पाय पर अरुन कमल-दल जानि।
सो मन ऊधौ को मनौ प्रथमहि प्रगट्यो आनि॥

भागवत में उद्धव ने ब्रज से लौट कर कृष्ण को "ब्रजवासियों की प्रेममयी भक्ति का उद्रेक, जैसा उन्होंने देखा था, कह सुनाया। इसके बाद

नन्दबाबा ने भेंट की जो-जो सामग्री दी थी, वह उनको, वसुदेव जी, बलराम जी और राजा उग्रसेन को दे दी।" ।।६९।। पर नन्ददास के उद्धव कृष्ण पर क्रुद्ध होते हैं और कहते हैं—

कछु निरदयता स्याम की करि क्रोधित दोउ नैन।
कछु ब्रजवनिता-प्रेम की बोलत रस भरे बैन।।
सुनौ नंद लाडिले।।७०।।

करुणामयी रसिकता है तुम्हारी सब झूठी।
तब ही लौं कही लाख जवहि लौं बांधी मूठी।।
मैं जान्यौ ब्रज जायकै निरदय तुम्हरौ रूप।
जे तुमको अवलम्बई तिनकौं मेल्यौ कूप।।
कौन यह धर्म है।।७१।।

उद्धव के इस प्रकार के उपालंभपूर्ण वचन सुनकर कृष्ण द्रवित हो उठे—

सुनत सखा के बैन नैन आए भरि दोऊ।
बिबस प्रेम-आवेस रही नाहिन सुधि कोऊ।।
रोम-रोम प्रति गोपिका ह्वै गई साँवरे गात।
काम तरोवर साँवरो ब्रज बनिता ही पात।।
उलहि अंग अंग तें।।७३।।

इसके पश्चात् कृष्ण उद्धव को उपदेश देने के लिए, गोपियों के साथ अपनी अभिन्नता स्वयं को गोपी-रूप में प्रकट करके दिखाते हैं—

उनमैं मोमैं हे सखा छिन भरि अंतर नाहिं।
ज्यों देख्यौ मो मांहि वे हौ हूँ उनहीं माहिं।।
तरंगिनि वारि ज्यों।।७४।।

गोपी आप दिखाई एक करिकै बनवारी।
ऊधौ के भरे नैन डारि व्यामोहक जारी।।

इस प्रकार नन्ददास ने उद्धव के मथुरा जाने के पश्चात् का प्रसंग भागवत और सूरदास दोनों से अधिक विस्तार के साथ, अपने सैद्धान्तिक पक्ष को स्पष्ट करने के लिए, वर्णित किया है। सूरदास के भ्रमरगीत में भी उद्धव

कृष्ण के समक्ष ब्रजवासियों की करुणापूर्ण दशा का वर्णन तथा उनके प्रेम की प्रशंसा तो अवश्य करते हैं, परन्तु नन्ददास का उपर्युक्त प्रसंग-विस्तार उनमें भी नहीं। यह नन्ददास की मौलिक सूझ है।

नन्ददास का भँवरगीत नाटकीय ढंग से आरंभ होता है। पहले ही छन्द में ऊधौ गोपियों को कहते हैं—"ऊधौ कौ उपदेश सुनौ ब्रज-नागरी।"

नन्ददास ने अपने भ्रमरगीत को इस प्रकार आरम्भ करके सूरदास के इसी शैली में लिखे गए छोटे भ्रमरगीत का अनुकरण किया है। सूरदास के उस छन्द-बद्ध गीत की आरंभिक पंक्तियों से नन्ददास की उपर्युक्त पंक्तियाँ बिल्कुल साम्य रखती हैं—

"ऊधौ को उपदेश सुनौ किन कान दै ?" (भ्रमरगीतसार पृ० ७)

इसके पश्चात् उद्धव अपने आने का उद्देश्य बताते हैं कि मैं श्याम का एक संदेश कहने के लिए तुम्हारे पास आया हूँ। इतनी देर से मैं उसे कहने का अवसर न पा सका, और मन में सोचता ही रहा कि कब एकान्त स्थान पाऊँ और तुम्हें संदेश सुनाकर मधुपुरी लौटूं—

कहन स्याम सदेश एक मैं तुम पै आयौ।
कहन समै संकेत कहूँ औसर नहिं पायौ॥

सोचत ही मन मैं रह्यौ कब पाऊँ एक-ठाऊँ।
कही संदेश नन्दलाल को बहुरी मधुपुरी जाऊँ॥

भागवत की तरह उद्धव गोपियों को यह भी बताते हैं कि मैं कुशल-क्षेम पूछने के लिए तुम्हारे पास आया हूँ, और कृष्ण ने कहा है कि थोड़े दिनों में हम तुम्हें अवश्य मिलेंगे, अधीर मत हो वो—

बूझन ब्रज कुसलात कों हौं आयौ तुम तीर।
मिलिहैं थोरे दिवस में जनि जिय होहु अधीर॥

इस प्रकार भागवत के ही आधार पर सूर और नन्ददास ने अपने-अपने ढंग से इस प्रसंग को मौलिक रूप दिया है। दोनों ने अपनी कल्पना शक्ति और काव्य-प्रतिभा तथा भक्ति-भावना से उसे सजीवता और काव्योपयोगिता प्रदान की है।

नन्ददास के भ्रमरगीत में तर्क का क्रम
(दार्शनिक-पक्ष)

नन्ददास जी के भ्रमरगीत में गोपी-उद्धव संवाद का आरंभिक-पक्ष तार्किक नहीं। आरंभिक छन्दों में उद्धव का गोपियों को आदेश तथा प्रेममयी गोपियों का उत्तर-रूप में अपने प्रेमी हृदय के प्रकटीकरण का मार्मिक वर्णन पाया जाता है। सूर की गोपियों की तरह यहाँ वे सीधे ही उत्तर देती हैं, जिनसे उनके प्रेम की विवशता, उत्कटता तथा उनका भोलापन स्पष्ट लक्षित होते हैं। इस प्रसंग में शास्त्रार्थ नहीं पाया जाता। निम्नलिखित पद में जब उद्धव कहते हैं—

> वे तुमतें नहिं दूरि ग्यान की आँखिन देखौ।
> अखिल विस्व भरि पूरि रूप सब उनहिं विसेखौ॥
> लोह दारू पाषान में जल थल मही अकास।
> सचर अचर बरतत सबै जोति ब्रह्म-परकास॥

तो वे उद्धव के मुख से ब्रह्म-जोति की बात सुनकर आश्चर्य-चकित हो जाती हैं, और उद्धव से पूछती हैं—उद्धव! तुम यह क्या कहते हो?

> कौन ब्रह्म को जोति ग्यान कासों कहै ऊधो?
> हमरे सुन्दर स्याम प्रेम को मारग सूधो॥
> नैंन, बैन, स्रुति, नासिका मोहन रूप दिखाई।
> सुधि-बुधि सब मुरली हरी प्रेम-ठगौरी लाइ॥

"तुम ज्ञान-ध्यान की किन कठिन बातों को कहते हो, हमारा तो सीधा-सादा प्रेम का मार्ग है। आँख, कान, नाक वाले साकार-सगुण कृष्ण ने हम पर मोहिनी-सी डाल कर हमारी सारी सुध-बुध ही छीन ली है, तब ज्ञान और चेतना की कौन बात करे?" घनानन्द ने भी कहा है—

अति सूधो सनेह को मारग है, जहँ नैकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ साँचे चलैं तजि आपनपौ, झिझकैं कपटी जो निसाँक नहीं॥

अगले पद में उद्धव सगुण का निषेध करके निर्गुण ब्रह्म की स्थापना करते हुए कहते हैं कि "वह ब्रह्म तो अच्युत जोति है, उसके हाथ, पाँव, नाक इत्यादि हैं ही नहीं, फिर तुम कैसे अपने को मोहित कहती हो ? यह वास्तव में सगुण समझने का तुम्हारा भ्रम-मात्र है"—

सगुन सबै उपाधि रूप निर्गुण है उनकौ।
निराकार निर्लेप लगत नहिं तीनों गुन कौ॥
हाथ पाँव नहिं नासिका नैन बैन नहिं कान।
अच्युत जोति प्रकासिका, सकल विस्व कै प्रान॥

उद्धव के उपर्युक्त वचनों का उत्तर नन्ददास की गोपियाँ सूर की गोपियों की ही तरह देती हैं—

जो मुख नाहिन हुतो कहौ किन माखन खायौ ?
पायन बिन गौ संग कहौ को बन-बन धायौ ?
आँखिन में अंजन दियौ, गोबरधन लियौ हाथ।
नंद-जसोदा पूत है कुँवर कान्ह ब्रजनाथ॥

उद्धव कहने लगे—हे ब्रजसुन्दरियो ! जिन्हें तुम कान्ह कहती हो, वह परब्रह्म हैं। उनके कोई माता-पिता नहीं हैं, अखिल अंड-ब्रह्मांड उन्हीं से भरा-पूरा है। उस परब्रह्म को योग-युक्ति से ही प्राप्त किया जा सकता है—

जाहि कहौ तुम कान्ह ताहि कोउ पितु नहिं माता।
अखिल अंड ब्रह्मंड बिस्व उन्हीं में जाता॥
लीला को अवतार लै धरि आए तन-स्याम।
जोग जगुतैं ही पाइए पारब्रह्म-पद-धाम॥

उद्धव की योग की बात सुनकर नन्ददास की गोपियाँ, सूर की गोपियों की ही भांति, अपने को जोग के अयोग्य बताती हैं—

ताहि बताओ जोग जोग ऊधो जेहि पावौ।
प्रेम सहित हम पास नन्दनन्दन गुन गावौ ॥
नैन वैन मन प्रान में मोहन गुन भरिपूरि।
प्रेम पियूषै छाँड़िकै कौन समेटे धूरि ॥

सूरदास की गोपियाँ भी कहती है—

ऊधो हम अजान मति भोरी।
जानति हैं ते जोग की बातें नागरि नवल किसोरी ॥
× × × × ×
यह व्यवहार तिहारो, बलि बलि ! हम अबला मति थोरी।
निरखहि सूर स्याम-मुख चंदहि अँखियाँ लगनि-चकोरी ॥११६॥
(भ्रमरगीतसार)

इन पंक्तियों मे प्रेम का ही तर्क है। अपने प्रेम के सरल और सुखद मार्ग के सामने वे भला जोग और ज्ञान के कष्टपूर्ण मार्ग को क्यों पत्याने लगीं। उनके प्रत्येक अंग में मोहन कृष्ण के ही गुण तथा उसी का रूप समाया हुआ है। फिर भला वे प्रेमामृत को छोड़कर जोग की धूल को समेटने की मूर्खता क्यों करें ?

इस प्रसंग के पश्चात् गोपी-उद्धव-संवाद का दूसरा रूप आरंभ होता है। यह रूप शास्त्रार्थ के ढंग का वार्तालाप है। गोपियों के 'धूरि' शब्द को पकड़ कर उद्धव बड़ी चतुराई से कहते हैं—

धूरि बुरी जौ होइ ईस क्यों सीस चढ़ावै।
धूरि क्षेत्र में आइ कर्म करि हरिपद पावै ॥
धूरिहि तें यह तन भयो धूरिहि सों ब्रह्मांड।
लोक चतुर्दस धूरि के सप्त दीप नव खंड ॥
सुनो ब्रज नागरी ! ॥१३॥

गोपियाँ भी तर्कपूर्ण उत्तर देती हुई कहती हैं—इस कर्म-धूरि की बात तो कर्मवादी लोग ही जानें, वे ही अपने कर्म की धूरि प्रेम के निर्मल अमृत में

मिलाया करते हैं। प्रेम-भक्ति में सभी विधि-निषेधपूर्ण-कर्म छूट जाते हैं। भगवान् के हृदय-वास से ये सब कर्म-बंधन समाप्त हो जाते हैं। कर्म-बंधन में फँसे हुए मनुष्य ही भगवान् से विमुख होते हैं—

> कर्म-धूरि की बात कर्म-अधिकारी जानैं।
> कर्म-धूरि को आनि प्रेम-अमृत में सानैं।।
> तब ही लौं सब कर्म हैं जब लौं हरि उर नाहिं।
> कर्म बंध सब बिस्व के जीव विमुख ह्वै जाहिं।।
> सखा ! सुनि स्याम के।।१४।।

उद्धव फिर कर्म-मार्ग का पक्ष लेते हुए कहते है कि कर्म से ही सद्गति मिलती है। कर्म के कारण ही संसार में जीवों की उत्पत्ति और विनाश होता है।

गोपियाँ कर्म के बारे में अपना ही दृष्टिकोण व्यक्त करती हैं। वे कहती हैं—कर्म के साथ ही पाप-पुण्य, सुख-दुख और नाना प्रकार के बंधन हैं। ऊंचे कर्म से स्वर्ग मिलता है और नीचे कर्म से नरक, ऐसा कर्मवादी कहते हैं, किन्तु वास्तविक बात यही है कि शुद्ध प्रेम के बिना सब कुछ विषय-वासना की वस्तु बन जाता है—

> कर्म पाप अरु पुन्य लोह सोने की बेरी।
> पायन बंधन दोउ कोउ मानौ बहुतेरी।।
> ऊंच कर्म तें स्वर्ग है, नीच कर्म तें भोग।
> प्रेम बिना सब पचि मुये विषय-वासना रोग।।
> सखा ! सुनि स्याम के।।१६।।

उद्धव कर्म-योग का समर्थन करते हुए फिर कहते हैं—"यदि कर्म बुरा होता तो योगी योग की साधना क्यों करते ? वे इन्द्रिय-निग्रह द्वारा, समाधि लगाकर ब्रह्म में लीन होते हुए सायुज्य मुक्ति को प्राप्त करते हैं—

> कर्म बुरो जो होइ जोग कोउ काहे धारैं।
> पद्मासैन सब द्वार रोकि इंद्रिन कों मारैं।।
> ब्रह्म अगिन जरि सुद्ध ह्वै सिद्धि समाधि लगाई।
> लीन होई साजुज्य में जोतै जोति समाई।।

उद्धव के कथन का उत्तर गोपियाँ इस प्रकार देती हैं—योगी योग की साधना से जोति को पाते हैं और भक्त-लोग प्रेम से साकार रूप को पाते हैं। प्रेम-भक्ति से सहज-प्राप्य सगुण-रूप को छोड़कर निर्गुण निराकार की ओर दौड़ना ऐसा ही है जैसे पास आये हुए साँप को छोड़कर उसे उसके बिल पर ढूढने का प्रयत्न किया जाय :—

जोगी जोतिहिं भजै भक्त निज रूपहि जानै।
प्रेम पियूषै प्रगटि स्यामसुन्दर उर आनै।।
निर्गुन गुन जो पाइए लोग कहैं यह नाहिं।
घर आए नाग न पूजें बाँबी पूजन जाहिं।।

इस प्रकार कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति के वाद-विवाद के साथ निर्गुण-सगुण का वाद-विवाद भी चलता है। जब निर्गुणवादी उद्धव कहता है कि ब्रह्म निर्गुण है, यदि उसके गुण होते तो वेद उसके बारे में नेति नेति की पुकार क्यों करते—

जो हरि के गुन होइ वेद क्यों नेति बखानैं।
निर्गुण सगुण आतमा उपनिषद जो गानै।।
वेद पुराननि खोजिकै नहिं पायो गुन एक।
गुनहीं के जो होहि गुन कहि अकास किहि टेक ?

तो ब्रज-बालाएँ बड़ा सुन्दर तर्कपूर्ण उत्तर देती है—यदि उनके गुण ही नहीं थे तो संसार का सगुणात्मक रूप कैसे प्रादुर्भूत हुआ ? भला बिना बीज के भी वृक्ष हो सकता है ? यह संसार उस ब्रह्म के गुणों की ही तो परछाईं है। वस्तुतः गुण से गुण पृथक् नहीं हैं, माया के विकार से ही वे पृथक् पृथक् दिखाई देते हैं। माया की कीचड़ ही निर्मल-जल में मिलकर उसके गुण को पृथक् प्रकट कर रही है –

जो उनके गुण नाहि और गुण भये कहाँ तें।
बीज बिना तरु जमे मोहि तुम कहौ कहाँ तें।।
वा गुन की परछाँइ री माया दर्पण बीच।
गुन तें गुन न्यारे नहीं अमल वारि मिलि कीच।।

गोपियाँ कहती है कि जिन वेद और उपनिषदों की तुम कहते हो कि वे नेति-नेति कहते हैं और निर्गुण ब्रह्म को ही उसका पारमार्थिक रूप बताते हैं, वे भी तो उसके ही स्वरूप हैं, उसी की स्वास से निकले हैं। तुम कर्म की बात व्यर्थ करते हो। कर्म-क्रिया में आसक्ति होने के कारण ही तो जीव को अपने ब्रह्म-रूप की सुध भूल जाती है। वह ब्रह्म कर्म-निर्लिप्त होने से ही प्रेम द्वारा पाया जा सकता है—

वेदहु हरि के रूप स्वास मुख तें जो निसरैं।
कर्म-क्रिया आसक्ति सबै पछिली सुधि बिसरैं।।

उद्धव इसपर कहते हैं कि तुम्हारा प्रेम वस्तु-दृष्टि के बिना ही केवल भ्रम पर आधारित है। सूर्य-चन्द्र आदि के रूप को हम प्रति दिन देखते हैं, परन्तु तो भी उनके वास्तविक रूप और गुण को नहीं जानते, तो फिर गुणातीत भगवान् के वास्तविक रूप को कैसे जानेंगे ? और यदि वस्तु-तथ्य को जानेंगे नहीं तो वह प्रेम, जो रूप-दर्शन मात्र से ही है, कैसे प्राप्त हो सकेगा ?—

प्रेमहि कै कोउ वस्तु रूप देखत लौं लागै।
वस्तु-दृष्टि बिन कहो कहा प्रेमी अनुरागै।।
तरनि चंद्र के रूप को नहिं पायौ गुन जान।
तौ उनको कहा जानियै गुनातीत भगवान।।

गोपियाँ, उद्धव द्वारा उनके कृष्ण के प्रति सच्ची-दृष्टि के अभाव का आक्षेप सुनकर, अपनी खीझ को बड़े सुन्दर तर्कपूर्ण ढंग से इस प्रकार व्यक्त करती हैं—"हे श्याम के सखा! जैसे आकाश में सूर्य अपने तेज में छिपा रहता है, वैसे ही वह ब्रह्म भी अपने सगुण रूप में रहता है। जैसे सूर्य को देखने से साधारण दृष्टि चुंध्या जाती है, सिवाय प्रकाश के कुछ नहीं देख पाती, वैसे ही साधारण दृष्टि को ब्रह्म का सगुण-साकार रूप उसके तेज में नहीं दीखता। उसे देखने और समझने के लिए दिव्य-दृष्टि चाहिए। जिनके पास प्रेम की आँखें नहीं हैं, जो कर्म-कूप में पड़े हैं, उन्हें वह कभी भी सूझ नहीं सकता—

तरनि अकास प्रकास जाहि में रह्यौ दुराई।
दिव्य दृष्टि बिनु कहौ कौन पै देख्यो जाई।।
जिनके वे आँखें नहीं देखें क्यों वह रूप।
क्यों उपजै बिस्वास जे परे कर्म के कूप।।

उद्धव कहते है कि तुम व्यर्थ ही कर्म का निषेध करती हो। भक्ति भी तो एक कर्म ही है, और कर्म-योग से ही धीरे-धीरे कर्म का नाश हो जाता है। तब आत्मा निष्कर्म होकर निर्गुण और कर्म-रहित ब्रह्म में लीन हो जाती है—

क्रम क्रम कर्म के किये कर्म नास ह्वै जाय।
तब आत्मा निहकर्म ह्वै निर्गुण ब्रह्म समाय।।

गोपियाँ इस तर्क का भी बड़ी चतुरता से उत्तर देती हैं—जब भगवान् में भी कर्म नहीं और अन्त में कर्मों का त्याग करना है तो कर्म-बंधन में क्यों पड़ा जाय? निर्गुण तो केवल सूक्ष्म तत्व है, तुम्हारे ही अनुसार, गुणातीत है। वास्तविक वस्तु तो सगुण ही है, जो समस्त दृश्यमान जगत् में भी विद्यमान है—

जौ हरि के नहि कर्म कर्म बंधन क्यों आयौ।
तौ निर्गुण होइ बस्तु मात्र परमान बनायौ।।
जो उनको परमान है तौ प्रभुता कछु नाहि।
निगुँण भए अतीत के सगुन सकल जग माँहि।।

इस पर फिर उद्धव जी भगवान् और संसार के भिन्न-भिन्न गुणों की चर्चा को दोहराने लगे। गोपियाँ पहले ही गुणों की अभिन्नता का प्रमाण

"वा गुन की परछाँइ री माया दरपन बीच।
गुन तें गुन न्यारे नहीं अमल वारि मिलि कीच।"

कहकर दे चुकी हैं—अतः वे खीझ उठती हैं और उद्धव को नास्तिक कह कर वाद-विवाद बन्द करती हैं—

नास्तिक हैं जे लोग कहा जानैं निज रूपै।
प्रगट भानु कों छाँड़ि गहत परछाई धूपै।।

हमरें तौ यह रूप बिन और न कछू सुहाय।
जो करतल अमलक के कोटिक ब्रह्म दिखाय।।

इस प्रकार उपर्युक्त तर्कक्रम से स्पष्ट है कि उद्धव अपने तर्क के प्रमाण में योग की सिद्धि, वेद, उपनिषद्, मायादि को प्रमाण रूप में उपस्थित करते हैं। पर गोपियाँ व्यावहारिक दृष्टि और शुद्ध तर्क का ही सहारा लेती हैं, और प्रायः प्रत्येक बात पर उद्धव को निरुत्तर कर देती हैं। स्पष्ट है कि लेखक का उद्देश्य ज्ञान-मार्ग, योग और निर्गुण के पक्ष को प्रेम-भक्ति और सगुण की तुलना में हल्का दिखाना रहा है। उद्धव के तर्क निर्बल प्रस्तुत किए गए हैं। यह कवि की साम्प्रदायिक भावना का ही प्रतिफल है।

उद्धव की उक्तियों से खीझकर, वाद-विवाद को बन्द कर गोपियाँ उद्धव से मुख मोड़ लेती हैं, और कृष्ण-स्वरूप में ध्यान-मग्न हो जाती है। वे अपने सम्मुख साक्षात् कृष्ण को देखने लगीं। "गोपियों के उद्धव की ओर से मुख मोड़ कर बैठने के भाव में, उद्धव के प्रति उनका घृणा का भाव दर्शित नहीं है। इसमें उस ऐकान्तिक और अनन्याश्रय-पूर्ण-भक्ति का रूप लक्षित है जिसमें भक्त तर्क-बुद्धि के विकार को छोड़ तथा लोक से मुँह मोड़कर केवल एकरूप अपने इष्ट को ही देखता है, और उसके समक्ष आत्मसमर्पण करता है।"

गोपियों के प्रेम की गहराई का प्रभाव उद्धव पर पड़ता है, और उसका नेम-धर्म, ज्ञान-योग और निर्गुण प्रेम-रस-मन्दाकिनी में डूबने लगते हैं। वह गोपियों का गुण गाने लगता है। उसने अपनी हार स्वीकार करली—

देखत इनकौ प्रेम नेम ऊधो कौ भाज्यौ।
तिमिर भाव आवेस बहुत अपने जिय लाज्यौ।।
मन में कहि रज पाँय कौ लै माथै निज धारि।
परम कृतारथ ह्वै रहौं त्रिभुवन-आनन्द वारि।। वंदना जोग ए ।।४८।।

इसी समय एक भ्रमर उड़ता हुआ आता है। गोपियाँ उसको सम्बोधित करके अपनी प्रेमपूर्ण खीझ को बड़े ही मार्मिक शब्दों में व्यक्त करती हैं। अन्योक्ति के द्वारा वे ज्ञान का दंभ भरने वाले उद्धव को खरी-खरी सुनाकर

ज्ञान की रही-सही मेंड को भी साफ कर देती हैं। उद्धव के योग-सिद्धि और निर्गुण-पक्ष पर व्यंग्य-चोट करती हुई वे कहती है—

कोउ कहै री सखी साधु मधुवन के ऐसे।
और तहाँ के सिद्ध लोग ह्वै हैं धौं कैसे।।
औगुन ही गहि लेत हैं अरु गुन डारें मेटि।
मोहन निर्गुन क्यों न हों उन साधुंन कौं भेटि।। गाँठि कौ खोइकै ।।५६।।

कैसी सुन्दर व्यंग्योक्ति है ! कोई गोपी कहने लगी कि यह मधुप उलटा ज्ञान ही ले आया। यह अपनी योग की चटसार में जीवन-मुक्त लोगों को ही फिर कर्म-बन्धन का उपदेश देता फिरता है।

इस प्रकार उपालंभ देते-देते वे फिर गोविन्द के ध्यान में मग्न होगईं, और उसका स्मरण करके फूट-फूट कर रोने लगीं। उनके इस प्रेम-प्रवाह में उद्धव कहाँ टिक सकते थे—

ताही प्रेम-प्रवाह में ऊधौ चले बहाय।
भले ग्यान की मेंड हौं व्रज मैं प्रगट्यौ आय।। कूल के तृन भये ।।६१।।

इस प्रकार कवि ने गोपियों के प्रेम-मार्ग की प्रतिष्ठा की है। उद्धव प्रेम-भक्ति के अनुगामी बन जाते हैं। ज्ञान और योग के साधनों पर प्रेम और भक्ति की विजय होती है। यही नहीं, उद्धव के वचनों द्वारा अपनी पुष्टि-भक्ति तथा अपने उद्देश्य का पूर्ण परिचय लेखक ने कराया है। उद्धव वृन्दावन के "मारग मैं की रज" अथवा वहाँ के द्रुम-लतादि बन जाना चाहता है, और उसी भक्ति की कामना करने लगता है। नन्ददास ने अपने सैद्धान्तिक पक्ष को कृष्ण द्वारा गोपी प्रकट करके उद्धव को दिखाने के प्रसंग से भी स्पष्ट किया है। इस प्रकार लोक-वेदादि की मर्यादा से मुक्त प्रेम-भक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा नन्ददास के भँवर-गीत में पाई जाती है।

नन्ददास के भँवरगीत का प्रेम-तत्व-निरूपण

सूरदास जी के भ्रमरगीत की तरह नन्ददास के भँवरगीत में भी गोपियों के अनन्य, निश्छल एवं निश्चल प्रेम की प्रतिष्ठा पाई जाती है। भागवत में भी गोपियों का प्रेम दर्शित है, परन्तु उसमें वह सजीवता और स्वाभाविकता नहीं जो सूरदास और नन्ददास की रचनाओं में है। नन्ददास ने गोपियों के विरह का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। गोपियों के हृदय की वेदना को मुखरित करने में वे पूर्ण सफल रहे हैं। सूरदास के समान मनोवैज्ञानिकता एवं भाव-विस्तार चाहे नन्ददास के भँवरगीत में न आ पाया हो, किन्तु गोपियों की तन्मयता दिखाने में वे पूर्ण सफल हुए हैं।

आरंभ में ही श्याम के सखा उद्धव को आया देखकर गोपियाँ गद्-गद् हो जाती हैं। जब उद्धव ने कहा—

'कहन श्याम सन्देश एक मैं तुमपै आयौ'

तो गोपिकाएँ श्याम का नाम सुनकर ही अपनी सुध-बुध भूल जाती हैं। वे कृष्ण के रूप और गुणों में मग्न हो जाती हैं। आनन्द-रस से उनका हृदय भर आता है—

सुनत श्याम कौ नाम बाम गृह की सुधि भूली।
भरि आनन्द रस हृदय प्रेम-बेली द्रुम फूली॥
पुलक रोम सब अँग भए भरि आए जल नैन।
कंठ घुटे गदगद गिरा बोल्यो जात न बैन॥ बिवस्था प्रेम की॥३॥

अपने प्रियतम का सखा जानकर वे उद्धव का आदर-सत्कार करती हैं, और सर्वप्रथम बड़ी उत्सुकता, अभिलाषा और हर्ष-उमंग के साथ कृष्ण का कुशल-क्षेम पूछती हैं। जब उद्धव के मुख से कृष्ण और उनके समस्त बधु-बाँधव की कुशलता का समाचार वे सुनती हैं, और साथ ही कृष्ण का यह

संदेश पाती हैं कि—

'मिली हैं थोरे दिवस में जनि जिय होहु अधीर ।।

तो मोहन का 'रूप सुमिरन' करके वे फिर प्रेम के आवेश में प्रेम-विह्वल हो मूर्छित हो जाती हैं—

विह्वल ह्वै धरनी परीं व्रज-वनिता मुरझाय ।
दै जल छींट प्रवोधहीं ऊधौ बैन सुनाय ।।

उद्धव अपना ज्ञान का संदेश उनपर झाड़ना आरंभ करते हैं, और 'जोति ब्रह्म-प्रकास' की व्यापकता का बखान कर कृष्ण के निर्गुण-ब्रह्मत्व की बात करते है। गोपियाँ उद्धव की बातों को विचित्र समझती हैं। वे कहती हैं कि तुम किस की बातें करते हो ? किस ज्ञान-चर्चा को छेड़ते हो ? हमारे तो श्याम सुन्दर ही एकमात्र प्रिय है और प्रेम का मार्ग ही सरल और सीधा है। कृष्ण के मोहक रूप और मुरली-वादन ने हमारे हृदय में प्रेम की ठगौरी-सी लगा दी है। अब हमें उसके सिवा कुछ नही सूझता।

उद्धव फिर निर्गुण-निराकार ब्रह्म को समझाते हैं और कहते है कि न उसके हाथ हैं, न मुख; न कान-नाक है, न आँखें। गोपियाँ इस बात को सुनकर कृष्ण-लीलाओं का स्मरण कर बड़े भोलेपन से कहती हैं—

जो मुख नाहिन हुतो कहौ किन माखन खायौ ?
पायन बिन गो संग कहौ को बन-बन धायौ ?
आँखिन मैं अंजन दियौ, गोबरधन लियौ हाथ।
नंद-जसोदा पूत हैं कुँवर कान्ह व्रज-नाथ ।।

गोपियाँ कहती हैं--"उद्धव ! वास्तव में तुम्हे भ्रम हो गया है। कृष्ण ब्रह्म के बारे में तुम जो कहते हो कि उनके माता है न पिता और वह जोग और ज्ञान से प्राप्य है, सो तुम्हारी बात हम सुनने के लिए तैयार नहीं हैं। अपने जोग की गठरी कही और जाकर खोलो। भला सोचो तो—"प्रेम पीयूषै छाँड़िकै कौन समेटे धूरि"। वास्तव में तुम्हारा सहज-प्राप्य-सगुण-कृष्ण को न मानना ऐसा ही है जैसे कोई—'घर आए नाग न पूजै बाँबी पूजन जाहिं'। कृष्ण के सगुण रूप को समझने और देखने के लिए दिव्य-दृष्टि और

प्रेम की आँखें चाहिएँ, और—

जिनके वे आँखें नहीं देखें क्यों वह रूप ।
क्यौं उपजै बिस्वास जे परे कर्म के कूप ।।

जब पर्याप्त तर्कों तथा प्रेम की विवशता का भी प्रभाव उद्धव नहीं समझते, और अपने ज्ञान, योग, कर्म आदि को व्यर्थ ही बार-बार दुहराते हैं, तो गोपियाँ खीझ कर उन्हें नास्तिक और अविश्वासी तक कह देती हैं—

नास्तिक हैं जे लोग कहा जानैं निज रूपै ।
प्रगट भानु कों छाँड़ि गहत परछाई धूपै ।।

उद्धव ! तुम जो मरजी करो, 'हमरें तौ यह रूप बिन और न कछू सुहाय।' और इस प्रकार उद्धव के प्रति उपेक्षा दिखाकर वे कृष्ण-मग्न हो गईं । कवि ने इस प्रसंग में गोपियों के प्रेम में वियोग की एक दशा 'वियोग में संयोग' का बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है । गोपियों के जिन हृदयगत भावों का प्रकाशन अब तक उद्धव के साथ तर्क-वाणी द्वारा हो रहा था, अब उनकी व्यंजना भावमयी-भाषा, तथा 'सात्विक अनुभावों' द्वारा होने लगती है । उद्धव के तर्कों से गोपियों की विरह-पीर कसक उठी । उसी समय उनके हृदय में निरन्तर निवास करने वाली कृष्ण की मनोहर मूर्ति अपने निष्ठुर रूप में स्मृति-नेत्रों के सामने आ खड़ी हुई । इस अवस्था मे गोपियाँ अपनी सज्ञानता भूल जाती हैं, और 'वियोग में संयोग' अवस्था का भाव अनुभव करने लगती हैं । "प्रतीक्षा की वेदना के बाद जब किसी प्रेमी को उसका प्रिय मिलता है, तो पहले विरह-दुख संयोग-सुख को दबाकर अश्रु आदि बाह्य चेष्टाओं द्वारा मूकभाव से निकलने का प्रयत्न करता है । ठीक यही दशा कृष्ण के काल्पनिक संयोग में गोपियों की हो गई—मुख पर प्रेम की आभा और नेत्रों में विरह की खीझ से सने प्रेमाश्रु ।" बौद्धिक तर्कों के पश्चात् अब रसरीति की तर्कों को गोपियाँ कृष्ण के प्रति उपालंभपूर्ण उक्तियों के द्वारा अपने हृदय की वेदना के रूप में चुचातें-नेत्रों से उपस्थित करती है –

ऐसे में नँदलाल-रूप नैननि के आगे ।
आय गयौ छवि छाय बने बीरी अरु बागे ।।

ऊधौ सों मुख मौरिकै कहत तिनहिं सों बात।
प्रेम-अमृत मुख तें स्रवत अंबुज-नैन चुचात।
तरक रसरीति की ॥२६॥

आरंभिक पृष्ठभूमि और तर्कपूर्ण वाद-विवाद के पश्चात् अब नन्ददास के भ्रमरगीत का तीसरा पक्ष गोपियों के विरह-विदग्ध-हृदय का क्षोभ-पूर्ण उपालंभ आरंभ होता है। यह 'वियोग में संयोग' का सुन्दर उदाहरण है। बड़ी कातर वाणी में गोपियाँ आत्मनिवेदन करने लगीं—हे स्वामी! आज तुम्हारे बिना चारों ओर शून्यता और दुःख का राज्य है। हम तो थीं ही, तुम्हारे बिना तुम्हारी प्रिय-गाएँ भी बन में दुःख से इधर-उधर मारी-मारी फिरती है। आप हमारी सुध नहीं लेते, न सही, इन गायों और गोपों की तो संभाल करो। सब दुःख के सागर में डूबे जा रहे हैं, अपने वरद-हस्त का सहारा दो, इतने निठुर क्यों होते हो—

अहो! नाथ! रमानाथ और जदुनाथ गुसाईं!
नन्दनंदन बिडरात फिरत तुम बिनु बन गाईं॥
काहे न फेरि कृपाल ह्वै गौ ग्वालन सुख देहु।
दुख-जल-निधि हम बूड़हीं कर-अवलम्बन देहु॥
निठुर ह्वै कहा रहे? ॥३०॥

गोपियों की दीनता, कातरता, अभिलाषा, आत्मनिवेदन एवं उपालंभ आदि कितनी ही भावनाओं का सजीव प्रकाशन उक्त पंक्तियों द्वारा हुआ है। गोपियाँ अपनी विवशता, अधीनता एवं दीनता का सच्चा चित्र प्रस्तुत करती हुई कहती हैं—

हम परबस आधीन हैं तातें बोलत दीन।
जल बिनु कहि कैसे जियैं पराधीन जे मीन॥
विचारौ रावरे! ॥३१॥

'माना कि तुमको हम-सी करोड़ों नारियाँ प्राप्य हैं, परन्तु इस बहुल-प्राप्ति के कारण प्रीति तोड़ना कहाँ का न्याय है?' गोपियों की इन उक्तियों

में जहाँ एक ओर उनके आध्यात्मिक-अनन्य-प्रेम की व्यंजना हुई है, वहाँ मध्ययुगीन नारी की उस दीन और करुणा-पूर्ण दशा का भी स्पष्ट चित्रण हुआ है, जब पुरुष-प्रधान समाज में उसकी आत्मा पुरुष के सच्चे प्रेम के लिए छटपटा रही थी—

हमकों तुम पिय एक हौ तुमकों हमसी कोरि।
बहुतायत के रावरे प्रीति न डारो तोरि।।
एक ही बार यौं ।।३२।।

"प्रिय की निष्ठुरता के अनुमान से प्रेरित वेदना में विरह की गहनता प्रिय के प्रति उपालंभ का रूप धारण कर लेती है।" इस उपालंभ में प्रेम-पूर्ण-आसक्ति शिथिल नहीं होती, वरन् उसमें और भी दृढ़ता आ जाती है। गोपियों का यह उपालंभ बड़ा मनोवैज्ञानिक है। वे कृष्ण की निठुराई पर उसे खरा-खोटा कहकर ताने देने लगती हैं--"ओ श्याम ! मथुरा का अधिकार पाकर, वहां के महाराज बनकर ही तुम इतरा गए हो—और संभवत: यही कारण है कि तुम हम अबलाओं की खबर नहीं लेते—

कोऊ कहै अहो स्याम कहा इतराय गए हौ।
मथुरा कौ अधिकार पाय महाराज भये हो।।

गोपियाँ कहती हैं—यदि इस प्रकार विरह-वेदना देकर मारना चाहते थे, तो गोवर्धन धारण कर हमारी रक्षा क्यों की थी ? दावानल की लपटों और कालियनाग की विषमय-ज्वालाओं से हमें क्यों बचाया था ? अब इस प्रकार चित्त चुराकर विरह की अग्नि में जलाना कहाँ का मजाक है—

कोउ कहै अहो स्याम चहत मारन जो ऐसे।
गोवरधन कर धारि करी रच्छा तुम कैसे ?
ब्याल, अनल, बिष-ज्वाल तें राखि लई सब ठौर।
विरह-अनल अब दाहिहौ हँसि-हँसि नन्दकिशोर।।
चोरि चित्त लै गये ।। ३४ ।।

गोपियों का उपालंभ खीझ में परिणत हो जाता है, और वे अनेक व्याजस्तुतियों एवं वक्रोक्तियों द्वारा कृष्ण को ताने देने लगती हैं। कोई गोपी

कहने लगी—'अरे यह तो बड़े धर्मात्मा और स्त्रियों को जीतने वाले हैं। ये लाखों को अपने अस्त्र-शस्त्र से बेधने वाले है। इन्होंने ही सीता जी के कहने से 'शूर्पनखा' का रूप कुरूप किया था। ये वही छलिया है न, जिन्होंने वलिराजा से सारी ज़मीन छीन ली थी, बड़े धर्मात्मा बन कर उसकी पीठ पर पाँव रखे थे! ये वही निर्दयी और कपटी है न, जिन्होंने परशुराम के रूप में अपनी माता को ही मार डाला था—

कोउ कहै ये परम धर्म इस्त्री जित पूरे।
लछ लाघव संधान धर आयुध के सूरे॥
सीता जू के कहे तें सूर्पनखा पै कोपि।
छेदे अंग बिरूप करि लोगन लज्जा लोपि॥ कहा ताकी कथा॥
कोउ कहै री सुनौ और इनके गुन आली।
बलिराजा पै गए भूमि माँगन बनमाली॥
माँगत बामन रूप धरि, परबत भयौ अकाय।
सत्त धर्म सब छौड़िकै धर्यौ पीठ पै पाय॥ लोभ की नाव ये॥
कोउ कहै इन परसुराम ह्वै माता मारी।
फरसा कंधा धारि भूमि छत्रिन संघारी॥

कोई सखी कहने लगी—"भला शिशुपाल राजा का क्या दोष था, जो इन्होंने उसके साथ छल किया? वास्तव में इनकी कपटपूर्ण-प्रकृति और निर्दयता को हमने पहले नहीं पहचाना। इन्होंने दलबल जोड़कर रुक्मिणी का हरण कर लिया था। इस प्रकार के स्वार्थी कृष्ण से भला प्रेम की आशा क्या हो सकती है?—

कोउ कहै सखि कहा दोप सिसुपाल नरेसै।
ब्याह करन को गयौ नृपति भीषम के देसै॥
दलबल जोरि बरात कों ठाढ़ौ हो छबि बाढ़ि।
इन छल करि दुलही हरी, छुधित ग्रास मुख काढ़ि॥
आपुने स्वारथी ॥४१॥

इस प्रकार प्रेम के आवेश में, कृष्ण की अपने प्रति निष्ठुरता की उत्तेजना के कारण वे कृष्ण, के गुणों को भी दूषणों के रूप में गनने लगीं। कृष्ण के नाना अवतारों का चिन्तन करते हुए, वे रामावतार-रूप में उनके ताड़का-वध, बालकृष्ण-रूप में पूतना-दमन, वामन-रूप में बलिराजा, परशुराम-रूप में अनेक क्षत्रियों तथा नरसिंह-रूप में हिरनकस्यप के संहार को वे उनकी निर्दयता ही कहने लगती हैं। प्रेम का आवेश बढ़ जाता है। इस स्मृति की विरह-दशा में वे अपने रोम-रोम में कृष्ण-रूप की व्याप्ति का अनुमान करने लगती हैं—

इहि विधि होइ अवेस परम प्रेमहिं अनुरागीं।
और रूप पिय चरित तहाँ सब देषन लागीं॥
रोम रोम रहे व्यापि कै जिनके मोहन आय।
तिनके भूत भविष्य कों जानत कौन दुराय॥ रंगीली प्रेम की॥

नन्ददास ने कृष्ण, के नाना अवतारों के दूषणों का गोपियों द्वारा उपर्युक्त चित्रण भागवत के ही आधार पर किया है।[1] भागवत में भ्रमर को सम्बोधित करके गोपियाँ कृष्ण की निठुरता और निर्दयता पर ताने कसती हैं। नन्ददास ने इस प्रसंग को अधिक मनोवैज्ञानिक बना दिया है। सूरदास में इसका अभाव है।

आखिर गोपियों को इस प्रकार भाव-विह्वल देखकर उद्धव का मन डाँवाडोल हो गया। उसके योग, ज्ञान का सब नियम-धर्म हवा हो गया। वह भी उनके प्रेमरस में डूबने लगा। अपने ज्ञान-मार्ग को छोड़कर वह प्रेम-मार्ग का अनुयायी हो गया। वह प्रेम-भक्ति की पात्र गोपिकाओं का ही गुण गाने लगा—

देखत इनकौ प्रेम नेम ऊधौ को भाज्यौ।
तिमिर-भाव आबेस बहुत अपने जिय लाज्यौ॥
मन मैं कहि रज पायँ कौ लै माथैं निज धारि।
परम कृतारथ ह्वै रहौं त्रिभुवन-आनन्द वारि॥
बंदना जोग ए॥ ४३॥

१. दे० भागवत दशमस्कंध, ४७वां अध्याय—श्लोक नं० १६-१७

नन्ददास के भ्रमरगीत का एक भ्रमर के आगमन से नया रूप आरम्भ होता है। उपर्युक्त प्रसंग के बीच में एक भ्रमर कहीं से उड़कर आ जाता है। फिर क्या था, व्रजवनिताएँ उसे अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बना लेती हैं। उसे कृष्ण का प्रतिरूप मान कर वे उससे छेड़-छाड़ शुरु कर देती हैं, और उसके माध्यम से कृष्ण, कुब्जा और उद्धव को खरी-खरी सुनाने लगती हैं। वह भ्रमर उनके पाँव पर मंडराने लगा। गोपियाँ उसे वरजने लगीं—

> जनि परसौ मम पाय हो गयौ अनँद-रसचोर।
> तुमहीं सों कपटी हुतो नागर नंद किशोर॥ इहाँ ते दूरि हो॥

भ्रमर की प्रकृति स्वार्थ-पूर्ण होती है। वह कलि-कलि के रस का आनन्द लेकर उड़ जाता है। यही आचरण कृष्ण ने दिखाया है। वे कहती हैं कि तू रस को चुराने वाला रस-लोभी है। कृष्ण भी तुम्हारे जैसे ही कपटी थे। वह तुम्हारे साथी कृष्ण मथुरा में कुब्जा के साथ उसके दास बने रहते है—

> कोउ कहै रे मधुप तुमें लाजौ नहिं आवत।
> स्वामी तुम्हरो श्याम कूबरी दास कहावत।
> इहाँ ऊँचि पदवी हुती गोपीनाथ कहाय।
> अब जदुकुल पावन भयौ दासी-जूठन खाय॥

मथुरा में कुब्जा के दास बनकर कृष्ण ने अपना कुल पवित्र किया—कैसी सुन्दर व्यंग्योक्ति है!

भ्रमर-अन्योक्तियों द्वारा गोपियों ने उद्धव और कृष्ण पर खूब व्यंग-बाणों की वर्षा की है। उद्धव को उसके अनपेक्षित ज्ञान-योग के उपदेश के कारण आड़े हाथों लिया है और कृष्ण को उसकी निष्ठुरता पर कोसा है। उद्धव को लक्ष्य करके वे कहती हैं—अहो मधुप! तुम्हें मधुकर कहना भूल है, क्योंकि तुम तो प्रेम के मधु पर आघात करने वाली विष-रूपी जोग की गांठि लिए फिरते हो। तुमने अनेकों का रुधिर-पान किया है, न जाने अब व्रज में

किसकी घात में तुम आए हो—

कोउ कहै अहो मधुप कौन कहे तुमें मधुकारी ।
लिये फिरत विष जोग-गाँठि प्रेमी-वधकारी ।।
रुधिर पान कियौ बहुत कें अधर अरुन रंगरात ।
अब ब्रज में आए कहा करन कौन कों घात ।।
जात किन पातकी ! ।।४८।।

उद्धव, कृष्ण और कुब्जा तीनों को एक साथ व्यंगोक्ति में लपेटती हुई वे कहती हैं—रे मधुप ! जिनके तुम्हारे जैसे संगी-साथी होते हैं, उनका सब तन और करतूति काली क्यों न हो ? वास्तव में कृष्ण को गोकुल में कोई अपनी जोड़ी नहीं मिली, वे स्वयं त्रिभंगी थे, वैसी ही त्रिभंगी (कूबरी) नारी उन्हें मथुरा में मिल गई।" तीन-अंग-भंग वाली कुबड़ी से कृष्ण का साम्य दिखा कर कैसी सुन्दर फब्ती कसी गई है—

कोउ कहै रे मधुप होहिं तुम से जो संगी ।
क्यों न होइ तन स्याम सकल बातन चतुरंगी ।।
गोकुल में जोरी कोऊ पावत नाहिं मुरारि ।
मनों त्रिभंगी आपु हैं करी त्रिभंगी नारि ।।
रूप गुन सील की ।।५४।।

इनके काले वेष और काली करतूतों पर लक्ष्य करके एक गोपी कहती है—"हे सखी, संसार में जितने भी काले हैं, वे सब कपटी और कुटिल विष-पूर्ण हृदय वाले होते हैं। एक श्याम (काले) के अङ्ग-स्पर्श से तो आज तक अंग जल रहा है, इस पर यह दूसरा श्यामवर्ण भौंरा योग के काले भुजंग को लेकर और हमारे चरणों को स्पर्श कर हमें और भी जला रहा है। इनमें दया नाम को भी नहीं—

कोऊ कहै सखि बिस्व माहिं जेतिक हैं कारे ।
कपट कोटि के परम कुटिल मानुस विषवारे ।।

एक स्याम तन परसि कै जरत आजु लौं अंग ।
ता पाछे फिरि मधुप यह लायो जोग भुअंग ।।
कहा इनको दया ।।५८।।

इस प्रकार अनेक पदों में वे अपना उपालंभ व्यक्त करती हैं । नन्ददास ने इन उपालंभ-पूर्ण पदों में भी भ्रमर के माध्यम से निर्गुण का उपहास किया है । उपालंभ के इन उद्गारों मे वचन-वक्रता द्रष्टव्य है । गोपियों का थोड़ी देर का यह साहस और विनोद अधीरता में परिणत हो जाता है । वे एक साथ आर्तनाद करने और फूट-फूट कर रोने लगती हैं । उनका कोमल हृदय और दृग दोनों विरह की चपेट से 'फाटि' चले । वे 'हा करुणामय !', 'हा केसौ !!' आदि सम्बोधनों से कृष्ण को पुकारने लगती हैं—

ता पाछे इक बार ही रोईं सकल ब्रज नारि ।
हा ! करुणामय नाथ हो ! केसौ कृष्ण ! मुरारि !
फाटि हिय दृग चल्यौ ।।६०।।

इसके पश्चात् नन्ददास जी के भ्रमर-गीत का वह पक्ष आता है, जब कि गोपियों के अनन्य-प्रेम से उद्धव की दशा बदल जाती है । कृष्ण-प्रेम में मग्न गोपियों के दृगों से अविरल अश्रुधारा बहने लगी । उस प्रेम-पयस्विनी के प्रवाह में उद्धव का सब मल गल गया –

ताही प्रेम प्रवाह में ऊधो चले बहाय ।
भले ग्यान की मेंड़ हौ ब्रज मै प्रगट्यौ आय ।।
कूल के तृन भये ।।६१।।

भँवरगीत में पुष्टिमार्गीय भक्ति :—आगे कवि ने प्रेम-प्रभावित उद्धव के वचनों द्वारा प्रेम-भक्ति की प्रतिष्ठा की है । उद्धव की प्रेम-दशा का वर्णन नन्ददास ने इस प्रकार किया है –

प्रेम बिबस्था देखि सुद्ध यों भक्ति प्रकासी ।
दुबिधा ग्यान गलानि मन्दता सगरी नासी ।।

कहत भयौ निस्चै यहै हरि रस की निजपात्र ।
हौं तो कृतकृत ह्वै गयौ इनके दरसन मात्र ।
मेटि मल ग्यान को ॥६२॥

वास्तव में उद्धव के वचनों द्वारा नन्ददास जी ने अपनी पुष्टिमार्गीय-भक्ति की ही प्रतिष्ठा की है। पुष्टि-सम्प्रदाय में गोपियों को ही कृष्ण के प्रेम का पात्र कहा गया है। उनकी तन्मयतापूर्ण-प्रेमासक्ति को ही आदर्श माना गया है। उद्धव के कथन द्वारा इसी की पुष्टि होती है। इस प्रेमासक्ति में लोक-वेद-कुल की मर्यादा को पीछे छोड़ दिया जाता है; ज्ञान, ध्यान, कर्म-धर्म आदि सबसे ऊपर आत्मसमर्पणकारी प्रेम का ही महत्त्व रहता है। गोपियों ने यही भाव निभाया, इसी लिए उद्धव कहते हैं—

हौं कह निज मरजाद की ग्यान रु कर्म निरूपि ।
ये सब प्रेमासक्त होइ रहीं लाज कुल लोपि ॥
धन्य ये गोपिका ॥६३।

जे ऐसी मरजाद मेटि मोहन को ध्यावैं ।
काहे न परमानन्द प्रेम पदवी को पावैं ॥
ग्यान जोग सब कर्म तें परे प्रेम ही साँच ।
हौ या पटतर देत हौं हीरा आगे काँच ॥
विषमता बुद्धि की ॥६४॥

इस पद में पुष्टि-मार्गीय भक्ति का प्रचार स्पष्ट है। गोपियों ने अनन्य-भक्ति के द्वारा परमानन्द प्रेमरसिक कृष्ण की पदवी प्राप्त की। जो उनका अनुसरण करके इस प्रकार मर्यादा को छोड़कर कृष्ण-प्रेम में मग्न होता है, वह परमानन्द पद को प्राप्त करता है। पुष्टिमार्गीय-भक्ति की प्रेमासक्ति का ज्ञान तथा योग के समक्ष महत्त्व भी इन पंक्तियों में स्पष्ट है।

यही नहीं, उद्धव गोपियों की प्रेम-भावना से प्रभावित होकर जीवन की मूल प्रेम-भक्ति को प्राप्त करने का कामना करने लगता है। वह कहता है-- "गोकुलवासी धन्य हैं, जो इस प्रकार भगवान् की भक्ति करते हैं। मेरे हृदय

में ज्ञान का घमण्ड हो गया था, परन्तु अब मैंने जान लिया कि वास्तविक तत्त्व तो प्रेम है। मैं व्यर्थ ही श्रम करके मरा—

धन्य-धन्य ये लोग भजत हरि कौं जे ऐसे।
और कोऊ बिनु रसहि प्रेम पावत है कैसे।।
मेरे वा लघु ग्यान कौं उर में मद होइ व्याधि।
अब जान्यौ ब्रज-प्रेम की लहत न आधी आधि।।
वृथा स्रम करि मर्‌यौ।।६५।।

उद्धव की इस स्वीकारोक्ति में एक ज्ञानमार्गी निर्गुणवादी की भक्ति के सामने पराजय की ही स्वीकृति है। उद्धव अब पुष्टिमार्गीय सालोक्य, सामीप्य और सारूप्य भक्तियों की कामना करने लगता है। वह कहता है—

अब ह्वै रहौं ब्रज-भूमि को मारग में की धूरि।
बिचरत पग मो पर धरैं सब मुख जीवन मूरि।।मुनिनहू दुर्लभै।।

अब वह कृष्ण की लीला-भूमि के मार्ग की धूलि बनकर रहना चाहता है। वृन्दावन के पेड़, लता, कुंज इत्यादि बनने का उसकी अभिलाषा तीव्र हो उठती है। वह गोपियों जैसी प्रेम-पात्रियों की संगति करना चाहता है—

कै ह्वै रहौं द्रुम गुल्म लता बेली बन माहीं।
आवत जात सुभाय परैं मोपै परछाहीं।।
सोऊ मेरे बस नहीं जो कछु करौं उपाय।
मोहन होंहि प्रसन्न जो यहि वर माँगों जाय।।
कृपा करि देहि जौ।।६७।।

नन्ददास की ये पंक्तियाँ अनायास ही प्रेम-जीवी कवि रसखान के प्रसिद्ध सवैये, "मानुस हौं तो वही रसखान बसौं नित गोकुल गाँव के ग्वारन' की याद दिला देती हैं। पुष्टिमार्ग में भगवदनुग्रह की जो मान्यता है, वह भी अन्तिम पंक्तियों से स्पष्ट है। वास्तव में ही वह अब उद्धव से सच्चा मधुकर बन गया है। गोपी-प्रेम-प्रसाद से उसने योग की दुविधा को मिटा दिया—

गोपी प्रेम प्रसाद सों हौं ही सीख्यौ आय।
ऊधौ तें मधुकर भयौ दुविधा जोग मिटाय।।
पाय रस प्रेम कों।।६९।।

इसके पश्चात् उद्धव मथुरा जाकर कृष्ण से गोपियों की प्रेम-दशा का वर्णन करते हैं और कृष्ण की उनके प्रति निर्दयता पर क्रोध व्यंजित करते हैं। फिर वे ब्रज-भूमि की वंदना करते हुए कृष्ण को वहीं रहने के लिए कहते हैं—

पुनि पुनि कहै हे स्याम जाय बृन्दावन रहियै।
परम प्रेम को पुंज जहाँ गोपी संग लहिए॥

अपने सखा का विचार और गोपियों के अनन्य-प्रेम का स्मरण कर कृष्ण भी प्रेम-विह्वल हो उठे। नन्ददास और सूरदास द्वारा कृष्ण की इस विह्वलता का वर्णन भागवत में नहीं है। कृष्ण के श्याम-शरीर के रोम-रोम में गोपियाँ मूर्तिमान हो गईं—मानो ब्रजवनिताएँ कृष्ण रूपी कामतरु के ही पात हों—

सुनत सखा के बैन नैन आए भरि दोऊ।
बिबस प्रेम-आवेस रही नाहिन सुधि कोऊ॥
रोम-रोम प्रति गोपका ह्वै गई साँवरे गात।
काम तरोवर साँवरो ब्रजबनिता ही पात॥
उलहि अंग-अंग तें ॥७३॥

फिर कृष्ण उद्धव को उपदेश देते हैं कि तुम अच्छे वहां गए—हमारे ही अवगुण दिखाने लगे। हे सखे! सुनो, उन गोपिकाओं में और मुझ में रंचमात्र भी अन्तर नहीं है। जल-वीचि के समान उन्हें तुम मुझ में ही जानो। और तब बनवारी ने अपने शरीर में ही एक गोपी को प्रकट करके उद्धव को दिखाया। इस से पुष्ट-जीव की भगवान् से अभिन्नता का सिद्धान्त स्पष्ट होता है।

नन्ददास व सूर के भ्रमरगीतों की काव्योपयोगिता

नन्ददास के भँवरगीत में सूरदास जी के भ्रमरगीत जैसा भाव-विस्तार एवं भावगांभीर्य नहीं पाया जाता। सूरदास ने जिस प्रकार नारी हृदय का अवगाहन किया है, उस प्रकार नन्ददास नहीं कर पाए। भावों का जो सागर सूर में है, वह नन्ददास के भँवरगीत में कहाँ? नन्ददास का भँवरगीत अत्यन्त संक्षिप्त है। सूर की तरह विरहिणी-गोपियों के हृदय की अनेक दशाओं का मनोवैज्ञानिक वर्णन नन्ददास नहीं कर सके। गोपिकाओं के प्रेम की उत्कटता का वर्णन, अनेक परिस्थितियों और अवस्थाओं में हृदय की मार्मिक दशाओं के सूर-जैसे वर्णन की अपेक्षा, बाहरी अनुभावों—सात्विक और वाचिक—द्वारा ही नन्ददास ने मुख्य रूप से किया है। उनके उपालंभ-सम्बन्धी कुछ पदों में ही हृदय की खीझ, दीनता आदि भावनाएँ व्यक्त हुई हैं। सूर की गोपिकाओं जैसा आत्मनिवेदन, आत्म-भर्त्सना, रूप-लिप्सा, सम्बन्ध-भावना एवं उन्माद, उद्वेग, अभिलाषा, चिन्ता, व्याधि आदि अनेक दशाएँ नन्ददास की गोपियों के विरह-पक्ष में नहीं मिलतीं। इस प्रकार भाव की दृष्टि से सूरदास का भ्रमर-गीत काव्योपयुक्त अधिक है। उसमें उद्धव के साथ वाद-विवाद में गोपियाँ दार्शनिक सिद्धान्तों या शुष्क तर्क का प्रयोग न करके अपनी भावुकता और हृदय की संवेदना तथा साथ ही वाक्चातुर्य का प्रयोग करती हैं। अपने हृदय की परवशता—"हमारे हरि हारिल को लकरि," "उद्धव मन नाहीं दस बीस, एक हुतो सो गयो श्याम संग को अराध्यै ईस", "लरिकाई को प्रेम कहो अलि कैसे छूटे" आदि पदों से भाव-विह्वल करके उद्धव को निरुत्तर करती हैं।

नन्ददास के भँवरगीत में कथा की भी उतनी प्रधानता नहीं है, इसी लिए अनेक प्रसंगों और परिस्थितियों से उत्पन्न विभिन्न भावों का उसमें समावेश नहीं हो सका। आरंभ में प्रस्तावना भी नहीं है। सूरदास ने अपने भ्रमरगीत के आरम्भ में कृष्ण की गोकुल-विषयक चिंता तथा ग्वाल-गोप,

गोपिकाओं, माता-पिता आदि सबके प्रति उनके प्रेम का प्रकटीकरण, "कहियो नंद कठोर भए," "सुनहु उद्धव मोहिं ब्रज की सुधि नहीं बिसराय," तथा—

नीके रहियो जसुमति मैया।
आवैंगे दिन चारि पाँच में हम हलधर दोउ भैया।
जा दिन तें हम तुम तें बिछुरे काहु न कह्यो 'कन्हैया'।
कबहूँ प्रात न कियो कलेवा साँझ न पीन्हीं धैया॥
कहियो जाय नंद बाबा सो निपट निठुर जिय कीन्हो।
सूर श्याम पहुँचाय मधुपुरी बहुरि सँदेश न लीन्हो॥१०॥

—भ्रमरगीतसार

आदि पदों से किया है। कृष्ण के हृदय की इस झाँकी का नन्ददास के भँवर-गीत में सर्वथा अभाव है। इसके अतिरिक्त उद्धव का अहंकार, कृष्ण का उद्धव के अहंकार को मिटाने के लिए उसे ब्रज भेजना, नन्द, यशोदा, गोपियों का संदेश, कुब्जा द्वारा भी पत्र भेजना, उद्धव की ब्रज-यात्रा, उद्धव का ब्रज-प्रवेश आदि अनेक बातों की पृष्ठभूमि के कारण सूरदास के भ्रमरगीत में कथा-प्रसंगों को भी महत्त्व मिला है। उद्धव के ब्रज-प्रवेश और गोपियों के उन्हें दूर से देख कर कृष्ण समझने का कैसा मनोवैज्ञानिक चित्रण सूरदास ने किया है! गोपियों की, उद्धव को आते देखकर, क्या अवस्था होती है, देखिए—

कोऊ आवत है तन स्याम।
वैसेइ पट वैसिये रथ-बैठनि, वैसिय है उर दाम॥
जैसी हुतिं उठि तैसिय दौरीं छाँड़ि सकल गृह-काम।
रोम पुलक, गद्गद् भईं तिहि छन सोचि अंग अभिराम॥
इतनी कहत आय गए ऊधो, रहीं ठगी तिहि ठाम।
सूरदास प्रभु ह्यां क्यों आवैं बँधे कुब्जा-रस स्याम॥१३॥

गोपियों का पहले उद्धव को कृष्ण समझकर पुलकित और गद्गद् होना तथा पीछे उनके स्थान पर उद्धव को पाकर निराश होना और अपनी खीझ एवं उपालंभ को प्रकट करना कैसा स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है!

इस प्रकार के घटना-क्रम के पश्चात् सूरदास ने उद्धव से संदेश दिलाया है। सूर के भ्रमरगीत की अनुक्रमणिका बहुत बड़ी है। नन्ददास में, इसके विपरीत, उद्धव जी एकाएक गोपियों में आ धमकते है; जैसे उपदेश की गठरी उनके सिर पर बंधी हो और उसके बोझ से दबे हुए, वे एकदम हल्का होना चाहते हों।

सूरदास के भ्रमरगीत में गोपियों के हृदय की अनेक मार्मिक झाँकियाँ मिलती हैं। कृष्ण की पाँति किस प्रकार प्रेमी हृदय के लिए, सम्बन्ध-भावना के कारण, आलम्बन बन जाती है, देखिए—

निरखत अँक स्यामसुन्दर के वारबार लावनि छाती।
लोचन-जल कागद-मसि मिलि के ह्वै गई स्याम स्याम की पांति ।।५७।।

जिन कुंजों में गोपियाँ कृष्ण के साथ आनन्द-रास रचती थीं, वें कुंज आज उन्हें जला डालने वाले लगते है—

बिन गोपाल वैरिन भई कुंजें।

तब ये लता लगति अति सीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजें ।।
वृथा बहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल फूलैं, अलि गुंजें।
पवन पानि घनसार संजीवनी दधिसुत किरन भानु भई भुंजें ।।
ए, ऊधौ, कह्यो माधव सों बिरह कदन करि मारत लुंजें।
सूरदास प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भई बरन ज्यों गुंजै ।।८५।।

बादल और मोर भी न जाने कब की शत्रुता निकाल रहे हैं। बादलों की गरज ही हृदय जलाने के लिए क्या कम है? पर मोर तो जितना रोको उतना ही उलटा सिर चढ़ते हैं। कृष्ण ने ही इन्हें सिर चढ़ा रखा था। इस खीझ की मार्मिकता तो देखिए—

हमारे माई! मोरउ बैर परे।
घन गरजे वरजे नहीं मानत त्यों-त्यों रहत खरे ।।
करि एक ठौर बीनि इनके पंख मोहन सीस धरे।
याहीं तें विरहिन को जारन, हरि ही ढ़ीठ करे ।।२८४।।

गोपियों ने कितने ही पथिकों से अपने संदेश कहे, परन्तु उनके मन-मोहन की कोई भी तो खबर नहीं लाया—

संदेसनि मधुवन-कूप भरे।
जौ कोउ पथिक गए हैं ह्याँ तें फिरि नहिं अवन करे।।
कै वै स्याम सिखाय समोधे कै वे बीच मरे? ।।८९।।

सूर की गोपियों की "अँखियाँ हरि दरसन की प्यासी" हैं। आँखों ने भी उन्हें विवश कर रखा है। उद्धव चाहे तो वे अपनी जिह्वा के टुकड़े-टुकड़े करके भी निर्गुण की रट लगा सकती हैं, पर आँखों का क्या करें—

मधुकर! हम जो कहौ करें।
पठयो है गोपाल कृपा कै आयसु तें न टरें।।
रसना वारि फेरि नव खँड कै, दै निर्गुण के साथ।
इतनी विलग तनक जनि मानहु, अँखियाँ नाहीं हाथ।।१४८।।

प्रतीक्षा का सुन्दर उदाहरण देखिए—

मधुकर! ये नयना पै हारे।
निरखि निरखि मग कमलनयन को प्रेममग्न भए भारे।।
ता दिन तें नींदौ पुनि नासी, चौंकि परत अधिकारे।१५६।।

सम्बन्ध-भावना के कितने सुन्दर उदाहरण हृदय-पारखी सूर ने प्रस्तुत किए हैं—

ऊधो! हम आजु भईं बड़-भागी।
जिन अँखियन तुम स्याम विलोके, ते अँखियाँ हम लागीं।।
× × × × ×
ऊधौ! पालागौं भले आए।
तुम देखे जनु माधव देखे, तुम त्रयताप नसाए।।२३२।।

एक गोपी परदेसी की निठुरता में अपना ही दोष किस प्रकार खीझ-पूर्ण उद्गारों में व्यक्त कर रही है, देखिए—

उघरि आयो परदेसी को नेहु।
तब तुम 'कान्ह कान्ह' कहि टेरति फूलती ही, अब लेहु।।
काहे को तुम सर्बस अपनो हाथ पराए देहु।।२८६।।

और, राधा की मूक-व्यथा, मलिन और दीन-दशा का जैसा चित्रात्मक वर्णन अंधे सूरदास ने किया है, वह नन्ददास के भँवरगीत में कहीं ढूंढने से भी नहीं मिल सकता—

अति मलीन बृषभानु कुमारी ।
हरि-स्रमजल अंतर-तनु भीजे ता लालच न धुलावति सारी ।।
अधोमुख रहति उरध नहीं चितवति ज्यों गथ हारे थकित जुआरी ।
छूटे चिहुर बदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर की मारी ।।
हरि-संदेस सुनि सहज मृतक भई, इक बिरहिनी दूजे अलि जारी ।
सूर स्याम बिनु यों जीवति है ब्रजवनिता सब स्यामदुलारी ।।१००।।

दिन-रात-सोते जागते सूर की गोपियों को कृष्ण की याद सताती है। स्वप्न में भी उन्हें चैन नहीं मिलता। स्वप्नगत-मिलन भी उनकी विरह-वेदना को ही बढ़ाता है। चकई के प्रतिबिम्ब-दर्शन और पवन-मिस निठुर विधाता के स्मृति-पटल पर से बिम्ब को मिटा देने की उपमा से सूरदास ने भाव और कला का निम्न पद में वह अद्भुत उत्कर्षपूर्ण सामंजस्य स्थापित किया है, जो हिन्दी साहित्य में विरल है—

हमको सपनेहु में सोच ।
जा दिन तें बिछुरे नँदनन्दन ता दिन ते यह पोच ।।
मनो गोपाल आए मेरे घर, हँसि करि भुजा गही ।
कहा करौं बैरिनि भइ निंदिया, निमिप न और रही ।।
ज्यों चकई प्रतिबिम्ब देखिकै आनंदी जिय जानि ।
सूर, पवन मिस निठुर विधाता चपल कियौ जल आनि ।।२८९।।

स्मृति और पश्चात्ताप का एक सुन्दर उदाहरण देखिए—

मेरे मन इतनी सूल रही ।
वै बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं जे नन्दलाल कहीं ।।
एक दिवस मेरे गृह आए मैं ही मथति दहीं ।
देखि तिन्हैं मैं मान कियो सखि सो हरि गुसा गही ।।
सोचति अति पछिताति राधिका मूर्छित धरनि ढही ।।३७१।।

स्पष्ट है कि नन्ददास के भँवरगीत में उपर्युक्त भावपूर्ण प्रसंगों और परिस्थितियों का सर्वथा अभाव है। उसमें माता के वात्सल्यपूर्ण हृदय का भी अवलोकन नहीं होता। सूर के भ्रमरगीत में माता यशोदा देवकी के नाम जो संदेश भेजती है, उसमें यशोदा के हृदय की ममता साकार हो उठी है—

> सँदेसो देवकी सों कहियो।
> हौं तो धाय तिहारे सुत की मया करत ही रहियो॥
> उवटन तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते।
> जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती करम करम करि न्हाते॥
> तुम तो टेव जानतिहि ह्वै हौ तऊ मोहिं कहि आवै।
> प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतेहि माखन-रोटी भावै॥
> अब यह सूर मोहिं निसिबासर बड़ो रहत जिय सोच।
> अब मेरे अलक-लड़ैते लालन ह्वै हैं करत संकोच॥३७५॥

इस प्रकार सूर के भ्रमरगीत में गोपियों के अतिरिक्त नन्द, यशोदा, कुब्जा, राधा आदि से सम्बन्धित प्रसंग भी हैं। नन्ददास ने इन प्रसंगों को छुआ ही नहीं। इसलिए उनके भ्रमरगीत का मुख्य उद्देश्य उद्धव-गोपी संवाद द्वारा ज्ञान और योग पर पुष्टि-मार्गीय-भक्ति की स्थापना करना ही रहा है।

सूरदास के भ्रमरगीत में मथुरा वापिस जाते हुए उद्धव को माता यशोदा जो कृष्ण के लिए भेंट देती है, उससे प्रेम-भाव की कितनी मार्मिक व्यंजना हुई है—

> कहियो जसुमति की आसीस।
> रहौ जहाँ पर तहां लाडिले, जीवो कोटि बरीस॥
> मुरली दई दोहना घृत भरि, ऊधौ धरि लेइ सीस।
> इह घृत तौ उनही सुरभिन कौ, जो प्यारी जगदीस॥

सूरदास के भ्रमरगीत में भाव और कला दोनों नन्ददास के भँवरगीत से उत्कृष्ट हैं। भाव-प्रेरित वचन-वक्रता के जो सुन्दर से सुन्दर उदाहरण हमें सूरदास में मिलते हैं, वे नन्ददास में नहीं—

१. ऊधो ! तुम अति चतुर सुजान !
   जे पहिले रँग रंगी स्यामरंग तिन्हैं न चढ़ै रँग आन ॥११४॥
२. उर में माखन चोर गड़े ।
   अब कैसेहू निकसत नहिं, ऊधो ! तिरछे ह्वै जो अड़े ॥६५॥
३. मोहन माँग्यो अपनो रूप ।
   या ब्रज बसत अँचै तुम बैठीं, ता बिनु तहाँ निरूप ॥८२॥

उद्धव ने ब्रह्म को निर्गुण और अरूप कहा था । सखी राधिका से कहती है, ठीक ही तो है, तुम मोहन का रूप पी गई हो, इसी से वे बेचारे वहाँ निराकार-निरूप हो गए हैं। कैसी सुन्दर उक्ति है ! उपर्युक्त उक्तियों जैसी वचन-विदग्धतापूर्ण अनेक उक्तियाँ सूर के भ्रमरगीत में भरी पड़ी हैं । नन्ददास के 'भँवरगीत' में ऐसी वचन-भंगिमा अपेक्षाकृत कम है । निम्न पंक्तियों में नन्ददास ने सूरदास की उपर्युक्त कथन-शैली की परम्परा को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है—

गोकुल में जोरी कोऊ पावत नाहिं मुरारि ।
मनों त्रिभंगी आपु हैं करी त्रिभंगी नारि ॥

पर इस प्रकार की भाव-प्रेरित वचन-वक्रता 'भँवरगीत' में बहुत कम है । सूरदास जी ने सर्वत्र ही भावाभिव्यक्ति में लक्षणा और व्यंजना से काम लिया है । सूरदास की उपमान-योजना भी बहुत सुन्दर और प्रभावपूर्ण है । गीतात्मकता भी सूर के गीतों में अधिक है । गीति-काव्य की दृष्टि से सूर के भ्रमरगीत का अधिक महत्त्व है । इस प्रकार क्या भाव, क्या भाषा और शैली तथा क्या काव्य-सौन्दर्य सभी दृष्टि से सूरदास का भ्रमरगीत अधिक महत्त्व रखता है ।

नन्ददास के भँवरगीत की कुछ अपनी विशेषताएँ अवश्य हैं । यह एक सुन्दर खण्डकाव्य है । नन्ददास ने उसे क्रम-बद्ध बनाकर एक व्यवस्थित रूप दिया है । सूर में यह विशेषता नहीं । दूसरे, नन्ददास के भँवरगीत में बौद्धिक तर्क का भी महत्त्व है । नन्ददास ने सगुण-निर्गुण तथा ज्ञान, योग और भक्ति के

वाद-विवाद को पर्याप्त मनोरंजक बनाने का प्रयत्न किया है। उनके 'भँवरगीत' मे पुष्टिमार्गीय-भक्ति का स्पष्ट रूप से प्रतिफलन हुआ है।

नन्ददास ने अपने 'भँवरगीत' में जिस मिश्रित छन्द को अपनाया है, वह उनका मौलिक तो नहीं है, क्योंकि इससे पूर्व सूरदास इसी शैली में अपना संक्षिप्त भ्रमरगीत लिख चुके थे, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि दस मात्राओं की अंतिम पंक्ति का इस प्रसंग में प्रयोग नन्ददास का मौलिक प्रयोग है, और उनका यह छन्द अधिक प्रभावपूर्ण एवं परिष्कृत है।

सूर और नन्ददास दोनों के भ्रमरगीतों में भक्ति को ज्ञान-योग से बढ़ कर सिद्ध किया गया है, पर दोनों की प्रणाली में अन्तर है। सूर की प्रणाली में मीठी चोट है तो नन्ददास की प्रणाली में अत्यन्त तीक्ष्णता। सूर की गोपियाँ सरल मृदुभाषी और नम्र हैं। वे अपनी दीनता, विवशता और तीव्र अनुराग से ही उद्धव को मूक कर देती हैं। नन्ददास की गोपियों में कुछ तार्किकता पाई जाती है। वे ऊधो को 'जान किन पातकी', 'मरत कह बोल के' आदि भी कहने में नहीं झिझकतीं। कहीं-कहीं वे अपनी उक्तियों में मर्यादा से भी दूर चली जाती हैं—जैसे "कुबजा तीरथ जाइ कियो इन्द्रिन को मेला।" सूरदास की गोपियाँ सदैव ही मर्यादित रहती हैं और उनकी उक्तियाँ हृदय पर प्रभाव डालती हैं। वे उद्धव को बोलने ही नहीं देती मानो उनके पास अपने भावों का कोष है जो बराबर व्यक्त करने से भी नहीं घटता। उनके पास कहने को बहुत है, और वे बहुत कुछ कहते रहने पर भी असंतुष्ट रहती हैं।

नन्ददास के भँवरगीत का भाषा-सौन्दर्य :—नन्ददास की भाषा 'भँवरगीत' में 'रास-पंचाध्यायी' जैसी अत्यन्त मधुर, सरस एवं अनुप्रासमयी तो नहीं है, किन्तु ब्रज भाषा की कोमलकान्त एवं मधुर शब्दावली की विशेषताएँ उसमें पाई जाती हैं। डा० दीनदयाल गुप्त तो नन्ददास के 'भँवर-गीत की भाषा को सूरदास से श्रेष्ठ बताते हैं—"भाषा का लालित्य नन्ददास के 'भँवरगीत' में सूर की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है।" परन्तु हम इस बात को आंशिक रूप में ही सत्य मानते हैं। सूर के भ्रमरगीत के अनेकों पदों की भाषा का न भाषा-लालित्य की दृष्टि से नन्ददास की भाषा से कोई मुकाबला

है, और न भाषा-शक्ति की दृष्टि से। हाँ, इस दृष्टि से सूरदास के कुछ पद अवश्य नन्ददास से हल्के बैठते हैं।

'भँवरगीत' की भाषा को नन्ददास ने ग्रामीण शब्दों, लोकोक्तियों एवं प्रोक्तियों के प्रयोग से स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक बनाया है। सजीव लोकोक्तियाँ जैसे—'प्रगट भानु को छांड़ि गहत परछाई धूवै', 'प्रेम-पीयूषै छांड़ि कै कौन समेटै धूरि', 'घर आए नाग न पुजै बाँबी पूजन जाहि', 'पारस परसै लोह तुरंत कंचन ह्वै जाई' आदि तथा भाव-व्यंजक प्रोक्तियाँ—'कहू अकास किहि टेक', 'करतल आमलकं', 'हिय लौन लगावो', 'जबहि लों बांधी मूठी', 'गांठि को खाइ कै', 'हीरा आगै कांच', 'तिनकौ मेलौ कूप' आदि बहुत प्रभावशाली है।

नन्ददास के 'भँवरगीत' में स्वाभाविक अलंकारों की भी कमी नहीं। व्याजस्तुति, वक्रोक्तियों द्वारा गोपियों का उपालंभ बहुत मार्मिक ढंग से व्यक्त हुआ है। रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा आदि अलंकार भी पर्याप्त सौन्दर्य-वृद्धि में सहायक हुए हैं। रूपक का उदाहरण लीजिए—

'दुःख जलनिधि हम बूड़हि कर अवलम्बन देहु'

दृष्टांत—जो उनके गुन नाहि और गुन भये कहाँ तें।

बीज बिना तरु जमें मोहि तुम कहौ कहाँ ते॥

इसी प्रकार निम्न छन्द में रूपक, श्लेष, लोकोक्ति और यमक चार चार अलंकार कितनी खूबी से प्रयुक्त हैं—

ताहि बताओ जोग जोग ऊधो जेहि पावौ।
प्रेम सहित हम पास नन्दनन्दन गुन गावौ॥
नैन बैन मन प्रान में मोहन गुन भरिपूरि।
प्रेम पीयूषै छाँड़ि कै कौन समेटे धूरि॥

अनुप्रास अलंकार भी स्थान-स्थान पर मिलता है, जिससे भाषा में एक स्वाभाविक मिठास सर्वत्र है। नाद-सौन्दर्य और ध्वन्यात्मकता की विशेषता भी भाषा में है, यद्यपि 'रासपंचाध्यायी' इस दृष्टि से बहुत महत्त्व रखती है।

नन्ददास संगीत के भी मर्मज्ञ थे। इनके भँवरगीत में संगीत-माधुर्य भी पर्याप्त मिलता है। गान-विद्या में निपुण होने के कारण शब्द-चयन अच्छा है, जिससे प्रवाह और संगीतमयता अनायास ही आ गए हैं। इन्होंने भी संस्कृत के तत्सम शब्दों को, सूर की तरह, ब्रजभाषा का रूप दिया है, जैसे योग को जोग, सूक्ष्म को सुच्छम आदि। ग्रामीण प्रयोग भी बहुत मधुर हो गए हैं, जैसे—'कुल तरि गयौ,' 'बहुतपाय के रावरे प्रीति न डारो तोरि' आदि। इस प्रकार नन्ददास के भँवरगीत का कला-पक्ष भी पर्याप्त प्रौढ़ है। 'रास-पंचाध्यायी' यदि भाषा-शैली, माधुर्य एवं भाव-सौन्दर्य की दृष्टि से नन्ददास की सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जाती है, तो इसके पश्चात् 'भँवरगीत' ही उनकी सर्वोत्तम रचना है।

नन्ददास का प्रकृति-चित्रण व ऋतुवर्णन

प्रकृति आदि काल से मनुष्य की क्रीड़ा-भूमि रही है। आदि मानव ने प्रकृति की क्रोड़ में ही अपनी आँखें खोली होंगी, और तब से आज तक प्रकृति उसकी सहचरी रही है। प्रकृति की रमणीयता उसे मुग्ध करती आई है। पिक का कल-कूजन, छल-छल करती हुई शुभ्र-सरिताएँ, रंग-बिरंगे पुष्पों से युक्त लता-गुल्म, भगवान् भास्कर की शतरंगी किरणें, पूर्णेन्दु की प्रभा, हिम-धवल शैल-शृंग आदि प्रकृति के अनेक मुग्धकारी रूप किस को आकर्षित नहीं करते? यही नहीं, मनुष्य प्रकृति के अनेक व्यापारों को अपनी भावना का विषय भी बनाता आया है। कवियों ने प्रकृति के नाना रूपों और व्यापारों से जीवन के अनेक मार्मिक तथ्यों का चयन किया है। वर्ड्स्वर्थ जैसे कवि प्रकृति से संदेश सुनते आए हैं, उससे तादात्म्य स्थापित करते रहे हैं। वे सरिताओं और झरनों की भाषा समझते हैं; पुष्प, पशु-पक्षी की व्यथा का अनुभव करते हैं और एक ही सचेतन सत्ता का आभास प्रकृति के कण-कण में पाते हैं। प्रकृति का जड़-चेतन—प्रत्येक रूप, प्रत्येक कण उनके लिए विश्व-महाकाव्य का सुन्दर पृष्ठ है। अनेक कवियों ने तो प्रकृति की ही क्रोड़ में बैठकर अपनी काव्य-साधना आरंभ की। उन्होंने प्रकृति का अनेक रूपों में अवलोकन किया है।

प्रकृति के प्रति अनुराग रखने वाले हमारे प्राचीन संस्कृत के महाकाव्यकारों ने प्रकृति को आलम्बन बनाकर उसका यथातथ्य चित्रण किया। परन्तु, प्रकृति के दृश्यों का स्वतंत्र रूप से भी कोई महत्त्व है, इस ओर मध्ययुग के प्राय: सभी कवियों ने उपेक्षा प्रदर्शित की। पाश्चात्य साहित्य में भी वर्डस्वर्थ के 'Back to the nature' आन्दोलन से ही कवियों का प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण बदला। हमारे यहां आधुनिक काल से पूर्व प्रकृति मानव-भावनाओं की सहायक के रूप में ही मुख्य रूप से चित्रित हुई है। यही कारण है कि हमें अपने मध्ययुगीन साहित्य में कवियों का प्रकृति के प्रति शुद्ध-अनुराग नहीं मिलता।

प्राचीन कवियों, विशेषकर कृष्ण-भक्ति धारा के कवियों में, प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से नन्ददास का महत्त्व सर्वाधिक है। इस क्षेत्र में संभवतः वे सूरदास से भी बढ़ जाते हैं। उन्होंने आलम्बन के रूप में भी प्रकृति-चित्रण का प्रयास किया है, जो कि सूरदास आदि उच्चकोटि के प्राचीन कवियों में भी बहुत कम पाया जाता है। प्राचीन कवियों से नन्ददास की यह भी विशेषता है कि उनके काव्य में प्रकृति-प्रयोग के अनेक रूप मिलते हैं। प्रकृति का, स्वतंत्र रूप में सूक्ष्म वर्णन भी उनमें पाया जाता है, यद्यपि इस प्रकार का, आधुनिक छायावादी कविता की तरह, विस्तृत व व्यापक चित्रण वे नहीं कर सके।

कल्पनायुक्त प्रकृति-चित्रण :—नन्ददास की वर्णन शक्ति और कल्पना शक्ति अद्भुत थीं। 'रूपमंजरी' में निर्भयपुर का वर्णन करते हुए उन्होंने वहाँ की अमराइयों व अन्य प्राकृतिक सुषमा का चित्रण करने में अपनी इस शक्ति का अपूर्व परिचय दिया है। प्रभात-वेला में पुष्पों पर भँवर जो गुंजार करते हैं, उसका वर्णन करता हुआ कवि बड़ी सुन्दर कल्पना करता है कि मानो सूर्य के डर से अंधकार एकदम भाग गया है, और ये भँवरों के रूप में उसी के बच्चे रो रहे हैं—

कंज कंज प्रति पुंज अलि, गुंजत इमि परभात।
मनु रबि डर तम तजि भज्यो, रोवत ताके तात ॥५३॥

निर्भयपुर की फुलवारी, ताल-तालाब और अमराइयों का वर्णन जायसी के पद्मावत में वर्णित सिंहल द्वीप के इसी प्रकार के वर्णन की याद दिलाता है—

धर पर इक निर्भयपुर अहै। ताको छवि कवि का कहि कहै॥
नए धौरहर सुखद सुपासा। जनु धर पर दूसर कैलासा॥
× × × × × × × ×
आसपास अमराय बरारी। जहँ लग फूल तिती फुलवारी॥
बोलहि सुक सारिक पिक तोती। हरिहर चातक-पोत कपोती॥
मीठी धुनि सुनि अस मन आवै। मैन मनौं चटसार पढ़ावै॥
× × × × ×

का कहिये कासार निकाई । सारस हंस बंस छबि छाई ॥
निर्मल जल जनु मुनि-मन आहि । परसत छन तन-पातक जाही ॥
× × × × × ×
पानी पर पराग परि ऐसी । बीर फुटक भरी आरसि जैसी ॥
पदमिनी कहुँ जब पौन दुलावै । तब लपट अलि बठि न पावै ॥
जनु ननुकारनि मानिनी तिया । आन जुवति रत जान्यौ पिया ॥

कवि की वर्णन शक्ति और कल्पना शक्ति के कारण उपर्युक्त वर्णन कैसा मार्मिक हो गया है। सुक, सारिका, पिक आदि पक्षियों की मनोहर ध्वनि से कवि कल्पना करता है कि मानो रतिनाथ अपनी पाठशाला में प्रेम का पाठ पढ़ा रहा है। निर्मल जल पर पराग के कण ऐसे प्रतीत होते हैं मानो शीशे के भीतर वायु के रह जाने से कण के समान बुलबुले हों। जब पवन कमलिनी को हिलाता है और उसके हिलने से भौंरा उस पर बैठ नहीं पाता, तो इस दृश्य से कवि मानिनी नायिका की कल्पना करता हुआ कहता है कि मानो पद्मिनी रूपी मानिनी नायिका उस लंपट पिय को अन्य युवति में अनुरक्त जानकर अस्वीकार करती है।

जायसी ने भी सिंहल-द्वीप का वर्णन इसी प्रकार कल्पना-युक्त ढंग से किया है--

जबहिं दीप नियरावा जाई । जनु कविलास नियर भा आई ॥
घन अमराउ लाग चहुँ पासा । उठा भूमि हुत लागि अकासा ॥
तरिवर सबै मलयगिरि लाई । भई जग छाँह रैनि होइ आई ॥
× × × × × × ×
बसहिं पंखि बोलहिं बहु भाखा । करहिं हुलास देखि कै साखा ॥
भोर होत बोलहिं चुहचूही । बोलहिं पाँडुक "एकै तूही" ॥
सारौं सुआ जो रहचह करहीं । कुरहिं परेवा औ करवरहीं ॥
× × × × × ×
मानसरोदक बरनौं काहा । भरा समुद अस अति अवगाहा ॥
पानि मोती अस निरमल तासू । अमृत आनि कपूर सुबासू ॥
× × × × × ×

ताल तलाब बरनि नहिं जाहिं । सूझै वार पार किछु नाहीं ॥
फूले कुमुद सेत उजियारे । मानहुँ उए गगन महँ तारे ।१।

पृष्ठ-भूमि के रूप में तथा भक्ति-भावना-प्रकाशन के लिए :—
नन्ददास ने पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति का बहुत सुन्दर प्रयोग किया है। 'रास-पंचाध्यायी' में उन्होंने अलौकिक नायक कृष्ण की क्रीड़ा-भूमि का अलौकिक वर्णन किया है। इस प्रकार के प्रकृति-प्रयोग में उनका गौण उद्देश्य भावोद्दीपन भी रहा है। कृष्ण की रास-क्रीड़ा की भूमि वृन्दावन का वर्णन उन्होंने बहुत सुन्दर किया है। वास्तव में इस प्रकार के वर्णन में कवि की भक्ति-भावना ही प्रेरणा के रूप में काम कर रही है। जब उनके कृष्ण अलौकिक सुन्दरता के मालिक हैं, तो फिर उनकी क्रीड़ा-भूमि सुन्दर क्यों न हो ! भगवान् कृष्ण के चिर-धाम वृन्दावन की सुन्दरता का कवि ने अनेक उत्प्रेक्षाओं द्वारा अनूठा वर्णन किया है। श्री वृन्दावन ने "कृष्ण-लीला के काज ही जड़ताई धारण" की है। यह वन साधारण वन नहीं है—

श्री वृन्दावन चिद्घन कछु छबि बरनि न जाई।
कृष्ण-ललित लीला के काज धरि रह्यो जड़ताई ॥
जहँ नग खग मृग कुंज लता बीरुध तृन जेते।
नाहिन काल गुन-प्रभा सदा सोभित रहे तेते ॥
× × × × × ×
देवन में श्री रमारमन नारायन प्रभु जस।
बन मैं वृन्दावन सुदेस सब दिन सोभित अस ॥
या बन की बर-बानिक या बन ही बनि आवै।
सेस महेस सुरेस गनेस न पारहि पावै ॥
(रासपंचाध्यायी)

यद्यपि यह वृन्दावन सदैव मनोहर छटा से युक्त होता है, तो भी रँगीली शरद्ऋतु में तो इसकी शोभा अद्भुत बढ़ जाती है—

जदपि सहज माधुरी बिपिन सब दिन सुखदाई।
तदपि रँगीली सरद समय मिलि अति छबि पाई ॥

---

१. जायसी ग्रंथावली (रामचन्द्र शुक्ल) पृ० १०-१२

शरद् की रात्रि को जब 'रस रास-सहायक उडुराज' का उदय होता है, तब तो उसकी शुभ्र किरणों से सारा वातावरण मनमोहक हो जाता है—

ताही छिन उडुराज उदित रस-रास सहायक ।
कुमकुम-मंडित प्रिया वदन जनु नागर नायक ।।
कोमल किरन अरुनिमा बन मैं व्यापि रही अस ।
मनसिज खेल्यो फागु घुमड़ि घुरि रह्यौ गुलाल जस ।।
फटिक छरी सी किरन कुंज-रंध्रनि जब आई ।
मानों बितनु बितान सुदेस तनाउ तनाई ।। (रासपंचाध्यायी)

कैसी सुन्दर कल्पना है ! कुंजों में से छनती हुई किरणों का कैसा चित्रात्मक-सा वर्णन है । कवि ने प्रकृति को रास की घटना-स्थली का सुन्दर रंगमंच बनाया है । गोपी और कृष्ण रास आरंभ करने के पहले यमुना के तीर जाते हैं, वहां की शोभा का क्या कहना—

सुभ सरिता के तीर धीर बलबीर गये तहँ ।
कोमल मलय समीर छबिन की महा भीर जहँ ।।
कुसुम धूलि धुंधरी कुंज छबि पुंजनि छाई ।
गुंजत मंजु अलिंद बेनु जनु बजति सुहाई ।।

वृन्दावन-धाम नन्ददास की भक्ति-भावना के कारण अलौकिक है, पवित्र है; इसकी रज भी अत्यन्त पूत एवं कल्याणकारी है । ब्रह्मादि देवता तक इसकी रज के लिए लालायित रहते हैं । कवि को यही कहते बनता है— "या बन की बर बानिक या बन हीं बनि आवै ।" इस प्रकार भक्ति-भावना के आश्रय में भी कवि ने प्रकृति का विशद् वर्णन किया है । रासरसिक कृष्ण की थकान को मिटाने के लिए वृक्षों से इस वन में सदैव अमृत झरता है—

अमृत फुही सुख गुही अति सुही परति रहति नित ।
रास रसिक सुन्दर पिय को स्रम दूर करन हित ।। (रासपंचाध्यायी)

सालोक्य-भक्ति के लिए उद्धव वृन्दावन की लता-कुंज बनना चाहता है—

कै ह्वै रहौं द्रुम गुल्म लता बेली बन माहीं ।
आवत जात सुभाय परै मोपै परछाहीं ।। (भ्रमरगीत)

और भक्त कृष्ण के ही धाम ब्रज भूमि में कहीं रहने की कामना करता रहता है—

जो गिरि रुचे तो बसों श्री गोवर्द्धन, गाम रुचे तो बसों नंद गाम ।
नगर रुचे तो बसों श्री मधुपुरी, सोभा सागर अति अभिराम ।।
सरिता रुचे तो बसों श्री जमुना तट, सकल मनोरथ पूरण काम ।
"नंददास" कानन रुचे तो, बसों भूमि वृन्दावन धाम ।। (पदावली)

रास रसिक कृष्ण स्वयं इतने सुन्दर हैं कि गोपिकाएँ तो क्या पशु-पक्षी और यहाँ तक कि पर्वत भी अपना धर्म छोड़कर, पुलकित भाव से अपने अपने स्थान छोड़कर, वृन्दावन की ओर ही चलने लगते हैं—

नगन कों धरम न रह्यौ पुलकि तन चले ठौर तें ।
खग मृग गो बछ मच्छ कच्छ ते रहे कौर तें ।। (रासपंचाध्यायी)

भक्ति-भावना के कारण नन्ददास ने राम का अलौकिक वर्णन किया है, जिसमे मनुष्यों और ऋषि-मुनियों की गति तो कुछ की कुछ हो ही जाती है, प्राकृतिक वस्तुएँ भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहतीं—

अद्‌भुत रस रह्यौ रास गीत धुनि सुनि मोहे मुनि ।
सिला सलिल ह्वै चली सलिल ह्वै रह्यौ सिला पुनि ।।
पवन थक्यौ, ससि थक्यौ, थक्यौ उडु-मंडल सिगरौ ।
पाछे रवि रथ थक्यौ चलै नहि आगे डगरौ ।। (रासपंचाध्यायी)

मानवीकरण :– नन्ददास ने कहीं-कहीं मानवीकरण के रूप में भी प्रकृति का वर्णन किया है। 'रासपंचाध्यायी' में चाँदनी भी अपनी मन्द-मन्द गति से चलकर मानो सौन्दर्यराशि-कृष्ण को देख रही है—

मन्द मन्द चलि चारु चन्द्रिका अस छबि पाई ।
उझकति हैं पिय रमा-रमन कौं मनु तकि आई ।। (रासपंचाध्यायी)

प्रकृति की संवेदनशीलता :—यद्यपि नन्ददास आधुनिक छायावादी कवियों की तरह प्रकृति के साथ तादात्म्य का वर्णन नहीं कर सके, किन्तु तो भी प्रकृति की संवेदनशीलता का एकाध स्थल पर परिचय देकर उन्होंने मानव के

साथ उसका अटूट सम्बन्ध स्थापित किया है। राधा के वियोग-क्रन्दन को सुनकर पक्षी-पेड़-लता आदि भी अपनी संवेदना प्रकट करते हैं—

'कासि कासि पिय महाबाहु' यों वदति अकेली।
महाबिरह की धुनि सुनि रोवत खग द्रुम बेली॥ (रासपचाध्यायी)

राधा अकेली कृष्ण-वियोग में कुंज-कुंज मारी फिरती है और "प्रिय तुम कहाँ हो," "प्रिय तुम कहाँ हो" पुकारती है। उसकी इस अवस्था को देखकर जड़ प्रकृति भी रो उठती है। उसकी सचेतन-सत्ता जाग्रत हो उठती है।

प्रकृति की संवेदनशीलता के साथ-साथ एकाध स्थल पर प्रकृति के प्रति मानवीय संवेदनशीलता का भी परिचय हमारे कवि ने दिया है। 'रूपमंजरी' में विरहिणी का व्यथा से आक्रान्त हृदय 'साकेत' की उर्मिला की तरह, कमलादि समदुखी पुष्पों के प्रति सवेदनशील हो उठता है। वह कहती है कि हे कमल! दुःख में तेरा कोई साथी नहीं है। ब्रह्मा तेरा पुत्र है, सूर्य तेरा मित्र है और जल तेरा पिता है, फिर भी तुझे तुषार के आघात से कोई न बचा सका। ओह! कितने दुःख की बात है कि दुःख में तेरा कोई सहायक नहीं—

विधि सौं पूत मीत रवि ताकौ। जल सों जनक जगत जस जाकौ॥
सो अम्बुज यह हिम रितु जार्यो। इतने माँझ न किन्हू उबार्यौ॥
तू को आहि हितू को तेरौ। एक मीत सो नाहिन नेरौ॥

तथ्यों की अभिव्यक्ति के रूप में:—श्रीमद्भागवत के दशम-स्कंध के अन्तर्गत शरद् और वर्षा के वर्णन के अनुसार अथवा तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' के अनुकरण पर जीवन के तथ्यों की अभिव्यक्ति के रूप में तथा उपदेश-ग्रहण करने के लिए भी नन्ददास जी ने प्रकृति का प्रयोग किया है। 'रूपमंजरी' में कवि निर्भयपुर का वर्णन करता हुआ लिखता है—

फलन कै भार नमित द्रुम ऐसे। संपति पाय बड़े जन जैसे॥

उपर्युक्त पंक्तियों का तुलसीदास की निम्न पंक्तियों से कितना साम्य है, देखिए—

फल भारन नमि विटप सब रहे भूमि नियराइ।
पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसंपति पाइ॥

इसी प्रकार के और भी वर्णन नन्ददास के काव्य में मिलते हैं—

बाट घाट तृण-छादित ऐसे । अभ्यास बिनु बलि विद्या जैसे ।। (रूपमंजरी)

नाम-परिगणन-शैली :—वस्तु-नाम-परिगणन-रूप में भी प्रकृति का वर्णन हिन्दी-साहित्य में परम्परागत है। जैन-चरित-काव्यों से लेकर सूफियों तक के प्रबन्ध काव्यों में इस ढंग का रूढ़ वर्णन पाया जाता है। नन्ददास ने भी इस नाम-परिगणन-शैली को अपनाया है। 'रासपंचाध्यायी' में वृन्दावन का वर्णन करता हुआ कवि नाना पुष्पों और लताओं का वर्णन करता है—

इत महकति मालती चारु चंपक चित चोरत ।
इत घनसार तुसार मलय मदार झकोरत ।।
इत लवंग नवरंग एलि इति झेलि रही रस ।
इत कुरुवक केवरा केतकी गंध-बंधु वस ।।
इत तुलसी छबि हुलसी छाँड़ति परिमल लपटैं ।
इत कमोद आमोद गोद भरि भरि सुख दबटैं ।।

उद्दीपन-रूप में :—उद्दीपन के रूप में नन्ददास ने प्रकृति का बहुत ही मार्मिक एवं विस्तृत प्रयोग किया है। परम्परागत ऋतु-वर्णन और बारह-मासा-वर्णन भी नन्ददास के काव्य में मिलता है। संयोग-पक्ष में प्रकृति का उद्दीपन-रूप अपेक्षाकृत कम पाया जाता है। रस की दृष्टि से भी उनका विरह-पक्ष अधिक मार्मिक है। 'रासपंचाध्यायी' में ही मुख्य रूप से संयोग पक्ष में प्रकृति का सुखमय शृंगार-युक्त चित्रण हुआ है। वृन्दावन के कुंजों में गोपिकाएँ प्राकृतिक सौन्दर्य में रासलीला के समय मस्त हो जाती हैं। सयोग की भावना को तीव्रता प्रदान करने के लिए ही प्रकृति का पृष्ठभूमि के रूप में भी वर्णन इस रचना में पाया जाता है। नन्ददास की अधिक रुचि वियोग-वर्णन में थी, इस तथ्य की पुष्टि इस बात से भी होती है कि षड्ऋतु-वर्णन भी, जिसे प्राय: सभी कवियों ने संयोग-पक्ष में ही काव्य-विषय बनाया है, नन्ददास ने वियोग-चित्रण के हेतु अपने काव्य में प्रयुक्त किया है; परम्परा का विरोध करके नन्ददास ने पर्याप्त साहस दिखाया है।

संयोग में प्रकृति अपनी समस्त सुषमा के साथ एक नवयौवना स्त्री के समान दृष्टिगोचर होती है। उसका प्रत्येक अंग सुखकारी प्रतीत होता है। कवि प्रकृति के इस सजीव सौन्दर्य का वर्णन निम्नपंक्तियों में करता है—

कुसुम धूरि धूधरे कुंज मधुकरनि पुंज जहँ।
ऐसेहु रस आवेस लटकि कीनों प्रवेस तहँ॥
नव पल्लव कर सैंनी अति सुख दैनी मरमैं।
सुन्दर सुमन सु निरखत अति आनंद हिय बरसैं॥ (रासपंचाध्यायी)

'रासपंचाध्यायी' का पीछे वर्णित पृष्ठभूमि का वर्णन भी संयोग-पक्ष के उद्दीपन की ही भावना लिए हुए है।

वियोग-पक्ष—बारहमासा-वर्णन :—'विरहमंजरी' में बारहमासा-वर्णन कवि की अद्भुत कल्पना शक्ति को प्रकट करता है। इस रचना में कथा के विकास के लिए बारहमासा-वर्णन नहीं हुआ है। संभवतः कवि का उद्देश्य स्वतंत्र रूप से बारहमासा-वर्णन रहा है। कवि 'प्रत्यक्ष-विरह,' 'पलकांतर विरह' और 'वनांतर-विरह' के पश्चात् 'देशांतर विरह' में बारहमासा-वर्णन करता है। रात्रि के समय विरहिणी बाला की दृष्टि चंदा की ओर जाती है, और वह उसे ही अपना संदेशवाहक बना कर कंत के लिए संदेशा देने लगती है—

दृष्टि परि गयो चंदा गैन। लागी ताहि सदेशा दैन॥
द्वादसमास विरह की कथा। विरहिनी कों दुखदायक जथा॥
छिनक माँझ बरनी तिहि बाला। महाविरहिनी ह्वै तिहि काला॥

यह बारहमासा-वर्णन चैत्र के महीने से आरंभ होता है। विरहिणी नायिका चाँद को संदेश देती हुई बताती है कि प्रिय से बिछुड़ने का वह चैत का मास था। मैंने प्रियतम से बहुत कहा सुना कि इस कामोत्तेजक बसंत के महीने में न जाए, परन्तु वे न माने, चले ही तो गए—

चैत चलौ जिनि कंत, बार बार पाँ परि कहौं।
निपट असंत बसंत, मैन महा मयमंत जहँ॥
तदपि न रहे चलेई चले। कहियो चंद भले जू भले॥

चैत्रमास में बसंत की बहार चारों ओर है। कोयल की कूक सुनकर विरहिणी बाला कहती है कि प्रियतम तुम्हारे संयोग में जो कामदेव हितकारी था, वह अब पुष्पों के बाण मार मार कर चित्त को व्याकुल बनाए जा रहा है-

तब ही कुहुक कोकिला कियो। सुनतहि दहकि बहकि गयो हियो॥

× × × × × ×

मदन जाल गोलक से भौंरा। फिरि गए उपरि ठौर ही ठौरा॥
सुखद जु हुतौ तुम्हारै सग। सो वह वैरी भयो अनंग॥
नव पुहुपन के धनुष बनावै। मधुप-पाँति तिनि तंति चढ़ावै॥

त्रिविध-पवन अलग से मारे डालता है। वह पुष्प-पराग को बिखेरता हुआ मानो सारे वन में फाग खेल रहा है, उसने प्राणों को और भी चंचल कर दिया है—

अरु इह त्रिगुन पवन कितहू कौं। पुहुप पराग लिये करबूको।
फागु सौ खेलत बन में फिरै। रस अनरस सब काहू भरै॥
पंचबान के प्रान समान। तिन अति चंचल किये परान॥

प्रिय की अनुपस्थिति में अब उसे प्रेम की पीर का ज्ञान हुआ है, ठीक उसी तरह जिस तरह जल से बिछुड़ कर ही मछली को जल का महत्त्व ज्ञात होता है—

जलचर ज्यों जलभीर में, जानत नाहिन पीर।
बिछुरि परै जब नीर तें, सच सचु जानै नीर॥

वैसाख में विरहिणी बाला के मन में अभिलाषा और भी तीव्र हो जाती है। वह अपनी दीन अवस्था की तुलना प्रकृति से करने लगती है। कातर वाणी में वह कह उठती है—"हे प्रियतम ! नव-मालती के पुष्पों की माला, जो तुम मुझे पहनाया करते थे, आकर पहनाओ न ! जिन लवंग लताओं की छाया में हँस-हँस कर हाथ में हाथ दिए विचरते थे, अब उसी प्रकार आकर विहार करो न ! देखो तो सही, पेड़ से लताएँ लिपट रही हैं, वे मुझे अकेली देखकर मुझ पर हंस रही हैं—"

कुसुम धूरी धूँघरी सुकुंजैं । मधुकर निकर करत तहँ गुंजैं ॥
गुहि गुहि नवल मालती-माला । मोहिं पहरावहु मोहनलाला ॥
ललित लवंग लतनि की छाँही । हँसि बोलौ डोलौ गहि बाँही ॥

× × × × × ×

द्रुमनि सौं लपटि प्रफुल्लित बेली । जनु मोहिं हँसति है देखि अकेली ॥

अंतिम पंक्ति में अभाव-ग्रस्त हृदय की कैसी मार्मिक पुकार है ! कभी-कभी जब वह अपनी कल्पना में प्रिय-मिलन का अनुमान करती है, तो कुछ क्षणों के लिए सुख की मन्दाकिनी में डुबकियाँ लगाने लगती है। परन्तु इस रचक सुख से दुःख का अनन्त भार कैसे दूर हो सकता है—

जौ कबहूँ पिय ध्यानहि धर्‌यौ । परिरंभन चुंबन पुनि कर्‌यौ ॥
रचक सुख बहुर्‌यो दुख भारी । काहि बिमसिए दसा हमारी ॥

विरहिणी-बाला की इस प्रकार की सुख-दुख की अवस्था पर कवि ने उसे लुहार की सँडासी बनाकर एक अनूठी उत्प्रेक्षा की है—

इहि विधि बलि बैसाख इह, बीत्यो दुख सुख लागि ।
संडसी भई लुहार की, छिन पानी छिन आगि ॥

जेठ की तपन ने विरह की अग्नि में और आग लगा दी। चंदन आदि उपचारों से वह और भी प्रज्वलित होती है। चन्द्र-किरणें 'घृत-बूँद' के समान उसमें पड़ती हैं। विरहिणी बाला संदेसा देती है—हे प्रिय ! जिस दावानल का तुमने पान किया था, वही फिर से भड़क उठी है। इस अग्नि से शीघ्र बचाओ—

वृष की तपनि तपति अति बई । घर बन अनलमई सब भई ॥
तैसिय बिरह बिथा तन नई । अगिन मै अगिन और ज्यों दई ॥
चंदन चरचैं अति परजरै । इंदु-किरनि घृत-बूंद सी परै ॥

× × × × × ×

दावानल जु पान हो कर्‌यौ । सो वह बहुरि बिपिन संचर्‌यौ ॥

असाढ़ मास में पपिहे की 'पी-पी' की रट आधी रात को विरहिणी का हृदय उछाल-उछाल देती है। पावस की सेना लेकर मदन ने विरहिणी को

घेर लिया। अषाढ़-सावन की घनघोर गर्जना, और बाला के दहलते हुए दिल पर उसके प्रभाव का जो रूपक के द्वारा नन्ददास ने वर्णन किया है, वह बिल्कुल परम्परागत है। बरसती हुई पानी की बूँदें मदन के बाण हैं, काले बादल हाथी, और बगुओं की पंक्ति हाथियों के दांत है। इस प्रकार के वर्णन जायसी के 'पद्मावत'१, तथा सूर आदि सभी कवियों की रचनाओं में मिलते हैं। परन्तु 'विरह मंजरी' के वर्णन परम्परागत होते हुए भी कवि की मार्मिक कल्पना शक्ति, मौलिकता और विरही-हृदय की मर्मस्पर्शी वेदना से युक्त हैं जायसी के नागमति-वियोग-खंड में वर्णित बारहमासे की तरह नन्ददास का यह बारहमासा भी उनकी अनूठी सूझ-बूझ के कारण निर्वैयक्तिक परम्परागत 'बारहमासा' बनने के दोष से बच गया है। सावन की झड़ी का सुन्दर चित्रण कवि इस प्रकार करता है—

अब देखियत उमगी घन माला। मानहुँ मत्त मदन की ढाला॥
छूटे जु बन्धन तोरी-मरोरी। धनुष घने जनु पँचरंग डोरी॥
बगन की पाँति बड़बड़े दँत। धुरवा मद के पटे बहंत॥
गरजनि, गुंजनि, सुनि-सुनि महा। दलकत हिय दुख कहिये कहा॥
भरि भरि मुंडनि डारत पानी। डारत मोहि करत नकबाँनी॥
घूमत फिरत महा मतवारे। ढाहत पिय के अवधि-करारे॥

अंत की पंक्ति में जब परम्परागत बादल रूपी मतवाले हाथी "ढाहत पिय के अवधि-करारे" कहे जाते हैं, तब परम्परागत प्रकृति-चित्रण, कवि की मौलिक सूझ के कारण, विरहिणी की मनः व्यथा को भी स्पष्ट और मार्मिक ढंग से उपस्थित करता है।

भादों में भी एक ओर आकाश से पानी बरसता है, दूसरी ओर विरहिणी के आँसुओं की अटूट धारा बह रही है—

भादौं अति दुख-ऐन, कहियो इंदु गोविन्द सौं।
घन अरु तिय के नैन, होड़न बरसत रैन दिन॥

---

१. दे० जायसी ग्रंथावली—पृ० १५२ (नागमती वियोगखंड)

प्रकृति से इस होड़ का वर्णन साहित्य में विरल ही पाया जाता है। भादों की घोर अंध्यारी रात्रि में जब तेज पवन झकोरे देता है तथा दादुर, झींगुर आदि कानों को फोड़े डालते हैं, तो अकेली विरहिणी की जान सी निकल जाती है। वह कहती है—

इंद्र कोप कीनौ पुनि अबै। जल-व्याकुल गोकुल हैं सबै॥
आवहु बलि बिलम्ब जिनि करौ। बहुर्‌यौ फिरि गोबरधन धरौ॥

इन पंक्तियों में कवि ने विरहदशा के चित्रण में विरहिणी की तीव्र अभिलाषा, उसकी कातरता, स्मृति, प्रिय के गुण-कथन आदि कई सचारी भावों का मार्मिक प्रकाशन किया है।

क्वार के महीने में वियोगिनी की वेदना और उसकी पूर्व-स्मृतियों से भरी असफलता का सफल चित्र नन्ददास जी ने अंकित किया है—

कहियो उडुप उदार, सुन्दर नंदकुमार सों।
श्रम कृम कीनी क्वाँर, हार भार तें डारि दिये।

कृष्ण की स्मृति मोरों के नवीन पँखों को देख-देख कर और भी विकल बनाए जाती है—

निरमल जल महँ जलजहुँ फूले। तिन पर लंपट अलि-कुल भूले॥
सुधि आवत वा मोहन-मुख की। कुटिल अलक जुत सींवाँ सुख की॥
मोरन नूतन चँदवा डारे। देखि देखि दृग होत दुखारे॥

कृष्ण-स्मृति का ऐसा सांकेतिक और मार्मिक वर्णन हिन्दी साहित्य में अन्यत्र मिलना कठिन है। कृष्ण के किशोर रूप, उनकी संध्या के समय वन से आने की शोभा आदि को याद करती हुई गोप-बाला अपनी तीव्र अभिलाषा प्रकट करती है। उसकी आँखें कृष्ण की मनमोहक मूर्ति के दर्शन के लिए तड़प रही हैं—

साँझ समय बन तैं बनि आवौ। गो-रज-मंडित बदन दिखावौ॥
वा छबि बिन ये नैन हमारे। जरत हैं महा विरह जुर जारे॥

कार्तिक के महीने में सुहावनी शरदृऋतु की रात्रि, चारों ओर खिलने वाली चमेली और कालिन्दी पुलिन की रम्य शोभा ने विरहिणी बाला को रास-

लीला की याद दिला दी। ओह ! कहाँ वह प्रिय-मिलन, परिरंभन, चुम्बन, परिहास आदि और कहाँ यह विरह की अग्नि में जलना ! गोप-बाला कहती है कि हे चन्द्र ! मन्द-मन्द गति को छोड़कर तीव्र चाल से कृष्ण को मेरा संदेश कहो। यदि प्रिय इस मास में भी नहीं आए तो मेरे ये चंचल प्राण प्रिय के पास ही चले जायँगे—

प्रीतम परम सुजान, कातिक जौ नहिं आयहैं।
तौ ये चपल परान, पिय तुम ही पै आयहैं॥
अहो चन्द बलि चलि जिनि मन्द। जाहु बेग जहँ पिय नंद नंद॥

अगहन में वह कहती है—"प्रिय ! यह अगहन का महीना राहु के समान आया है. जो मेरे शशि-शरीर को ग्रसना चाहता है। अब आप उसके 'उगहन' के लिए यहाँ आकर दर्शन दीजिए—

अगहन गहन समान, गहियत मोर सरीर-ससि।
दीजै दरसन दान, उगहन होय जु पुन्यबल॥

पूस और माघ में शीत भरी रातों की तुषार-वर्षा उसे अग्नि-वर्षा सी प्रतीत होती है। जाड़े के कसाले से बड़ी-बड़ी रातें काटे नहीं कटतीं। सरदी से बचने के उपचारों ने वेदना को और भी तीव्र कर दिया है, क्योंकि—

बेदन आन औषधि आन। क्यों दुख मिटै जान-मनि जान॥
दिन अरु रजनी परै तुसारा। सीतल महा अगिनि की झारा॥

यदि कभी भूल से नींद आ भी जाती है तो स्वप्न में साँवरी मूर्ति आँखों को थोड़ी देर ही आनन्दित कर पाती है, शीघ्र आँख खुल जाने से वेदना ही बढ़ती है। निम्न पंक्तियों में नन्ददास जी ने सूरदास के अनुकरण पर स्वप्न में प्रियदर्शन और जाग्रतावस्था की व्याकुलता का चकई के उदाहरण से सुन्दर वर्णन किया है—

जौ कबहुँ हठि नींद अनयै। साँवरे पिय सुपने में पैयै॥
तदपि न सुख तहँ परिये जागि। प्रजरत महा आगि ते आगि॥
ज्यों चकई निज झाँई चाहि। मुदित होत पति मानत ताहि॥

प्रबल पवन पुनि आय डुलावै । चकई विलपी परम दुख पावै ॥
तैसौ इह कहिये अब कौन । दाधे पर जस लागत लौंन ॥

सूरदास जी का इस भाव का अत्यन्त प्रसिद्ध और मार्मिक पद देखिए तथा दोनों को मिलाइए—

हमको सपनेहू में सोच ।
जा दिन तें बिछुरे नंदनन्दन ता दिन तें यह पोच ॥
मनो गोपाल आए मेरे घर, हँसि करि भुजा गही ॥
कहा करौं बैरिन भई निदिया, निमिष न और रही ॥
ज्यों चकई प्रतिबिम्ब देखिकै, आनन्दी पिय जानि ।
सूर, पवन मिस निठुर विधाता चपल कियो जल आनि ।

(भ्रमरगीतसार)

माघ के महीने का विरहिणी पर जो शारीरिक प्रभाव पड़ता है, उसका भी सुन्दर चित्रण कवि ने किया है। यह उसकी कल्पना-शक्ति के साथ-साथ भाव-निरूपण की मार्मिकता का भी परिचायक है—

मृदुल बेलि-सी व्रज की बाला । मुरझि चली हो गिरिधर लाला ॥
× × × × × ×
माह मास के कदन करि, मास रह्यो नहिं देह ।
सांस रह्यो घट लागि कै, बदन चहन कै नेह ॥

विरह के दुःख ने उसे ऐसा बना दिया है कि "तोला माँसु रहिं नहिं देहा" । उसके श्वास केवल प्रिय-मुख को देखने के लिए अटके हुए हैं।

फाल्गुन में वह प्रिय को फाग खेलने के लिए बुलाती है। वह चन्द्र से कहती है कि प्रिय नहीं आते, तो हे चन्दा ! मुझे ही वहां ले चल । अब गुरुजनों की लज्जा और दुर्जनों की हँसी की कौन परवा करे। जब रोग से अंग ग्रस्त हों, तो औषधि सेवन में लाज कैसी—

मोहि तौ लै चलि चंदा मंदा । जहं मोहन सोहन नंदनन्दा ॥
कहा करैंगे गुरुजन मेरो । दुरजन क्यों, हंसो बहुतेरो ॥
जाकै अंग रोग है महा । औषध खात लाज है कहा ॥

इस प्रकार 'विरहमंजरी' में प्रत्येक मास के वर्णन में कवि ने भिन्न-भिन्न प्राकृतिक व्यापारों के रूप में प्रकृति का सुन्दर निरीक्षण प्रस्तुत किया है। नन्ददास ने चन्द्रमा को दूत बना कर प्रकृति को दूत बनाने की परम्परा को भी सुरक्षित रखा है।

षड्ऋतु-वर्णन :—'रूपमंजरी' में षड्ऋतु-वर्णन भी वियोग के लिए ही वर्णित है। इस प्रसंग में, जैसा कि कहा गया है, परम्परागत संयोग-वर्णन का नन्ददास जी ने प्रयोग नहीं किया। विरह-विदग्ध-हृदय की उन्माद-दशा के अनेक बहुत सुन्दर चित्र कवि ने इस षड्ऋतु-वर्णन में खींचे हैं।

पावस ऋतु में काले-काले बादल विरहिणी रूपमंजरी को भयंकर दिखाई देते हैं, मानो कामदेव अपने हाथियों को लड़ाने के लिए भेज रहा है। बादलों में अपने प्रिय की 'अनुहारि' देखकर वह जिस किसी तरह दिन को तो बिता देती है पर रात्रि में तो रमणी महादुख प्राप्त करती है—

उमड़े वादर कारे कारे। बड्डे बहुरि भयानक भारे ॥
घुमडनि मिलनि देखि डर आवै। मनमथ मानौं हथी लरावै ॥
पवन-महावत लै लै धावै। अंकुस-छटनि छोह उपजावै ॥
× × × × × ×
घन मैं तनक जो पिय-उनहारी। तिहि लालच देखै बर नारी ॥
बगन की माला नैन बिसाला। मानत पिय पिउ-उर पंकजमाला ॥
दामिनी दमक देखि दृग नावै। पिय पट पीत छोर सुधि आवैं ॥
दिन तौ इहि अवलम्ब बरावै। रैनि में खनि महा दुख पावै ॥

रात्रि में वादलों की घोर गर्जना और पवन के झकोरे उसके दिल को दहला रहे हैं, और दादुर एवं झींगुरों की आवाज़ उसके कान फोड़े देती है। जुगनू विरहाग्नि की चिंगारियाँ उड़ा रहा है। पापी पपीहा अलग अपनी 'पी-पी' की रटन से जला रहा है। पपीहे की प्रम-लगन और 'नेम' से रूपमंजरी प्रेम की अनन्यता का पाठ सीखती है—

प्रेम एक इक चित्त सौं, एकहि संग समाय।
गंधी कौ सौंधौ नहीं, जन जन हाथ बिकाय ॥

शरद्‌ऋतु में रूपमंजरी का मन पक्षियों की भांति उड़-उड़ कर प्रिय के पास जाता है। रूपमंजरी अपने मन से कहती है—मन, तू इतना कुटिल क्यों है जो प्रिय के पास अकेला ही जाना चाहता है, मनमोहन-मुख के दर्शन कराने वाली आँखों को तो साथ ले चल—

पंकजपत्रनि पंख बनावै। उडन लगै सो क्यों उडि आयै ॥
मन सों कहै कुटिल तू आही। अकिलौई उठि पिय पै जाही ॥
रंचक नैनन हूँ सँग लै रे। मोहन-मुख दिखि आवन दै रे ॥

शरद्‌ऋतु में खंजन-पक्षियों की चंचलता और कल्लोल, चन्द्र की शुभ्र आभा, तथा कमलों की प्रफुल्लता पर कवि उत्प्रेक्षा करता है—मानो 'रूप-मंजरी' के मलिन मुख और मलिन सौन्दर्य के कारण ही प्रकृति के ये उपकरण प्रसन्न हो रहे हैं। अंजनहीन नेत्रों को देखकर खंजन प्रसन्न हो गए। उदास मुख को देखकर आकाश में चन्द्रमा तथा ताल-तालाबों में कमल प्रफुल्लित हो उठे हैं—

अंजन विनु दिखि नैन सुहाये। खंजन दुरे कहूँ ते आए।
निरखि कुँवरि कौ बदन उदासा। इंदु मुदित ह्वै उदित अकासा ॥
निरखि मलिन मुख-नलिन कहुँ, फूले कमल कसार।
बैरी चीत्यौ जगत मैं, तू जिनि करि करतार ॥

दूज का चन्द्रमा विरहिणी बाला को काम-कटारी के समान प्रतीत होता है। टूटते हुए तारे मानो उसकी ओर अंगार फेंक रहे हैं। यहां कवि ने रूपमंजरी की उन्माद दशा का बड़ा अनूठा चित्रण किया है। वह दर्पण में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के सिर पर प्रतिहिंसा में हथौड़ा देकर मारती है—

द्वैज चन्द दिखि भै भरि भारी। उगी गगन जनु काम कटारी ॥
टूटि तार अंगार बगावै। कामभूत जनु मोहि छरावै।
× × × × ×
कै अहरनि पर धरि मुकुर, सुकर लौह घनु लेहि
जबई आनि पर तहाँ, तबई ता सिर देहि ॥

शरद् के बाद हेमंत-ऋतु आई। बड़ी बड़ी रातें कटने में ही नहीं आतीं। नींद आती ही नहीं। कभी वह आँखें मूंद कर नींद लाने का प्रयत्न करती है और मन में सोचती है—कदाचित् आँख लगने पर स्वप्न में ही प्रिय दर्शन हों। पर नींद को तो न जाने क्या हो गया है। हा विधाता ! क्या नींद भी कहीं सो गई है ?—

नैन मूंदि निसि नींद अनावै। मति वह सुपन बहुरि हू आवै।
नींद न आवै तब कहै दई। नींद मनो कहुँ सोय है गई।।

कैसी सुन्दर उत्प्रेक्षा है ! कवि की अनोखी सूझ और कवित्व-शक्ति रंग ला रही हैं।

शीत ऋतु से वह उसी प्रकार भयभीत होती है जैसे सिंह से गाय। शीत के तुषार से आहत हुए कमल के प्रति वह अपनी संवेदना प्रकट करती है। सखा ने एक बार कहा था कि पावस बीतने पर 'मीत' से तुम्हारा मिलन होगा। रूपमंजरी कहती है—

पावस बीती सरद ऋतु बीती। हिम रितु बीनी सीत सभीती।।
अब बसंत रितु आगम आयो। कापै जैहै जीव जिवायो।।

बसंत ऋतु और उसके सखा कामदेव दोनों ने मिलकर संसार में धूम मचा दी है। इनका मेल आग और हवा के समान है। यह बसंत अब कैसे कटे ! कवि कहता है कि उसके मन की कथा अकथनीय है। उसकी विरहाग्नि इस प्रकार बढ़ रही है जैसे रूई में लिपटी आग बढ़ती है—

अकथ कथा मनमथ बिथा, तथा उठी तन जागि।
किहि बिधि राखै, क्यों रहै रूई लपेटी आगि।।

बसंत में कवि ने व्रज की होली का वर्णन किया है। नर और नारियाँ 'रंग-रंग रली' ब्रज की गली-गली में मस्त घूमती हैं। रंग से रंगी फाग-मंडली ऐसी प्रतीत होती है मानो रति के ब्याहने के लिए उमंग भरी कामदेव की बरात जा रही है—

रँग रँग छिरकें बसन, बरनत बनति न बात।।
जनु रति ब्याहन रहसि भरि, आई बितनु-बरात।।

ब्रज के लोग कृष्ण की ब्रज लीला गाने लगे। रूपमंजरी अपने प्रियतम की याद में खोई हुई सी मूर्छित हो जाती है। सखी जतन से उसे प्रबोधती है। बसंत ऋतु की मादकता फिर उसकी व्याकुलता को बढ़ाती है। कोकिल इस बसंत के राजा कामदेव की दुहाई देती फिरती है। काम रूपी राजा त्रिविध पवन के घोड़ों पर अपने पंचशरों को लेकर विरहिणी रूपी मृगी के शिकार को निकलता है—

तामैं मैन नृपाई पाई। पिक बोली जनु फिरत दुहाई।।

× × × × ×

इक दिन राव अखेटक चढ्यो। बिरही मृग मारन रिस बढ़्यो।।
पुहुप कौ चाप पनिच अलि किये। पंच बान पाँचों कर लिए।।

× × × × ×

त्रिगुन पवन तुरंग चढ़ि धायो। दलमलि देस कुँवरि ढिग आयौ।।

भला इस प्रकार के मत्त कर देने वाले वातावरण में विरहिणी कैसे जीवे—

कुसुम धूरि धूधरि दिसा, इंदु उदै रस पौन।
कुहु कुहु जौ कोकिल करै, बिरही जीवै कौन।।

बसंत के बाद भीषम ग्रीष्म आई। पहाड़ से दिन काटे नहीं कटते। दुपहरी डाइन-सी बहुत दुख देने लगी है। चन्दन उसे जलता हुआ लगता है। चन्द्रकिरण आग में घी डाल रही है। हृदय में इतना अधिक विरह ताप है कि हार के मोती उस पर तच-तच कर तड़क रहे हैं। न दिन में चैन है न रात को। वह इस प्रकार तड़पती है, जैसे थोड़े जल में मछली—

चंदन चरचें अति परजरै। इन्दु-किरनि घृत बुंद सी परै।।
घनसारहिं दिखि मुरझाति ऐसै। मृगीवंत जल दरसै जैसे।।
हार के मुतिया उर झर माँही। तचि तचि तरकि लवा ह्वै जाहीं।।
दिखि दिखि इन्दुमती अरबरै। थोरे जल जिमि माछिरि फिरै।।

इस प्रकार छहों ऋतुओं में विरहिणी रूपमंजरी अपने पूर्वानुराग-जन्य विरह की ज्वाला में जल रही है। इन भिन्न-भिन्न ऋतुओं में प्रकृति जो-जो

रूप धारण करती है, वे सब रूपमंजरी के शरीर पर प्रभाव डालते हैं, उसकी विरह-ज्वाला को उत्तेजित करते हैं।

विरह में प्रकृति की सचेतन-कल्पना:—कविकुलगुरु कालिदास ने अपने 'मेघदूत' में कहा है—'कामार्ताहि प्रकृतिकृपणाश्च चेतनाचेतनेषु।' नन्ददास ने भी ठीक इसी भाव को विरहिणी गोपियों की दशा का वर्णन करते हुए इस प्रकार व्यक्त किया है—

ह्वै गईं विरह विकल तब बूझत द्रुम बेली-बन।
को जड़ को चैतन्य कछु न जानत विरही जन।।

और वास्तव में ही 'रासपंचाध्यायी' में गोपियाँ वन के वृक्षों, लताओं, पुष्पों से कृष्ण का पता पूछती फिरती हैं—

हे मालति! हे जाति! जूथिके! सुनियत दै चित्त।
मान-हरन मन-हरन गिरिधरन लाल लखे इत।।

× × ×

हे मंदार उदार बीर करवीर महामति।
देखे कहुँ बलवीर धीर मन-हरन धीर गति।।

तुलसी के राम भी इसी प्रकार पशु-पक्षियों से सीता का पता पूछते हैं-

'हे खगमृग, हे मधुकर स्रेनी। तुम देखी सीता मृगनैनी।।'

नन्ददास की गोपियाँ कृष्णानुराग में इतनी भाव-विभोर हैं कि अपने प्रियतम की चितवन से ही वे हरिणियों के नैन खिले हुए समझती हैं, और उसी से पुष्पों को खिला हुआ मानती हैं। सौन्दर्य-राशि कृष्ण के संयोग बिना ये इस प्रकार कैसे प्रफुल्लित हो सकते हैं? इसी लिए तो एक गोपिका अपनी सखी से कहती है—

बूझहु री इन लतनि फूलि रही फूलनि सोहीं।
सुन्दर पिय कर परस बिना अस फूल न होहीं।।
हे सखी ये मृगबधू इनहिं किन बूझहु अनुसरि।
डहडहे इनके नैन अबहिं कतहूँ चितए हरि।। (रास पंचाध्यायी)

'मान मंजरी' अथवा 'नाममाला' में नन्ददास ने उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत प्रकृति का एक नए ही ढंग का वर्णन किया है, जो प्राचीन हिन्दी साहित्य में किसी भी कवि के काव्य में उपलब्ध नहीं होता। दूति राधा को मनाती हुई कहती है—हे राधा, तू मान छोड़ दे, प्रिय के पास चल। बादल से यदि पपीहा रूठ जाय तो क्या निर्वाह हो सकता है? देख, शरद की कैसी सुन्दर यामिनी है! पिय के पास चल। क्रोध त्यागकर देख, आकाश में तारे कैसे सुन्दर लगते हैं, मानो देवताओं की स्त्रियाँ तेरे रूप को झरोखों से झाँक-झाँक कर देख रही हैं। देख तो, कृष्ण तेरी प्रतीक्षा में कल्पतरु के नीचे किस प्रकार बैठे हैं। जब वृक्ष का कोई पत्ता खड़कता है तो वे तेरे आगमन के भ्रम में चौंक उठते हैं। तेरे शरीर की सुगंधि को स्पर्श करके जो वायु उनके पास जाती है, वे उसका बड़े सम्मान के साथ आलिंगन करते हैं—

'घनसों रूठै पपिहरै, नाहिन बनै बलि जाऊँ'॥
'सुखद सुहाई सरद की, कैसी रजनी जाति!
चलि बलि मोहन लाल पै, कत बैठी अनखाति'॥
'गगन जु उडुगन बनि रहे नेक चहौ तजि रोष।
देखन तेरो रूप जनु, सुरतिय किए झरोख'॥
'कल्पतरु तरें तल्प रचि, कब के हेरत पीय।
तदपि न तनिक दया कहूँ, उपजति निर्दय हीय॥
× × × × खरकत जब तरु-पात।
तुव आगम-भ्रम चौंकि पिय, उठि उठि उत लौं जात'॥
'तुव तन परिमल परसि जब, गवनत बीर समीर।
ताकौ बहु सनमान करि, परिरंभत बलबीर'॥

अत्युक्तिपूर्ण स्वच्छन्द चित्रण :—दूति कहती है—हे राधा! देख, यह वृन्दावन है, जो तुझे देखकर छवि का धाम बन गया है। तेरे आने से इस वन में चारों ओर अनुराग फैल गया है। देख, यह पाटल का वृक्ष तुझे प्रणाम करता है। आम की डाल तुझे देख नीचे को झुक गई है। यह चम्पा अपने पुष्पों का उपहार तेरे चरणों पर चढ़ा रहा है। यह पीपरी है जो तुझसे कह

रही है कि हे कुँवरी, प्रीतम-प्राणाधार के प्रति इतना मान मत कर। यह जूथी खड़ी तेरी बलाएँ ले रही है। ये बन्धूक, जो दिन में दोपहर को खिलते हैं, तुझे देखकर अब रात्रि में ही खिल रहे हैं। ये गुंजा फल भी तुझे प्रणाम करते हैं। इस माधवी ने तेरी सुगन्धि धारण कर सम्पूर्ण वन को सुवासित कर दिया है। यह मानसरोवर तेरे अनुराग से ही भरा हुआ है। यह यमुना है, जो अपनी तरंगों के कर पसार कर तेरे चरणों को स्पर्श करना चाहती है—

'यह वृन्दावन बाग तुव दिखि बलि छबि कौ धाम' ॥
'रटत विहंगम रँग भरे, कोमल कंठ सुजात।
तुव आगम आनंद जनु, करत परस्पर बात' ॥
'पीपर दै बलि दाहिनौ, जोरि हत्थ धरि मत्थ' ॥
'यह रसाल की माल बलि, नै जु रही फल भार' ॥
'यह पीपरी बलि पग गहै कहति बहुत परकार'।
'अब तें इतनी करि कुँवरि प्रीतम प्रान-अधार' ॥
'यह जूथी गूथी छबिनि, ठाढ़ी लेत बलाइ' ॥
'सुमना, जाती, मल्लिका, उत्तम-गंधा आस।
कछु इक तुव बास सों मिलति जासु की बास' ॥
'बंधुजीव, बंधूक पुनि, जपा कुसुम पुनि आहि।
दुपहरिया के फूल बलि निसि फूले तुहि चाहिं' ॥
'ह्रद, पुष्कर, कासार, सर, सरसी, ताल, तड़ाग।
यह देखौ बलि मानसर फूल्यौ तुव अनुराग' ॥
'भंग तरंग, कलोल पुनि, बीची, ऊर्मि सुभाइ।
लहरी हाथ पसारि जनु जमुना पकरति पाइ' ॥

इस प्रकार नन्ददास ने प्रकृति का ऐसा स्वच्छन्दतापूर्ण वर्णन किया है जिसके उदाहरण हमें जायसी कवि की एकाध पंक्ति को छोड़कर प्राचीन साहित्य में तो कहीं नहीं मिलते, हाँ आधुनिक युग में पन्त आदि छायावादी कवियों के प्रकृति-चित्रण में अवश्य इस प्रकार का प्रकृति-प्रयोग पाया जाता है। एक उदाहरण देखिए—

तुम्हारी मंजुल मूर्ति निहार,
लग गई मधु के वन में ज्वाल,
× × × ×
तुम्हारी पी मुख-वास तरंग
आज बौरे भौंरे, सहकार,
चुनाती नित लवंग निज अंग,
तन्वि ! तुम सी बनने सुकुमार !

लालिमा भर फूलों में प्राण !
सीखती लाजवती मृदु लाज,
माधवी करती झुक सम्मान
देख तुम में मधु के सब साज ! (गुंजन)

अलंकार रूप में :—नन्ददास ने अलंकार-रूप में भी प्रकृति-प्रयोग बहुत अच्छा और पर्याप्त मात्रा में किया है। उनकी उत्प्रेक्षाएँ व उपमाएँ बहुत अनूठी हैं। बहुधा उपमान-योजना परम्परागत ही है, किन्तु नियोजना में कल्पना शक्ति अपूर्व लक्षित होती है। कहीं कहीं तो उपमा द्वारा प्रस्तुत-अप्रस्तुत में गुण, क्रिया और प्रभाव में इतना अधिक सादृश्य दिखाया है कि अप्रस्तुत का दृश्य नेत्रों के सम्मुख आ जाता है—

लाल रसिक के वंक वचन सुनि चकित भईं यौं।
बाल-मृगिन की माल सघन वन भूलि परी ज्यौं ।। (रासपंचाध्यायी)

कृष्ण के वचन सुनकर गोपियाँ इस प्रकार निराश होकर देखने लगीं, जिस प्रकार बाल-मृगी सघन-वन में मार्ग भूल जाने पर खोई हुई सी देखने लगती है। मृग-शावक-नेत्र मानव नेत्रों का परम्परागत उपमान है, परन्तु इसका प्रयोग पूरे प्रसंग के साथ बड़ा अनूठा है। इसी भाँति गोपियों की क्षोभ और निराशा से झुकी हुई ग्रीवा ऐसी प्रतीत होती है, जैसे भ्रमरों के भार से झुकी हुई कमल-नाल हो—

दुख के बोझ छबि-सींव ग्रीव नै चली नाल-सी।
अलक अलिन के भार नमित मनु कमल माल-सी ।। (रासपंचाध्यायी)

ग्रीवा के लिए कमल-नाल और केशों के लिए भ्रमर कवि परम्परा-प्रसिद्ध उपमान है, परन्तु कवि ने उनका प्रयोग ऐसा स्वाभाविक किया है कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव से प्रभावित करते हैं।

कृष्ण को घन और ब्रजबालाओं को चपला के रूप में रास-क्रीड़ा-वर्णन में कई स्थानों पर वर्णित किया गया है, जैसे—

सांवरे पिय संग निरतत चंचल ब्रज की बाला।
मनु घन-मंडल खेलत मंजुल चपला माला॥ (रासपंचाध्यायी)

दूज के चाँद को कामदेव की कटारी बनाकर कवि ने अपनी अद्भुत कल्पना-शक्ति का परिचय दिया है—

द्वैज चंद दिखि भै भरि भारी। उगी गगन जनु काम कटारी॥ (रूपमंजरी)

नन्ददास की कल्पना-शक्ति के द्वारा कहीं-कहीं प्रकृति के उपमानों ने चित्रात्मक दृश्यों का सृजन किया है—

मन्द परस्पर हँसीं लसीं तिरछी अँखियाँ अस।
रूप उदधि उतराति रँगीली मीन पाँति जस॥ (रासपंचाध्यायी)

नन्ददास की अपार कल्पना-शक्ति और प्रकृति के उपमानों पर उत्प्रेक्षाओं के और सुन्दरतम उदाहरण देखिए—राधा की लट अर्थात अलक उसके चन्द्रमुख पर लटक रही है, मानो चन्द्रमा में दरार पड़ गई हो। उसकी वक्र भृकुटि ऐसी मालूम होती है मानो प्रातःकालीन कमल पर बैठा भँवरा पँख पसार रहा हो—

अलक, सिरोरुह, चिकुर, कच, कुंचित कुटिल सुढार।
कुंतल कबरि ललाट जनु, चंदहि गई दरार॥
वक्र, असित, कुंचित, कुटिल, टेढ़ी भौंहन ठौर।
अरुन कमल पर प्रात जनु, पंख पसारे भौंर॥ (नाममाला)

कवि ने आँखों को भौंरा और भृकुटि को भौंरे के पंख बताया है जो उसकी काव्य-कुशलता व कल्पना का विलक्षण उदाहरण है।

नन्ददास ने उदाहरणों, दृष्टान्तों, लोकोक्तियों और मुहावरों के रूप में भी प्रकृति का अद्भुत प्रयोग किया है। अनेक स्थलों पर अप्रस्तुत के द्वारा ही अभीष्ट अर्थ प्रकट करने का प्रयास किया है। दूति राधा से कहती है कि कृष्ण तेरे अत्यन्त निकट रहते है, इसी से तू उनका अनादर और उनके प्रति मान करती है। मलयगिरि पर रहने वाले मनुष्य चंदन के मूल्य को नहीं जानते, वे उसे इंधन ही समझते हैं। क्षीर-सागर की मछली अपने पास चन्द्रमा को जलचर ही समझती है—

अवसि अनादर होइ जो, रहै निरन्तर पास ॥

× × × ×

चंदन कौ ईंधन करति, मलया-वासी भीर ॥

× × × ×

छीर समुद्र के तीर बलि वसत जु जलचर आहि।

चंदहि मंद न जानहीं जलचर मानहीं ताहि ॥ (नाममाला)

कृष्ण के गंभीर प्रेम में लीन गोपियों को गर्व करना उचित ही है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए नन्ददास जी कहते हैं—

जहँ नदि नीर गँभीर तहाँ भल भँवरी परई।

छिल-छिल सलिल न परै परै तौ छवि नहिं करई ॥ (रासपंचाध्यायी)

प्रकृति के नाना रूपों और व्यापारों से सम्बन्धित अनेक लोकोक्तियाँ और मुहावरे भी नन्ददास के काव्य में मिलते है, जैसे—"प्रकट भानु को छाँडि गहत परछाईं धूपै," "घर आए नाग न पूजैं बाँबी पूजन जाहिं," "कहु आकास किहि टेक" आदि।

नन्ददास ने भ्रमर-गीत की कल्पना का प्रयोग करके अन्योक्ति रूप में भी प्रकृति-चित्रण किया है। भ्रमरगीत के ४८, ५१, ५२ वें छन्दों में भ्रमर को लक्ष्य करके अन्योक्ति कही गई है। 'मेघदूत' की तरह उन्होंने, जैसा कि पीछे दिखा आए हैं, 'विरह मंजरी' में चन्द्र-दूत की कल्पना भी की है।

इस प्रकार नन्ददास का प्रकृति-वर्णन बहुत अनूठा है। विविध प्रकार के प्रकृति-प्रयोग नन्ददास जी ने किए हैं, जो प्राचीन साहित्य में बहुत कम पाए

जाते हैं। नन्ददास की विशेषता सबसे बढ़कर इस बात में है कि उन्होंने रसपूर्ण प्रकृति-चित्र उपस्थित किए हैं, जिनमें उन्होंने भाव, भाषा व रस को प्रकृति के साथ गूंथ दिया है। उन्होंने परम्परागत प्रकृति-चित्रण को एक नया अनूठा रूप दिया है, और साथ ही कहीं-कहीं प्रकृति-प्रयोग में अपनी अपूर्व स्वच्छन्दता भी दिखाई है। नन्ददास कोमल भावों के ही आनन्दवादी, सौन्दर्यवादी कवि हैं, अत: प्रकृति का भी उन के सामने कोमल रूप ही रहा है। प्रकृति के परुष और कठोर दृश्य उनके अनुभव की वस्तु न बने।

रासलीला का रहस्य—नन्ददास की रास-लीलाएँ

कृष्ण-साहित्य में वर्णित रास लीलाएँ आध्यात्मिक भावों को अभिव्यक्त करने वाली अन्योक्तियाँ हैं। लीला का सामान्य अर्थ क्रीड़ा अर्थात खेल है। वैसे साहित्य के अन्तर्गत लीला एक हाव है, जिसमें प्रियानुराग के कारण नायिका अपने प्रिय के अंग-निक्षेप, वेशभूषा, आभूषण, वार्त्तालाप आदि का अनुकरण करती है—

अङ्गैर्वेषैरलंकारैः प्रेमिभिर्वचनैरपि।।
प्रीतिप्रयोजितैर्लीलां प्रियस्यानुकृतिं विदुः ।। (साहित्यदर्पण—३/६०)

धार्मिक भक्ति-भावना में लीला का अर्थ है—ईश्वर की रहस्यपूर्ण क्रीड़ा। व्युत्पत्ति की दृष्टि से लीला का अर्थ है—'ली'—जोड़ना, मिलाना या लीन होना। 'ला' का अर्थ है देना, लेना अर्थात लीन होने को अंगीकार करना। वेदान्त-सूत्र के अनुसार 'लोकस्तु लीला कैवल्यम्' अर्थात यह लोक केवल ईश्वरीय लीला के लिए है। कैवल्य का अर्थ मुक्ति या मोक्ष भी है, अर्थात यह लोक ईश्वरीय लीला और मोक्ष के लिए है। वास्तव में 'लीला' ईश्वर की दृष्टि से एक क्रीड़ा है, विलास है, परन्तु मनुष्य की दृष्टि से मोक्ष का एक साधन है। भक्तों के लिए भगवान् का प्रत्येक क्रियाकलाप लीला है, कृष्ण की रासलीला, दानलीला, माखनचोरी-लीला, गोचारण-लीला, चीरहरण-लीला, गोवर्द्धन-लीला इत्यादि लीलाएँ प्रसिद्ध हैं, और भक्तों के लिए ये परमानन्द की भावभूमि हैं।

कृष्ण की उपर्युक्त सभी लीलाओं में रासलीला का विशेष महत्त्व है। 'रास' के अर्थ हैं—'कोलाहल', 'विलास' तथा 'गानयुक्त गोलाकार नृत्य'। गोल घेरा बांध कर जो नृत्य किया जाता है, और जो विलास, माधुर्य और आनन्द से पूर्ण होता है, उसे ही 'रास' कहते हैं। कुछ लोग 'रास' शब्द का सम्बन्ध 'रहस्' शब्द से भी बताते हैं, जो एकान्त आनन्द का सूचक है।

श्रीधर स्वामी ने भागवत की टीका में 'रास' का परिचय इन शब्दों में दिया है—

"बहु नर्तकियुक्तो नृत्यविशेषो रास:"

अर्थात बहुत सी नर्तकियों-सहित विशेष नृत्य का नाम रास है। श्री चैतन्य सम्प्रदायी जीवगोस्वामी ने 'रास' के सम्बन्ध में कहा है—नट के साथ गले में बाँह डालकर मण्डलाकार होकर नाचना 'रास' है।

श्री बल्लभाचार्य ने भी रसयुक्त नाच को 'रास' कहा है। वे अपनी 'सुबोधनी टीका' में कहते हैं कि भगवान् ने ब्रज में लीलाएँ इस लिए कीं कि मुक्त-जीवों का ब्रह्मानन्द से उद्धार होकर उन्हें भजनानन्द मिले। बल्लभाचार्य जी ने भजनानन्द को ब्रह्मानन्द से भी बड़ा आनन्द अथवा रस बताया है। केवल भगवान् कृष्ण को ही विभाव रूप बनाकर, उनके प्रेम संसर्ग से जो रस उत्पन्न होता है वह ब्रह्म रस या भजनानन्द है। इस प्रकार रसरूप श्री कृष्ण के प्रेम-संसर्ग से जो रससमूह मिले वह 'रास' है। गीताप्रेस गोरखपुर की 'श्री भागवत सुधा-सागर' में रासलीला की व्याख्या इस प्रकार की गई है—" 'रास' शब्द का मूल रस है, और रस स्वयं भगवान् श्री कृष्ण ही है—"रसो वै स:"। जिस दिव्य क्रीड़ा में एक ही रस अनेक रसों के रूप में होकर अनन्त-अनन्त रस का समास्वादन करे; एक रस ही रस-समूह के रूप में प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद्य-आस्वादक, लीला-धाम और विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपन के रूप में क्रीड़ा करे—उसका नाम रास है। भगवान् की यह दिव्यलीला भगवान् के दिव्यधाम में दिव्य रूप से निरन्तर हुआ करती है। यह भगवान् की विशेष कृपा से प्रेमी साधकों के हितार्थ कभी-कभी अपने दिव्य धाम के साथ ही भूमण्डल पर भी अवतीर्ण हुआ करती है, जिसको देख, सुन एवं गाकर तथा स्मरण-चिंतन करके अधिकारी पुरुष रसस्वरूप भगवान् की इस परम रसमयी लीला का आनन्द ले सकें और स्वय भी भगवान् की लीला में सम्मिलित होकर अपने को कृतकृत्य कर सकें। × × × × × × भगवान् का चिदानन्दघन शरीर दिव्य है। वह अजन्मा और अविनाशी है। वह नित्य सनातन शुद्ध भगवत्स्वरूप है।

इसी प्रकार गोपियाँ दिव्य जगत् की भगवान् की स्वरूप-भूता अन्तरंग-शक्तियाँ हैं। इन दोनों का सम्बन्ध भी दिव्य ही है। यह उच्चतम भावराज्य की लीला स्थूल शरीर और स्थूल मन से परे है"[1]।

इस प्रकार रास-लीला की महिमा अनेक व्याख्याकारों ने समझाई है। किसी ने उसे काम पर विजय बताया है, किसी ने भगवान् का दिव्य विहार बतलाया है, और किसी ने इसका आध्यात्मिक अर्थ किया है। भगवान् श्रीकृष्ण आत्मा हैं, आत्माकार-वृत्ति श्रीराधा हैं और शेष आत्माभिमुख वृत्तियाँ गोपियाँ हैं। उनका धाराप्रवाहरूप से निरन्तर आत्मरमण ही रास है।

उपर्युक्त विवरण से कृष्ण की रास-लीला के तीन रूप भी स्पष्ट हो गए होंगे— १. नित्यरास, जो गोलोक अथवा अपने दिव्यधाम में भगवान् अपने आनन्द-विग्रह में अपनी आनन्द-प्रसारिणी शक्तियों के साथ नित्य किया करते हैं। २. अवतरित रास या नैमित्तिक रास, जिसे भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी समस्त आनन्द-शक्तियों के साथ रसरूप में अवतरित हो इस जगत में रचाया। ३. अनुकरणात्मक रास, जिसे कृष्ण भक्त अपनी मानसिक एकाग्रता में अनुभव करते हैं और अभिनय मण्डली बनाकर अनुकरण करते हैं।

नन्ददास आदि अष्ट-कवियों ने कृष्ण की जिस रास-लीला का वर्णन किया है, उससे उनके आध्यात्मिक भावों की पुष्टि होती है। भक्त-जनों का यही विश्वास है कि सच्चिदानन्दमय विषयातीत अलौकिक आनन्दी श्री कृष्ण के साथ उनकी लीलाओं में भाग लेकर रसास्वादन ही जीवात्मा की वास्तविक आनन्द-प्राप्ति है। इस आस्वादन को कोई गोपियों जैसे प्रेम-मार्ग के अनुयायी अधिकारी पुरुष ही प्राप्त कर सकते हैं।

नन्ददास की 'रासपंचाध्यायी' में वर्णित रासलीला प्रकृति और पुरुष अथवा हरि और उसकी माया का आनन्द-नृत्य है। "केन्द्र में माया-पुरुष है और चारों ओर माया-पुरुष का परिभ्रमण है।" जैसे अणु के चारों ओर अणु घूमते हैं, उसी प्रकार सारी सृष्टि हरि रूपी केन्द्र के सब ओर नर्तन करती है।

१. श्री भागवतसुधा-सागर—पृ० ६६७—६६८

यह रासलीला लौकिक दृष्टि से भले ही कामक्रीड़ा प्रतीत हो, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से यह आत्मा-परमात्मा के संयोग की लीला है। वास्तव में यही इस लीला का रहस्य है। दृश्यमान लौकिकता में अलौकिकता ही इस रासलीला का भेद है। इसी कारण यह एक प्रकार की आध्यात्मिक अन्योक्ति है। जैसे भगवान् प्रकट होकर भी अप्रकट और अप्रकट होकर भी प्रकट है, वैसे ही उसकी लीला भी व्यक्त और अव्यक्त दोनों है। यह लीला अद्‌भुत है, पारलौकिक और पवित्र है। पात्र के अनुसार यह लौकिक जनों को भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देती है—

अमल अनूप रूप हरि लीला, स्वाति बिन्दु जल जैसे।
भगवतरसिक विषमता नाहीं, पात्र-भेद गुन तैसे॥

वास्तव में अधिकारी व्यक्ति ही इसका रहस्य समझ सकता है। 'रास पंचाध्यायी' के आरंभ में ही नन्ददास कहते हैं—श्रीमद्भागवत संसार के अज्ञान-अंधकार से ग्रसित लोगों के लिए अद्‌भुत-प्रभावोत्पादक 'बिभाकर' के समान श्री मुनि शुकदेव जी ने प्रकट की है और उसमें भी—

ताहू मैं पुनि अति रहस्य यह पंचाध्याई।
तन मँह जैसे पंच प्रान अस सुक मुनि गाई॥

नन्ददास जी आगे स्पष्ट शब्दों में कहते है कि इस रासलीला को विषयासक्ति से दूर रहने वाले कृष्णासक्त भक्त ही ठीक तरह से समझ सकते हैं। कृष्णासक्त-भक्त ही इसके आनन्द को अच्छी तरह उठा सकते हैं, अन्य लोगों को यह विलास-क्रीड़ा ही प्रतीत होगी। यह रास-लीला शृंगार की कथा नहीं है—

नाहिन कछु सृंगार कथा इहि पंचाध्यायी।
सुन्दर अति निरवृत्त परा तें इती बड़ाई॥
× × × ×
जे पंडित शृंगार ग्रंथ मत यामैं सानैं।
ते कछु भेद न जानैं हरि को विषई मानैं॥ (सिद्धान्तपंचाध्यायी)

नन्ददास ने इस रास-रस की निर्दोषता का स्पष्ट उल्लेख किया है। 'रासपंचाध्यायी' तथा 'सिद्धान्तपंचाध्यायी' दोनों रचनाओं में कवि ने पाठकों को सचेत कर दिया है कि वे इस उज्ज्वल रास-लीला को सावधान होकर समझें। इस रास-वर्णन में आध्यात्मिक संकेत आरंभ से अन्त तक पाए जाते हैं। 'रासपंचाध्यायी' के आरंभ में कवि ने शुकदेव जी की स्तुति की है और 'सिद्धान्तपंचाध्यायी' में स्वयं रासरसिक श्री कृष्ण की। "एक में रासरस लेने वाले अधिकारी भक्त का रूप दिखाया गया है, और दूसरे में स्वयं रस-रूप पूर्ण-पुरुषोत्तम कृष्ण का"। दोनों रचनाओं में नन्ददास ने कृष्ण के स्वरूप का बोध कराया है कि वे परब्रह्म हैं, नारायण हैं। वे नित्यात्मानन्द, सदा एकरस, अखण्ड और घट-घट वासी अन्तर्यामी हैं। यह, सब का मन मोहने वाले, नर नहीं हैं, नित्य रसरूप में रहने वाले ब्रह्म है—

परमातम परब्रह्म सबन के अंतरजामी।
नारायण भगवान् धरम करि सब के स्वामी ॥
बाल कुमार पुगंड धरम आसक्त जु ललित तन।
धरमी नित्य किशोर कान्ह मोहन सब को मन ॥ (रासपंचाध्यायी)

"सिद्धान्तपंचाध्यायी" में कृष्ण के स्वरूप और सांसारिक जीवों से उनके भेद का नन्ददास ने स्पष्ट निरूपण किया है। श्री कृष्ण काल, कर्म और माया के बंधन से परे हैं. जीव उनके अधीन है। जीव पाप-पुण्य, सुख-दुख आदि मे बंधा हुआ है। ससार के बंधनो की धारा में बहे जाते हुए इन्हीं जीवों के हितार्थ करुणामय कृष्ण ने प्रकट होकर रास-लीला रचाई।

यही नहीं, रास की घटना-स्थली वृन्दावन भी साधारण वन नहीं है, वह भगवान् का ही चरम धाम है, वह दिव्य है। वृन्दावन की दिव्यता दिखाते हुए कवि रास-लीला की दिव्यता का भाव ही पाठक के मन में जमाना चाहता है। जो इसके अधिकारी नहीं हैं, उन्हें इसका रहस्य समझ नहीं आ सकता। 'रासपंचाध्यायी' में कवि कहता है—

बिनु अधिकारी भएँ नाहिन वृन्दावन सूझै।
रेनु कहाँ तें सूझै जब लौं वस्तु न बूझै ॥

इसी प्रकार 'सिद्धान्तपंचाध्यायी' में वृन्दावन-धाम की दिव्यता इस प्रकार प्रकट की गई है—

श्री वृन्दावन चिद्घन घन घन घन छबि पावें।
नंद सूनु को नित्य सदन श्रुतिगन जिहि गावें॥

भगवान् के समान ही गोपियाँ भी परमरसमयी और सच्चिदानन्दमयी ही हैं। साधना की दृष्टि से भी उन्होंने न केवल जड़ शरीर का ही त्याग कर दिया है, बल्कि सूक्ष्म शरीर से प्राप्त होने वाले स्वर्ग, कैवल्य से अनुभव होने वाले मोक्ष और सब प्रकार की जड़ता की दृष्टि का ही त्याग कर दिया है। उनकी दृष्टि में केवल चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण हैं। प्राकृत देहादि के धर्मों से वे बिल्कुल अलग होगई हैं। इसी कारण इस दिव्य रास-रस की अधिकारिणी है।

कुछ भक्त लोग इस रास का रूपक इस प्रकार बांधते है कि "माया से मुक्त चित्त वृन्दावन है, जहाँ मन की शुद्धता शरद्-ऋतु की उज्ज्वलता है। रात्रि का समय, चित्त की शांतिपूर्ण स्थिति है, और वंशीनाद शुद्ध अन्तःकरण से उठने वाली वह प्रेरणा है जो अन्तर्यामी भगवान् की ओर खींचती है"। वास्तव में रास-लीला के आध्यात्मिक सकेत स्थान-स्थान पर पाए जाते है। कृष्ण 'परब्रह्म' है, उनकी वेणु नाद-ब्रह्म का प्रतीक है। 'सिद्धान्त पंचाध्यायी' में नन्ददास कहते हैं—

शब्द ब्रह्ममय बेनु बजाय सबै जन मोहे,
सुर नर गन गंधर्व कछु न जानैं हम को हैं॥
परम मधुर मादक सुनाद जिहि ब्रज-जुव मोही।
त्यौं ही धुनि सुनि चलीं छटा सी अतिसय सोही॥

'वेणु' का अर्थ है 'व'+'इ'+अणु अर्थात जिसके समक्ष सारा संसार अणु मात्र है। इसी कारण वेणु में विश्वमोहिनी शक्ति है। 'रासपंचाध्यायी' में भी नन्ददास ने स्पष्ट शब्दों में वंशीनाद के वर्णन को आध्यात्मिक पुट दिया है। वह 'अघटित घटना,' 'चतुर,' 'योगमाया' और 'नाद-ब्रह्म की जननी' है, उसका मोहक प्रभाव अद्भुत है—

तब लीनी कर-कमल जोगमाया सी मुरली ।
अघटित घटना चतुर बहुरि अधरासव जुरली ।।
जाकी धुनि तें अगम निगम प्रगटे बड़ नागर ।
नाद ब्रह्म की जननी मोहनी सब सुख सागर ।।

इस आवाहन को सुनकर गोपिकाएँ अपने काम-धाम, पुत्र-पति, लोक-लाज आदि सब को छोड़कर सावन की नदी की तरह तीव्र वेग से कृष्ण की ओर भाग आती हैं। गोपियों का यह आगमन जीवात्माओं का कृष्ण के प्रति लालायित होना ही है। पवित्र आत्माएँ गोपियाँ कृष्ण के पारमार्थिक रूप और मुरली की आध्यात्मिकता से परिचित थी। वास्तव में वे कृष्ण का अनुग्रह प्राप्त कर चुकीं थीं। भगवान् का प्रेमदान प्राप्त करके वे निस्संकल्प, निश्चिन्त होकर घरके काम-धंधों में लगी हुई थी। कोई गुरुजनों की सेवा-सुश्रूषा आदि धर्मकार्य में लगी हुई थी, कोई गो-दोहन आदि अर्थ के काम में लगी थी, कोई साज-शृंगार आदि काम के साधन में व्यस्त थी, कोई पूजा-पाठ आदि मोक्ष साधना में लगी हुई थी—इस प्रकार सब अपने-अपने काम में लगी हुई थीं, परन्तु वास्तव में वे उनमें से एक भी पदार्थ नहीं चाहती थीं। यही उनकी विशेषता है और इसका प्रमाण यह है कि वंशीध्वनि सुनते ही कर्मो की पूर्णता पर उनका ध्यान नहीं गया। वे चल पड़ीं एकदम बिना सोचे-विचारे, बिना किसी से पूछे-ताछे, अस्त-व्यस्त अवस्था में, जो जैसे थी, वैसे ही श्रीकृष्ण के पास पहुँच गई। 'वे चल पड़ीं उस साधक संयासी के समान, जिसका हृदय वैराग्य की प्रदीप्त ज्वाला से परिपूर्ण है। वैराग्य की पूर्णता और प्रेम की पूर्णता एक ही बात है, दो नहीं। गोपियाँ ब्रज और श्रीकृष्ण के बीच में मूर्तिमान् वैराग्य हे या मूर्तिमान् प्रेम, क्या इसका निर्णय कोई कर सकता है"[1]?

साधना दो प्रकार की होती हैं— १. मर्यादापूर्ण वैध साधना और भक्ति, जैसी तुलसीदास जी मे, तथा २. मर्यादारहित अवैध प्रेमसाधना, जैसी गोपियों की। दोनों के ही अपने अपने स्वतंत्र नियम हैं। वैध साधना में विधि-

१. श्री भागवत सुधासागर—पृ० ६६६

निषेधों का बंधन, सनातन पद्धति और धर्म, नियमों तथा कर्तव्यों का पालन आवश्यक होता है और इनका त्याग साधना से भ्रष्ट करने वाला अत्यन्त हानिकारक होता है, इसके विपरीत अवैध-प्रेमसाधना में इनकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। यह बात नहीं कि इन सब आत्मोन्नति के साधनों को अवैध-प्रेममार्गी जान-बूझ कर त्याग देता है, बल्कि बात यह है कि वह प्रेम का स्तर ही ऐसा है, जहाँ इनकी आवश्यकता नहीं रहती। ये वहाँ अपने-आप ऐसे ही छूट जाते हैं, जैसे नदी के पार पहुँचने पर नौका की सवारी छूट जाती है। ये सब साधन वहीं तक रहते हैं, जहाँ तक जीव की सारी वृत्तियाँ स्वेच्छा से सिमट कर भगवद्-लीन नहीं हो जातीं। गीता मे भगवान्, इसीलिए तो जहाँ लोक-नायक बनकर सर्वसाधारण को कर्म की महत्ता बताते हुए कहते हैं—

> कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
> तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥
> एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
> अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥[1]

अर्थात—कर्म को तू वेद से उत्पन्न हुआ जान और वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। इससे सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है। हे पार्थ! जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार चलाए हुए सृष्टि चक्र के अनुसार व्यवहार नहीं करता, अर्थात शास्त्रानुसार कर्मों को नहीं करता है, वह इन्द्रियों के सुख को भोगने वाला पाप-आयु पुरुष व्यर्थ ही जीता है; वहाँ स्पष्ट ही उन्हों ने सब कर्मों के त्याग का भी उपदेश दिया है—

> सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। (श्रीमद्भगवद्गीता १८/६६)

सब धर्मों को अर्थात सम्पूर्ण कर्मों को त्याग कर केवल एक मुझ सच्चिदानन्द-घन वासुदेव परमात्मा की अनन्य शरण को प्राप्त हो।

गोपियाँ साधना के इसी उच्च शिखर पर पहुँच चुकी थीं। इसी से उन्होंने देह-गेह, पति-पुत्र, लोक-परलोक कर्तव्य-धर्म सब को छोड़कर सबका

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता—अध्याय ३/१५ व १६

उल्लंघन कर, एकमात्र परम-धर्मस्वरूप भगवान श्री कृष्ण को ही पाने के लिए अभिसार किया। उनका यह सर्व-धर्म-त्याग ही उनके स्तरके अनुरूप उनका स्वधर्म है। वे बेरोक-टोक कृष्ण के पास चलीं—

नाद अमृत को पंथ रंगीलो सूछम भारी।
तिहि ब्रज तिय भले चलीं आन कोउ नहि अधिकारी।। (रासपंचाध्यायी)

शुद्ध प्रेम रूपिणी 'पंचभूतन ते न्यारी' गोपिकाएँ ही उस रहस्यमय ध्वनि को समझ सकती थीं। जो गोपिकाएँ इस मुरली के आह्वान पर भी घर के धंधों में फंसी रहीं, वे रास-लीला के अद्भुत आनन्द से वंचित रहने का पश्चात्ताप करती हैं। कवि ने उन्हें साधना में कच्चा बताया है, ऐसी आत्माएँ ब्रह्मनाद को समझती हुई भी पाप-पुण्य तथा देहादि के धर्मों में फंसी रहने के कारण प्रेमरस प्राप्ति में असमर्थ रहीं—

जे रहि गई घर अति अधीर गुनमय सरीर बस।
पुण्य पाप प्रारब्ध संच्यौ तन नहिन पच्यौ रस।।

कुछ गोपियों पर इस आध्यात्मिक आह्वान का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, वे अपने सांसारिक बंधनों में लिप्त रहीं और इस आध्यात्मिक संकेत को बिल्कुल नहीं समझ सकीं। जैसे सूर्य की किरणें मणि और पत्थर सभी का स्पर्श करती हैं किन्तु सूर्यकान्तमणि को छोड़ कर क्या आग पत्थरों में से निकलती है? उसी प्रकार साधारण देहादि के बंधनों में फंसी गोपिकाओं को भगवद-मिलन की प्रेरणा कैसे हो सकती थी?

तरनि-किरन ज्यों मनि पषान सबहीं सो परसै।
सूर्यकांत मनि बिना नहिन कहुँ पावक दरसै।। (रासपंचाध्यायी)

कृष्ण की रास में प्रवेश पाने वाली गोपियाँ उस प्रेम मार्ग पर अपने 'गृह संगम' को छोड़कर उसी प्रकार चलीं जिस प्रकार प्रेम-विहंगम अपने पिंजरों से छूट कर उड़ जाते हैं। सावन की नदी की तीव्र धारा को क्या कोई रोक सकता है?

तेउ पुनि तिहि मग चलीं रंगीली तजि गृह संगम।
जनु पिंजरिन ते उड़े छुटे नव प्रेम विहंगम।।

सावन-सरित न रुकै करै जौ जतन कोऊ अति ।
कृष्ण गहे जिनको मन ते क्यों रुकहिं अगम गति ।। (रासपंचाध्यायी)

परन्तु भगवान तो बड़े लीलामय हैं । उन्हीं की इच्छा से, उन्हीं के प्रेम-निमंत्रण से, उन्हीं की प्रेरणा से गोपियाँ उनके पास आईं, परन्तु उन्होंने विचित्र भावभंगी प्रकट की और वक्र-वचनों से उन्हें उपदेश देने लगे । शायद गोपियों के प्रेम की परीक्षा लेने अथवा उनके हृदय की बात सुनने के लिए ही रसिक-शिरोमणि-कृष्ण ने उन्हें वापिस घर लौटने को कहा । संभव है, वे विप्रलंभ के द्वारा उनके मिलन-भाव को परिपुष्ट करना चाहते हों, क्योंकि—

उज्जल रस कौ यह सुभाव बाँकी छवि छावै ।
बंक चहनि पुनि कहनि बंक अति रसहिं बढ़ावै ।। (रासपंचाध्यायी)

साथ ही, कहीं लोग इसे साधारण बात न समझ लें, इस लिए साधारण लोगों के लिए उपदेश और गोपियों का अधिकार जताने के लिए भी उन्हों ने गोपियों को लोक-धर्म की बात कही । गोपियाँ प्रत्युत्तर में बड़े मार्मिक शब्दों द्वारा अपने आध्यात्मिक अनुराग को प्रकट करती हैं—

नेम धर्म जप तप ये सब कोउ फलहिं बतावैं ।
यह कहुँ नाहिंन सुनी जु फल फिरि धरम सिखावैं ।। (रासपंचाध्यायी)

सब कोई नियम-धर्म, जप-तप आदि किसी शुभ फल के लिए ही बताते हैं, परन्तु यह कहीं नहीं देखा-सुना कि फल ही उलटे धर्म सिखाने लगे, अर्थात तुम हमारे सब धर्म-कर्म के फल हो, फिर हमको धर्म की बात बता रहे हो । गोपियों ने सब धर्मों के धर्म कृष्ण को समझा हुआ था, वे उनके रूप को जानती थीं—

अरु यह तुम्हरौ रूप धरमि के धरमहिं मोहै ।
धर मैं को तिय भरम धरमज्ञहिं आगे को है ।। (रासपंचाध्यायी)

गोपियों के कथन से स्पष्ट है कि वे कृष्ण को अन्तर्यामी, योगेश्वर परमात्मा के रूप में पहचानती थीं, और उन्हें मधुर-भाव से भजती थीं । वे पति-पुत्र, धर-बार आदि देह के सुखों को रोग के समान मानता थीं—

दारगार सुत पति इन करि कह्यो कवन आहि सुख ।
बढ़े रोग सम दिन दिन छिन छिन देहिं महा दुख ।। (सिद्धान्तपंचाध्यायी)

"वियोग ही संयोग का पोषक है" —इस लिए, तथा मान और मद भगवान की लीला में बाधक हैं, इस रहस्य की स्पष्टि के लिए ही भगवान कुछ देर के लिए अन्तर्धान हो जाते हैं। भगवान की दिव्य लीला में मान और मद भी, जो कि दिव्य हैं, इसी लिए होते है कि उनसे लीला में रस की और भी पुष्टि हो। जिनके हृदय में लेश मात्र भी मद है, गर्व और अहंकार है, वे भगवान के सान्निध्य के अधिकारी नहीं। गोपियों को कृष्ण के सम्पर्क का गर्व हो जाता है, इसी गर्व को चूर करने के लिए भगवान छिप गए। लौकिक दृष्टि से कृष्ण के इस प्रकार अन्तर्धान हो जाने और गोपियों के उत्कट विरह-वर्णन को असंगत—"ठाली बैठे का स्वांग" कहा जा सकता है, किन्तु गोपियों का विरह लौकिक विरह नहीं, वह जीवात्मा का विरह परमात्मा से है। इस प्रसंग से यही स्पष्ट होता है कि भगवान कहीं गए नहीं थे, पास ही थे, केवल दर्प से पूर्ण साधक उनका दर्शन नहीं कर सके। वास्तव में नन्ददास आदि कृष्ण भक्तों का मत है कि उत्कट विरह दशा में ही अहंकार की संज्ञा टूटती है।

उपर्युक्त प्रसंग से स्पष्ट है कि कृष्ण-भगवान ने एक परीक्षा गोपियों के सांसारिक विषय-वासना, मोह-ममता से मुक्त होने की और दूसरी उनके अहंकार-नाश की ली। प्रथम परीक्षा में वे खरी उतरीं। कृष्ण के संसर्ग में वे अनंग गोपियाँ काम-रहित बनी रहीं—

लटकि लटकि ब्रज बाला लाला उर जब भूलीं ।
उलटि अनंग अनंग दह्यौ तब सब सुधि भूलीं ।। (सिद्धान्तपंचाध्यायी)

दूसरी दशा में विरह-ज्वाल ने उनके अहं-भाव को जला डाला। वे कृष्ण-गुण-कीर्तन में इतनी लीन हो गई कि उनका "अहं" मिट गया। बल्लभाचार्य ने भी कृष्ण-प्रेम के सम्बन्ध में कहा है कि कृष्ण-संयोग की लालसा जब इतनी उत्कट हो जाय कि प्रत्येक क्षण में विरह-दशा की अवस्था बनी रहे और इस विरह-दशा में पूर्ण आत्म-समर्पण और आत्म-विस्मृति हो

जाय, तभी भगवान मिल सकते हैं। गोपियों की ऐसी दशा होने पर ही कृष्ण प्रकट होते हैं। गोपियों के उस "महा भाव," उस "अलौकिक प्रेमोन्माद" को देखकर कृष्ण भी अन्तर्हित न रह सके। फिर कृष्ण का पूर्ण अनुग्रह होने पर गोपियाँ पुन: रास-क्रीड़ा का शाश्वत आनन्द प्राप्त करती है।

जब कृष्ण लुप्त हो जाते हैं तो उनका पता माया या प्रकृति भी नहीं बता सकती, क्योंकि हरि माया या प्रकृति से परे हैं। यही कारण है कि गोपियों के वृक्ष, लता, पुष्पादि से कृष्ण के बारे में पूछने पर, वे (वृक्षादि) उसका पता देने में असमर्थ रहते हैं। राधा भी जब कृष्ण-वियोग में व्यथित हो जाती है, तो समस्त प्रकृति उसके साथ रोती है—

"क्वासि क्वासि पिय महाबाहु" यों वदति अकेली।
महाविरह की धुनि सुनि रोवत खग द्रुम बेली।। (रासपंचाध्यायी)

इसका कारण यही है कि राधा भगवान की आह्लादकारिणी शक्ति है, अत: चराचर प्रकृति उसके साथ दुखी है। फिर जब गोपियाँ कृष्ण में तन्मय हो जाती हैं, उन की लीलाओं का स्मरण करने लगती हैं, तभी उन्हें कृष्ण मिलते है।

कृष्ण-मिलन में गोपियों की तुरीय-अवस्था की दशा हो गई, जहाँ लौकिक कामनाओं का शमन और सब मनोरथों का अन्त है। उस समय रास-लीला में कृष्ण इस प्रकार शोभित थे जैसे अनेक शक्तियों से युक्त परमात्मा। रास-क्रीड़ा में हरि प्रत्येक गोपी के बिछे हुए वसन पर प्रत्येक के पास विराजमान होते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि जो भगवान योगियों को बड़े कष्ट से प्राप्त होता है, वह गोपांगनाओं के प्रेम-भाव से प्रत्येक गोपी के पास ही स्थित रहता है।

"रास-क्रीड़ा के पश्चात् जल-क्रीड़ा के व्याज से कृष्ण ने गोपियों को रस-स्नान करा कर शुद्ध किया और दिव्य वस्त्र आभूषणों से विभूषित किया। यह गोपियों के दिव्य-रूपा होने की व्यंजना है"[1]। पुष्टि-भक्ति की अभिव्यक्ति

[1] रासपंचाध्यायी और भंवर गीत—सम्पादक डा० सुधीन्द्र—पृ० २४

'रास लीला' के इस प्रसंग से स्थान-स्थान पर होती है। गोपिकाएँ कृष्ण-प्रेम के सम्मुख लोक लाज आदि की मर्यादा को कुछ नहीं समझतीं। उनकी अनन्यता को देखकर स्वयं कृष्ण को कहना पड़ता है—

तुम जु करी सो कोउ न करी हे नवल किसोरी।
लोक वेद की सु ढ़ सिखला तृन सम तोरी।। (रासपंचाध्यायी)

इस रास के रहस्य को भी नन्ददास ने बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। इस रास का विस्तार निस्सीम है। जड़-चेतन सब इससे प्रभावित होते हैं। काल-चक्र भी रास के विस्तार के साथ नहीं चल पाता। इस के रहस्य को समझने के लिए लौकिक बुद्धि असमर्थ है। यह अलौकिक आनन्द को प्रदान करने वाली है। यह आनन्द अद्‌भुत है। इस सुख के लिए मुनि भी तरसते हैं—

अद्‌भुत रस रह्यौ रास गति धुनि सुनि मोहे मुनि।
सिला सलिल ह्वै चली सलिल ह्वै रह्यौ सिला पुनि।।
थकित सरद की रजनी न जनी केतिक बाढ़ी।
बिहरत सजनी स्याम जथा रुचि अति रति बाढ़ी।। (रासपंचाध्यायी)
थके उड़प अरु उडुगन उनको कौन चलावै।
कालचक्र पुनि चकित थकित भयौ (कछु) मरम न पावै।
(सिद्धान्तपंचाध्यायी)

'रासपंचाध्यायी' में कवि रास के आध्यात्मिक भाव को प्रकट करता हुआ उसकी नित्यता का बखान स्पष्ट शब्दों में करता है—

नित्य रास-रसमत्त नित्य गोपीजन-बल्लभ।
नित्य निगम यों कहत नित्य नव तन अति दुर्लभ।

'सिद्धान्त 'चाध्यायी' में रास-रस को कवि ने सब रसों का सार कहा है—

अवधि भूत गुन रूप नाद तर्जन जहं होई।
सब रस कौ निर्त्तास रासरस कहिए सोई।।

कवि इस रासलीला के महात्म्य को भी स्पष्ट शब्दों में बताता है। यह महारस सकल शास्त्र-सिद्धान्त का निचोड़ है, इसके सुनने और गुनने से भगवान वश में हो जाते हैं। जो लोग इस रास रूपी कमल-रस के भ्रमर बन गए, वे सांसारिक विषय-वासनाओं को नीरस और घृणापूर्ण समझ कर त्याग देते हैं —

> सकल शास्त्र सिद्धान्त परम एकान्त महारस।
> जाकै रंचक सुनत गुनत श्री कृष्ण होत बस ॥
> रास सकल मंडल रस के जे भँवर भए हैं।
> नीरस विषय बिलास छिया करि छाँड़ि दए हैं ॥

इस प्रकार नन्ददास की यह रास-लीली रहस्यपूर्ण है। 'रासपंचाध्यायी' में कवि का ध्यान काव्य-रस-संचार की ओर रहा है, और उसमें उन्होंने भागवत के इस प्रसंग को पूर्ण रूप से अपनाया है। 'सिद्धान्तपंचाध्यायी' में रास-वर्णन संक्षिप्त है। संभवत: नन्ददास ने इसकी रचना रास-लीला की व्याख्या तथा उसपर होने वाले आक्षेपों के परिहार के ही लिए की है। जो भगवद्भक्ति का अधिकारी नहीं है, वह भले ही इस रास-लीला को लौकिक अमर्यादित शृंगार समझे, किन्तु इसमें आध्यात्मिक पवित्रता और निश्छलता ही पाई जाती है। गोपियों और कृष्ण के शृंगार-वर्णन द्वारा यह आध्यात्मिक भावों को अभिव्यंजित करने वाला अन्योक्ति-काव्य है, इसमें संदेह नहीं।

'सिद्धान्तपंचाध्यायी' और 'रास-पंचाध्यायी' के अतिरिक्त 'भाषा-दशम-स्कंध' के २९वें अध्याय में भी कृष्ण की [illegible] -लीला का वर्णन है। यह अध्याय, जैसा कि नन्ददास के ग्रंथों की प्रामाणिकता के प्रकरण में दिखाया जा चुका है, संदिग्ध है। सं० १७५७ की प्रति में यह नहीं है। 'नन्ददास ग्रंथावली' में इसे परिशिष्ट-रूप में दिया गया है। हो सकता है, इसमें कुछ अंश प्रक्षिप्त हो, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि रास-लीला के आनन्द में मग्न होने वाले नन्ददास इसे लिखने का मोह संवरण नहीं कर सके होंगे।

रासलीला सम्बन्धी कुछ छुट-पुट पद भी नन्ददास ने लिखे हैं, जिनमें

उनेका निम्न पद बहुत प्रसिद्ध है, जिसे तानसेन ने अकबर को सुनाया था—

देखोरी नागर नट निरतत कालिंदी-तट,
गोपिन के मध्य राजै मुख की लटक।
काछनी किंकनी कटि पीताम्वर की चटक (मटक)
कुंडल-किरन रवि-रथ की अटक॥
तत थेई तत थेई सबद सकल घट,
उरप तिरप मानो पद की पटक।
रास मध्य राधे राधे मुरली में थेई रट,
'नन्ददास' गावै तहाँ निपट निकट॥

———

रासपंचाध्यायी का आधार और नन्ददास की मौलिकता

वैसे तो नन्ददास के समस्त साहित्य ही का आधार मुख्य रूप से भागवत है, तो भी 'रासपंचाध्यायी' तो विशेष रूप से श्रीमद्भागवत पर ही आधारित है। यही इस रचना का मुख्य आधार है। भागवत के दशम् स्कंध अध्याय २९ से ३३ में यह रास-लीला का प्रसंग है। नन्ददास की रासपंचाध्यायी भागवत के इन्हीं पांच अध्यायों का भावानुवाद है। दोनों में मूलकथा एक ही क्रम से चलती है। किन्तु इतना होते हुए भी नन्ददास ने अनेक प्रसंगों और वर्णनों के परिवर्द्धन तथा संक्षिप्तीकरण से अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। उन्होंने यह भावानुवाद स्वच्छन्दता से किया। सब से बड़ी विशेषता यह है कि कवि ने इस रचना को उच्च काव्यमय रूप दिया है, इसी लिए भागवत में जो कई प्रकार का सैद्धान्तिक निरूपण, कृष्ण का गोपियों को उपदेश, गोपियों के काम-धंधों की सूचि आदि काव्यात्मकता में बाधक अनेक वर्णन हैं, उन्हें नन्ददास जी ने या तो छोड़ दिया है, या यों ही संकेत मात्र कर के चलता कर दिया है। इसके विपरीत, जो प्रसंग और वर्णन काव्योत्कर्ष में सहायक प्रतीत हुए, उन को बढ़ा दिया है, तथा अपनी कल्पना-शक्ति और काव्य-प्रतिभा द्वारा अधिक उत्कृष्ट बना दिया है। रास लीला के सैद्धान्तिक पक्ष को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने 'सिद्धान्त-पंचाध्यायी' की अलग रचना की। अतः 'रासपंचाध्यायी' में कवि ने भागवत को आधार बना कर भी अपना उद्देश्य काव्य की रक्षा रखा है। उनकी 'रासपंचाध्यायी' में जो मौलिकता है, उसे हम प्रत्येक अध्याय की भागवत से तुलना करके प्रकट करेंगे।

प्रथम अध्याय में भागवत के २९ वें अध्याय की सामग्री का आधार है। परन्तु भागवत में जहां शुकदेव जी परीक्षित को आरंभ में कृष्ण

की तैयारी और रास-क्रीड़ा करने का संकल्प सुनाते हैं, वहां नन्ददास ने इसका उल्लेख नहीं किया है। नन्ददास जी ने आरंभ में शुकदेव मुनि की अनेक उत्प्रेक्षाओं द्वारा वन्दना की है। शुकदेव मुनि का शिख-नख-वर्णन (नख-शिख नहीं) भी बड़ा कल्पनामय है, जिससे कवि की कवित्व-शक्ति और भक्ति-भावना का अपूर्व परिचय मिलता है। इस शिख-नख-वर्णन की प्रेरणा कवि ने भागवत से ही ली है। किन्तु भागवत में शुकदेव जी का यह वर्णन प्रथम स्कंध के १९वें अध्याय में ही है। उक्त अध्याय के केवल चार श्लोकों (२५—२८) में शुकदेव जी के आगमन पर उन की शोभा का नख-शिख रूप में वर्णन हुआ है। नन्ददास ने शुकदेव जी के सौन्दर्य-वर्णन के साथ अपनी उत्कट भक्ति-भावना जोड़ कर उसे कल्पनामय मनोहर रूप प्रदान किया है, तथा उसे बड़ा काव्यमय बना दिया है। जो उत्प्रेक्षाएँ उन्होंने अंगप्रत्यंग वर्णन में की हैं, वे उनकी मौलिक कवित्व-शक्ति तथा आध्यात्मिक भावना की द्योतक हैं। भागवत में शरद् ऋतु का वर्णन मामूली है, परन्तु नन्ददास ने वृन्दावन-वर्णन और शरद रजनी के वर्णन में अपनी मौलिकता एवं काव्य-प्रतिभा का अद्भुत परिचय दिया है। वृन्दावन के नित्यरूप की अलौकिक शोभा कवि के दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुकूल है और साथ ही उसका साहित्यिक महत्त्व भी है। वृन्दावन का वर्णन भागवत के इस अध्याय में नहीं है। मुरली-नाद को सुनकर जब बालाएँ अपने-अपने घरों को छोड़ कर वन की ओर आईं, तब नन्ददास जी ने केवल उनकी विरह-तीव्रता तथा मिलन-उत्कंठा का ही वर्णन किया है। भागवत की तरह वे किन-किन कार्यों को छोड़ कर आईं, इसकी सूचि नहीं दी। काव्य की दृष्टि से यह अच्छा रहा है। राजा परीक्षित के प्रश्न का समाधान भी संक्षिप्त है। इसके बाद गोपी-कृष्ण-मिलन का वर्णन है, जिसे भागवत में केवल एक ही श्लोक में कह दिया गया है। और भागवत में तब श्री कृष्ण दस श्लोकों में गोपियों को लौट जाने का उपदेश और आदेश देते हैं। नन्ददास जी ने गोपियों के आने पर कृष्ण जी के मुग्ध होने का बड़ा मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है। नन्ददास ने कृष्ण द्वारा केवल एक ही रोला में गोपियों को लौट जाने के आदेश का संकेत कराया है। गोपियों की कातरोक्तियां

नन्ददास की बड़ी मार्मिक हैं। नन्ददास ने अनङ्ग के आगमन, मूर्छित होने तथा रति द्वारा उसके उठा ले जाने का एक मौलिक प्रसंग इस अध्याय में रखा है, जो भागवत में नहीं है। कवि की यह सूझ बड़ी निराली है। 'कुमारसंभव' की तरह कामदेव पर यह विजय सोद्देश्य है। गोपी-कृष्ण द्वारा कामदेव पर विजय के इस प्रसंग से नन्ददास का आशय यह दिखाना है कि गोपी-कृष्ण में लौकिक कामवासना का कोई समावेश नहीं है। इसके अनंतर गोपियों को गर्व होने पर कृष्ण अंतर्धान हो जाते है। यहीं पहला अध्याय समाप्त होता है।

दूसरे अध्याय का समस्त प्रसंग भागवत के ३०वे अध्याय के अनुसार है। गोपियों की विरह-दशा का वर्णन, उनका लता, गुल्म, पुष्प, मृग आदि से कातर होकर कृष्ण का पता पूछना आदि सब भागवत के ही अनुसार है। भागवत में भी यह वर्णन बड़ा काव्यमय है। इस प्रकार वे 'उन्मत्त की नाईं' कृष्ण को ढूंढती-ढूंढती मन-हरन-लाल की लीला करने लगीं और उनमें तन्मय हो गई। नन्ददास ने भागवत की तरह विविध लीलाओं का उल्लेख नहीं किया—काव्य की दृष्टि से यह भी शुभ रहा। इसी समय उन्हें श्री कृष्ण के चरण-चिन्ह दिखाई दिए। वहीं 'प्यारी तिय' (श्री राधा जी) के चरण-चिन्ह तथा वेणी गुहन का आभास मिला। उन चिन्हों का अनुसरण करती हुईं जब वे आगे बढ़ीं तो उन्हें 'प्यारी तिय' भी विलाप करती हुई मिली। इस प्रसंग में नन्ददास ने कृष्ण का अपनी प्रेयसी को लेकर एकांत में छिप जाना और उसके गर्व करने पर उससे भी अन्तर्धान हो जाने का उल्लेख नहीं किया है। 'प्रियतम' के लिए विलाप और चिन्हों द्वारा ही इस प्रसंग का संकेत किया गया है। गोपियाँ उस सखी से मिल कर बहुत प्रसन्न हुईं मानों उन्हें खोई हुई महानिधि का अर्द्धांश मिल गया हो। राधा के सम्बन्ध में यह उक्ति कवि की मौलिक सूझ है, जो उनकी राधा-स्वामिनी के महत्त्व को प्रदर्शित करने के ही लिए आई है। सब गोपियाँ राधा के साथ मिल कर यमुना तट पर आईं।

यहां द्वितीय अध्याय समाप्त होता है। यह अध्याय भागवत से बहुत संक्षिप्त है।

तीसरा अध्याय भागवत के ३१वें अध्याय का संक्षिप्त भावानुवाद ही है। भागवत के इस अध्याय के श्लोक ११,१२,१३,१९ की निम्न सामग्री— 'तुम गौओं को चराने के लिए व्रज से निकलते हो, तब यह सोच कर कि तुम्हारे वे युगल चरण कंकड़, तिनके और कुश-कांटे गड़ जाने से कष्ट पाते होंगे, हमारा मन बेचैन हो जाता है' ।।११।। (नन्ददास ने इसे असंगति अलंकार से उत्कृष्ट बना दिया है) 'तुम्हारे चरण-कमल शरणागत भक्तों की समस्त अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाले हैं।...तुम अपने वे परम कल्पना-स्वरूप चरण-कमल हमारे वक्षःस्थल पर रख कर हृदय की व्यथा शांत कर दो ।।१३।।... तुम्हारे चरण कमल से भी सुकुमार हैं। उन्हें हम अपने कठोर स्तनों पर भी डरते-डरते बहुत धीरे से रखती हैं। उन्हीं चरणों से तुम घोर जंगल में छिपे-छिपे भटक रहे हो, क्या कंकड़-कांटे की चोट से पीड़ा नहीं होती ?'— को ही नन्ददास ने अपने ६,७,८ और १०वें छन्दों में अपनाया है। इस अध्याय में गोपियाँ उन्हीं की लीलाओं का स्मरण और वर्णन करती हुई उनके इस प्रकार अन्तर्धान हो जाने पर उपालंभ देती हैं।

चौथा अध्याय भी भागवत दशम स्कंध ३२वें अध्याय के अनुसार है। जब गोपियाँ प्रेम-सुधानिधि में डूबी हुई थीं, तभी उन्हीं के बीच श्री कृष्ण एकाएक प्रकट हो गए। उन 'ममथ के मनमथ' को पाकर वे बहुत प्रसन्न हुईं। वे कृष्ण को कपटी कहकर अपना दुःख प्रकट करने लगीं। इसपर भगवान ने उनके निस्वार्थ प्रेम की प्रशंसा करके अपने को गोपियों का ऋणी ठहराया। भागवत के २२ वें श्लोक में भी कृष्ण अपने को जन्म-जन्म के लिए ऋणी मानते हैं। "मैं जन्म-जन्म के लिए तुम्हारा ऋणी हूँ। तुम अपने सौम्य स्वभाव से प्रेम से मुझे उऋण कर सकती हो। परन्तु मैं तो तुम्हारा ऋणी ही हूँ।" यह भगवान पर भक्तों की विजय ही है।

पंचम अध्याय में ३३ वें अध्याय की सामग्री है। इसमें रासलीला का वर्णन है। कवि ने इस 'महारस' का विशद और चित्रोपम वर्णन किया है। उनकी काव्य-कला का यहाँ चरमोत्कर्ष पाया जाता है। उनकी भाषा-शैली और उनका जड़ियापन यहां सिद्ध होता है। नन्ददास जी ने नृत्य-गान तथा क्रीड़ाओं का जो सजीव वर्णन किया है, वह कवि की मौलिकता, उर्वरा कल्पना-शक्ति और अद्भुत भाषा-शक्ति का परिचायक है। नन्ददास जी ने भागवत की तरह रासलीला को समाप्त कर प्रातः गोपियों के लौट जाने का उल्लेख नहीं किया। उन्होंने अपनी नित्य और शाश्वत रासलीला को समाप्त ही नहीं किया और होती हुई रासलीला के महत्त्व का वर्णन करते हुए अपनी ही लेखनी को थाम लिया है।

इस प्रकार 'रासपंचाध्यायी' का मूल आधार श्रीमद्भागवत ही है। हरिवंशपुराण के विष्णुपर्व नामक बीसवें अध्याय में भी 'हल्लीस क्रीड़न' के नाम से रास-चित्रण हुआ है। यह प्रसंग बड़ा संक्षिप्त—केवल दस श्लोकों में है। मुरली-वादन का उल्लेख भी नहीं है। डा० रामकुमार वर्मा ने 'रासपंचाध्यायी' का दूसरा आधार 'हरिवंशपुराण' माना है। उनका कथन है - "'रासपंचाध्यायी'' का दूसरा आधार 'हरिवंशपुराण' कहा जा सकता है, क्योंकि उस पुराण के विष्णु-पर्व में उसी रास का वर्णन है, जिसका वर्णन नन्ददास ने अपनी 'पंचाध्यायी' में किया है। पुराण में उसका नाम "हल्लीस-क्रीड़न" दिया गया है। इसी रास के आधार पर 'रासपंचाध्यायी' ग्रंथ 'हरिवंशपुराण' का ऋणी है।"[१] इस सम्बन्ध में हमारा अनुमान यही है कि नन्ददास के सामने 'हरिवंशपुराण' का यह पर्व भले ही रहा हो, किन्तु उन्होंने इससे कुछ लिया है, इसमें संदेह है। उन्होंने भागवत से ही समस्त सामग्री ग्रहण की है। इस बात का उल्लेख उन्होंने 'रासपंचाध्यायी' के आरम्भ में भी किया है —

तिमिर-ग्रसित सब लोक-ओक लखि खित दया कर।
प्रकट कियो अद्भुत-प्रभाउ भागवत-विभाकर॥

ताहू मैं पुनि अति रहस्य यह पंचाध्यायी।
तन महँ जैसे पंच प्रान अस सुक मुनि गाई॥
परम रसिक इक मीत मोहिं तिन आज्ञा दीन्हीं।
तातें मैं यह कथा जथामति भाषा कीन्हीं॥

इस प्रकार 'रासपंचाध्यायी' का मूल-आधार भागवत ही है। हाँ, रास-लीला वर्णन में नन्ददास ने जयदेव के गीत-गोविन्दम् से भी विशेष सहायता ली है। 'गीत-गोविन्दम्' और 'रासपंचाध्यायी' के कथानक में तो बहुत अन्तर है, पर दोनों में भाषा-सौन्दर्य, प्रवाह-गति, माधुर्य और शैली की समानता है। दोनों का माधुर्य एक ही सांचे में ढला हुआ है। वियोगी हरि इसी लिए इसे अपनी 'ब्रज माधुरी-सार' में "हिन्दी का गीत गोविन्द" कहते हैं।

श्रीमद्भागवत पर आधारित होने पर भी नन्ददास की रचना भाषानुवाद मात्र नहीं कही जा सकती। कवि-कल्पना-प्रसूत अनेक नए प्रसंगों का समावेश, सुन्दर उक्तियाँ, विषय-प्रतिपादन का अनूठा ढंग, भाषा-माधुर्य तथा धार्मिक विचार ये सब कवि की मौलिक विशेषताएँ हैं। चौथे अध्याय में कवि ने अपने रोला छन्द की पहली पंक्ति में भागवत की सामग्री अपना कर प्रत्येक दूसरी पंक्ति में जो उत्प्रेक्षाओं की लड़ी सी पिरो दी है, वह नन्ददास जी की ही मौलिक कल्पनाओं द्वारा प्रसूत है। भागवत के ३३ वें अध्याय में राजा परीक्षित ने पुनः शंका की तथा शुकदेव जी ने उसका समाधान किया, पर नन्ददास जी ने इस अंश को अनावश्यक समझकर छोड़ दिया। इस प्रकार नन्ददास को मौलकता की छाप इस रचना में पर्याप्त पाई जाती है।

रासपंचाध्यायी की काव्यगत विशेषताएँ

'रासपंचाध्यायी' नन्ददास की कविता-काकिली का वह पंचम-स्वर है, जिसकी मनोमोहक ध्वनि से समूचा हिन्दी-साहित्योद्यान गुंजरित हो उठा है। उसके भाषा-सौष्ठव, पदलालित्य एवं भाव और रस-माधुर्य ने साहित्य-जिज्ञासा रखने वाले प्रत्येक सहृदय को आकर्षित और आनन्दित किया है। नन्ददास की कविता-वाटिका का 'रासपंचाध्यायी' एक विशेष सौन्दर्य-सुमन है, संदेह नहीं।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, नन्ददास ने भागवत का आधार अपनाकर भी इसे स्वतंत्र-ग्रंथ के रूप में रचा है। आरंभ में शुकदेव जी के शिख-नख-वर्णन के साथ मंगलाचरण लिखने, तथा अंत में—

> यह उज्जल रस-माल कोटि जतनन कै पोई।
> सावधान ह्वै पहिरौ यहि तोरौ जिनि कोई॥
> × × × × ×
> अघहरनी मन-हरनी सुन्दर प्रेम बितरनी।
> 'नन्ददास' के कंठ बसौ नित मंगल-करनी॥

इन पंक्तियों के साथ ग्रंथ समाप्त करने से यह स्पष्ट है कि नन्ददास ने इसे स्वतंत्र खंड-काव्य का रूप दिया है। परन्तु उनकी यह रचना कथा-प्रधान न होकर वर्णन और भाव-प्रधान है। 'कोटि जतनन कै पोई' से यह भी स्पष्ट है कि कवि ने इस रचना को विशेष मनोयोग के साथ रचा है। कृष्ण-लीला की इस कथा के भीतर "कवि की आत्मा की; वह महत्ती आकांक्षा, जो असीम से मिलकर अनन्त रसमग्न होना चाहती है, छिपी हुई है"। रस और भावों का ऐसा कलात्मक प्रयासपूर्ण स्वाभाविक चित्रण साहित्य में विरल ही है।

'रासपंचाध्यायी' प्रेमाभक्ति का उत्कृष्ट काव्य है। प्रणय-प्रधान होने के कारण प्रेमाभक्ति में लौकिक शृंगार का पुट रहता है। परन्तु दृश्यमान् लौकिकता में अदृश्यमान् अलौकिकता इस का विशेष गुण है। 'रासपंचाध्यायी'

इस दृष्टि से ईश्वरोन्मुख प्रेम की उत्तम रचना है। इसमें शृंगार-रस अपनी पूर्ण कलात्मक छटा के साथ अवतरित हुआ है। शृंगार के दोनों पक्षों— संयोग और वियोग—का बड़ी पूर्णता के साथ चित्रण इस रचना में है। रास-प्रसंग के सीमित घेरे में ही नन्ददास ने उन्मत्त संयोग-शृंगार तथा वेदना-विह्वल वियोग-शृंगार का सुन्दर वर्णन किया है। कवि ने आरंभ में शृंगार-रस की पृष्ठभूमि के लिए वातावरण की अनुकूलता का सृजन किया है। अपनी अपूर्व प्राकृतिक सुषमा से वृन्दावन शोभित है। दुग्ध-धवल शरद-पूर्णिमा की मादक रात्रि है। चन्द्रकिरणों के रूप में कामदेव की क्रीड़ा अपनी अरुण मुस्कान बिखेर रही है। यमुना का पुलिन है। वहाँ कृष्ण अपने सुन्दरतम रूप और सुन्दरतम वेश-भूषा में विराजमान् हैं। वे अपने अधरासव में रंगी मुरली की मधुर तान छेड़ ही तो देते है। बस फिर क्या था? ऐसे उद्दीपक वातावरण में गोपियाँ मुरली-ध्वनि को सुनते ही घर-बार छोड़कर सावन-सरित की भाँति अबाध गति से कृष्ण के पास आ पहुँचती हैं। वे रंगीली प्रेम के रंगीले मार्ग पर चल पड़ीं, मानो कोई नया प्रेम-विहंग पिंजड़े से छूट निकला हो—

> तेउ पुनि तिहि मग चलीं रँगीली तजि गृह संगम।
> जनु पिंजरिन ते उड़े छूटे नव प्रेम-बिहंगम ।।

"रासपंचाध्यायी" में नन्ददास की चित्रण-शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। गोपियों के आगमन की प्रतीक्षा मे बैठे कृष्ण का बहुत सुन्दर भाव-चित्र नन्ददास ने प्रस्तुत किया है। गोपियों के पग-नूपुर-नाद को सुनते ही कृष्ण के मन नैन सिमिट कर श्रवणमय हो गए और अंग-अंग दर्शनार्थ सिमिट कर गोपियों के छबीले नेत्रों से मिल गए—

> तिनके नूपुर नाद सुने जब परम सुहाये।
> तब हरि के मन नैन सिमिट सब श्रवननि आये ।।
> झुनक झुनक पुनि छबिलि भाँति सर्व प्रगट भई जब।
> पिय के अग अँग सिमिट मिले छबिलि नैननि तब ।।

बाँकेबिहारी कृष्ण की तो हर बात वक्रतापूर्ण होती है। फिर शृंगार अथवा प्रेम नामक उज्ज्वल रस का तो स्वभाव ही यही है कि बाँकपन से अतिशय शोभा और वृद्धि पाता है—

उज्ज्वल रस को यह सुभाव बांकी छवि छावै।
बंक चहनि पुनि कहनी बंक अपि रसहिं बढ़ावै॥

इसी लिए कृष्ण ने वक्रतापूर्ण-कथन-शैली में लौटने को कहा। कृष्ण के व्यंग भरे वचन सुनकर गोपियों की जो अवस्था हुई, उसका बड़ा ही मनोहर भाव-चित्र नन्ददास ने खींचा है। आश्चर्यचकित गोपियों के भोले-भाले नेत्रों की चंचलता, विनोदमयी आकृति और चेष्टाओं का सजीव चित्रण देखिए—

लाल रसिक के बंक बचन सुनि चकित भईं यौं।
बाल-मृगिन की माल सघन वन भूलि परि ज्यौं॥
मंद परसपर हंसी लसीं तिरछी अँखियाँ अस।
रूप उदधि उतराति रंगीली मीन पाँति जस॥

भाव और भाषा का कैसा सुन्दर सुयोग है!

कृष्ण की उपेक्षा-भरी मुद्रा पर गोपियों की चिंता, अधीरता, अनुनय-विनय, व्याकुलता और प्रलाप के बहुत सुन्दर भाव-चित्र एवं स्तंभ, वैवर्ण, स्वर-भंग आदि सात्त्विक अनुभाव कवि की कुशल लेखनी द्वारा प्रसूत हुए हैं।

गोपियों के दृढ़-प्रेम की आँच से कृष्ण का हृदय द्रवित हो जाता है। तब नवयुवा-कृष्ण वृन्दा-विपिन में गोपियों के साथ विहार करने लगे। यमुना के पुलिनपर भ्रमर-गुंजरित, सुवासित और मनोहर कुंजों में उनके विचरण करने की छटा का क्या कहना!—

कुंजनि कुंजनि डोलनि मनु घन तें घन आवनि।
लोचन तृषित चकोरन के चित्त चोप बढ़ावनि॥
सुभग सरित के तीर धीर बलबीर गए तहाँ।
कोमल मलयसमीर छबिन की महा भीर जहाँ॥
कुसुम धूरि धूंधरि कुंज छवि पुंजनि छाई।
गुंजत मंजु अलिंद बेनु जनु बजति सुहाई॥

कृष्ण के अन्तर्धान होने पर वियोग श्रृंगार का विस्तृत निरूपण है। आलोचकों ने गोपियों की इस प्रकार की विरह-वेदना को काव्य की दृष्टि से अनुपयुक्त ठहराया है। सूर-काव्य की समीक्षा के प्रसंग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि –"परिस्थिति की गंभीरता के अभाव से गोपियों के वियोग में भी वह गंभीरता नहीं दिखाई पड़ती जो सीता के वियोग में है। उनका वियोग खाली बैठे का काम सा दिखाई पड़ता है। सूर का वियोग-वर्णन वियोग वर्णन के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं। कृष्ण गोपियों के साथ क्रीड़ा करते-करते किसी कुंज या झाड़ी में जा छिपते हैं, या यों कहिए कि थोड़ी देर के लिए अन्तर्द्धान हो जाते हैं। बस गोपियाँ मूर्च्छित होकर गिर पड़ती हैं। पूर्ण वियोग-दशा उन्हें आ घेरती है। यदि परिस्थिति का विचार करें तो ऐसा विरह-वर्णन असंगत प्रतीत होगा।"[1] इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन यही है कि प्रथम तो कृष्ण की इन लीलाओं का इन कृष्ण-भक्त कवियों के लिए अलौकिक महत्त्व ही रहा है। शुक्ल जी उनकी भक्ति का यह पहलू नहीं देख सके। जीवात्मा अपने अंशी परमात्मा में लीन होने के लिए छटपटाता रहता है। दूसरे, प्रेम का भाव एक ऐसा उन्मादकारी भाव होता है, जिस में अपरिमित असंतोष और लालसा भरी रहती है। प्रिय का क्षण भर का वियोग भी असह्य हो जाता है। फिर भोली-भाली गोपियों के उन्मादकारी प्रेम ने उन्हें कृष्ण के ओझल हो जाने पर व्याकुल बना दिया, तो इसमें अस्वाभाविकता की क्या बात है? जिन्हें अपने प्रिय से क्षण भर का विछोह भी कोटियुग के समान खलने वाला है, उनकी विरह-वेदना काव्य की दृष्टि से अनुपयुक्त कैसे कही जा सकती है? नन्ददास स्वयं इसका समाधान इन पंक्तियों में करते हैं—

> जिन के नैन निमेष ओट कोटिक जुग जाहीं।
> तिनके गृह बन कुंज ओट दुख अगनित आहीं॥
>
> (रासपंचाध्यायी, अध्याय २/३)

---

१. भ्रमरगीतसार, रामचन्द्र शुक्ल पृ० ७

गोपियों की प्रेम-परीक्षा पहले कृष्ण ने उन्हें घर जाने का उपदेश देकर ली थी, अब कुछ देर के लिए अन्तर्धान होना उनकी दूसरी प्रेम-परीक्षा थी। इस अवसर पर गोपियों की विरह-दशा का जो संक्षिप्त वर्णन नन्ददास ने किया है, वह उनके धार्मिक सिद्धान्तों एवं भक्ति-भावना के प्रतिपादन में जितना सहायक हुआ है उतना ही शृंगार-रस के मार्मिक-निरूपण की दृष्टि से उसका महत्त्व है। वियोग की सभी दशाओं और संचारियों आदि का शास्त्रीय एवं भावुकतापूर्ण चित्रण नन्ददास ने किया है। गिरधर प्रियतम के बिना गोपियों की दशा कुछ से कुछ हो गई। वे उन्मत्त-सी हो उठीं, उन्हें जड़-चेतन का भी ज्ञान-ध्यान नहीं रहा। बन के पेड़-लता-पुष्प आदि से वे व्याकुल होकर कृष्ण का पता पूछने लगीं—

हे मालति ! हे जाति ! जूथिके ! सुनियत दै चित्त।
मान-हरन मन-हरन गिरधरन लाल लखे इत॥
× × × ×
बुझहु री इन लतनि फूलि रहीं फूलनि सोहीं।
सुन्दर पिय कर परस बिना अस फूल न होहीं॥
हे अवनी ! नवनीत-चोर चित्त-चोर हमारे।
राखे कितहिं दुराइ बतावहु प्रान पियारे॥

वे कृष्ण को उपालंभ देने लगती है, उसकी लीलाओं का स्मरण करके और भी व्यथित होती हैं। विवशता-जन्य कैसा मीठा उपालंभ इन पंक्तियों में पाया जाता है। गोपियाँ कहती हैं कि यदि हमें इस प्रकार दुख की ज्वाला में जलाना था तो हे प्रिय ! तुमने हमें विष, अनल और चपला की ज्वाला से क्यों बचाया था—

विष तें जल तें व्याल अनल तें चपला झर तें
क्यूों राखी, नहिं मरन दई नागर, नगधर तें।

स्मृति-जन्य प्रेम की पीड़ा का एक और उदाहरण देखिए—

जब पसु चारन चलत चरन कोमल धरि बन मैं।
सिल त्रिन कंटक अटकत कसकत हमरे मन मैं॥

असंगति अलंकार के द्वारा भावोत्कर्ष कितना हो गया है !

इस प्रकार प्रेम-समुद्र में विरह की वेदना के थपेड़ों से गोपियों की भाव-लहरियाँ व्याकुल थीं। तब थोड़ी देर में कृष्ण प्रकट होते हैं। प्रिय को देखकर गोपियाँ एकाएक हर्षातिरेक से इस प्रकार चंचल हो उठीं, जैसे शरीर में प्राण आ जाने पर मृत पड़े अंग पुनः चंचल हो उठते हैं—

पियहिं निरखि तियवृन्द उठीं सब इकै बार यौं।
परि घट आए प्रान बहुरि उभकत इन्द्री ज्यौं ॥

इस महामिलन के बाद रास-क्रीड़ा का बहुत ही सजीव और सुन्दर चित्रण नन्ददास ने किया है। रास लीला के वर्णन में तो कवि ने अपनी अपूर्व कल्पना-शक्ति, भाषा और चित्र-शक्ति एवं रसिकता, भावुकता का अद्भुत परिचय दिया है। रास-नृत्य का संपूर्ण दृश्य आँखों के आगे नाचने लगता है और पद-गति तथा वाद्य-यंत्रों की मधुर ध्वनि कानों में गूंजने लगती है। अत्यन्त मनोहर उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं से कवि ने समा बांध दिया है। कुछ पंक्तियों का रसास्वादन कीजिए—

नव मर्कत-मनि श्याम कनक-मनिगन ब्रज बाला।
वृन्दावन को रीझि मनहुँ पहराई माला ॥
नूपुर कंकन किंकिनी करतल मंजुल मुरली।
ताल मृदंग उपंग चंग एकै सुर जुरली ॥
मृदुल मुरज टंकार तार झंकार मिली धुनि।
मधुर जंत्र की सार भँवर गुंजार रली पुनि ॥
तैसिय मृदु पद पटकनि चटकनि कठतारन की।
लटकनि मटकनि झलकनि कल कुण्डल हारन की ॥
साँवरे पिय संग निरतत चंचल ब्रज की बाला।
मनु घन-मण्डल खेलत मंजुल चपला माला ॥

इस अद्भुत रास का क्या कहना ? उसकी गीत-ध्वनि सुनकर ज्ञानी-मुनि भी मोहित हो गए; जड़ शिला द्रवित हो उठी; निरन्तर बहने वाला पवन उसके सम्मोहन से थक गया। इसी प्रकार सौरमण्डल भी स्तब्ध होकर

उसका अवलोकन करने लगा। इसके प्रभाव का वर्णन करने में कवि अपने को असमर्थ पाता है, और उससे यही कहते बनता है कि "नैननि के नहिं बैन बैन के नहिन नैन तब"।

शृंगार-रस के इस प्रकार के सहज, पुनीत और मर्मस्पर्शी चित्रण तथा भाव-भक्ति एवं आध्यात्मिकता की विशेषता के अतिरिक्त 'रासपंचाध्यायी' की एक बहुत बड़ी विशेषता उसकी चित्रमयी, मर्मस्पर्शी, कलात्मक, मधुर एवं कवित्वमयी उत्कृष्ट भाषा-शैली है। भाव और भाषा का जैसा सुन्दर संगम 'रासपंचाध्यायी' में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। माधुर्य की दृष्टि से यह सर्वश्रेष्ठ रचना है। नन्ददास ने भाव और शैली दोनों में संस्कृत के "गीतगोविन्द" का अनुकरण किया है। माधुर्य की झंकार उपर्युक्त पंक्तियों में द्रष्टव्य है।

नन्ददास की भाषा-शैली का सबसे बड़ा गुण है अनूठा शब्द-चयन। वे ऐसे उपयुक्त शब्दों का चयन करते हैं जो सर्वथा भाव-व्यंजक होते हैं—

इत महकत मालती चारु चम्पक चितचोरत।
उत घनसार तुसार मिली मन्दार झकोरत॥

इन पंक्तियों में प्रत्येक शब्द कितना उपयुक्त है। किसी शब्द को भी उल्टा पलटा नहीं जा सकता और न ही किसी शब्द का पर्यायवाची अन्य शब्द उसके स्थान पर रखा जा सकता है। प्रत्येक शब्द भाव-व्यंजक है। नन्ददास के शब्द-चयन की यही विशेषता है। प्रत्येक स्थान पर उनका शब्द-चयन संगीतात्मक ध्वनि प्रस्तुत करता है, अनुप्रास के कारण समस्त पदावली में एकरूपता तथा माधुर्य का संचार करता है, पद में भाषा का बड़ा ही स्वाभाविक प्रवाह और सरसता लाता है। उनके शब्द स्वाभाविक अलंकारों से सजे होते हैं। इस रचना में कवि ने कलात्मकता का विशेष आग्रह दिखाया है। किन्तु कहीं भी अलंकरण के मोह में सौन्दर्य पर कुठाराघात नहीं किया।

"नन्ददास जड़िया" की सार्थकता जितनी 'रासपंचाध्यायी' से सिद्ध होती है, उतनी उनकी किसी अन्य रचना से नहीं। भाषा-शैली प्रकरण में हमने नन्ददास की इस विशेषता को 'रासपंचाध्यायी' से उदहारण देकर

अच्छी तरह दिखाया है। इस रचना में प्रत्येक शब्द यथास्थान इस प्रकार सजा हुआ है मानो किसी ने रत्नों को जड़ दिया हो। "नन्ददास की रचना में अनुप्रास इस तरह स्वाभाविक रीति से चला आता है, मानो इनके शब्द-भण्डार में अनुप्रासयुक्त शब्दों के अतिरिक्त और कोई शब्द ही नहीं था।"

'रासपचाध्यायी' में कवि ने रोला छन्द का बड़ा ही सफल प्रयोग किया है। भाव, भाषा, छन्द और स्वर में एकरूपता का ऐसा उदाहरण अन्यत्र मिलना कठिन है। 'रासपंचाध्यायी' से नन्ददास का भाषा और छन्द पर अनुपम अधिकार सहज सिद्ध होता है। निस्संदेह 'रास-पंचाध्यायी' नन्ददास जी की कलात्मक प्रवृत्ति का सफल काव्य है। वह ब्रज-भाषा-काव्य का नगीना है, और रसिक-जनों का कण्ठहार है। उसकी आध्यात्मिक, भावगत एवं भाषागत विशेषताएँ अपूर्व हैं।

इस रचना में प्रकृति-चित्रण की भी विशेषता है। कवि ने रासलीला की पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति का मनोमोहक चित्रण किया है। नन्ददास ने प्रकृति का साम्प्रदायिक सिद्धान्तानुकूल जो चित्रण किया है, वह भी इस रचना में सर्वाधिक है। वृन्दावन चिद्‌घन भगवान् कृष्ण का नित्य-धाम है किन्तु कृष्णलीला के काज ही उसने जड़ताई धारण की हुई है। इसके खग-मृग, कुंज-लता, वीरुध, तृण आदि पर काल और गुण का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। यहाँ सभी जीव-जंतु काम-क्रोधादि से रहित हैं और सब अविरुद्ध भाव रखते हैं, शेर-हिरण एक घाट पानी पीते तथा एक साथ चरते है। यह हरि का विहार-वन है। यह दिव्य है। यहां सदा बसंत छाया रहता है। इस वन की समस्त भूमि चिंतामणि के समान तथा प्रत्येक वृक्ष कल्पतरु के समान बाँछित फल देने वाला है। उनके बीच में एक कल्पतरु जगमगाता है, जिसके पुष्प-पत्रादि हीरे, मोति के है। इससे, रास-रसिक कृष्ण का श्रम-परिहार करने के लिए, नित्य ही अमृत फुहार गिरती रहती है। उस वृक्ष के शाखा, फल-फूल, दलादि कृष्ण-प्रतिबिम्ब से शोभित है इस। प्रकार 'श्री वृन्दावन-वर्णन' के १६ छन्दों में कवि ने अपने

साम्प्रदायिक सिद्धान्त और भक्ति-भावना के अनुसार ही प्रकृति का प्रयोग किया है। इतना ही नहीं, कवि ने समस्त प्रकृति को कृष्ण की रास-लीला-रस में मग्न और उससे प्रभावित दिखाया हैं। रवि, चन्द्र, सलिल, शिला, पवन आदि सब मोहित और प्रभावित हैं। रास-लीला का प्रभाव अद्भुत है। इससे यह स्पष्ट होता है कि समस्त प्रकृति या माया कृष्ण की इच्छानुवर्तिनी है।

रसमंजरी और रीति-काव्य-परम्परा

नन्ददास के काव्य का महत्त्व इस बात में भी है कि उसमें हम रीति-काव्य की परम्परा पूर्ण रूप से पाते हैं। वास्तव में हिन्दी साहित्य में रीतिकाल की पृष्ठभूमि के निर्माण में कृपाराम, सूरदास, रहीम, केशवदास आदि कवियों के साथ-साथ नन्ददास का भी बहुत महत्त्व है। उनकी 'रूपमंजरी' रचना में लौकिक शृंगार-रस व अलौकिक भक्ति-भाव को एक सूत्र में बाँधने का जो प्रयास है, उसमें हमें शृंगार रस का शास्त्रीय आधार मिलता है। कृष्ण-काव्य में शृंगार की स्पष्ट स्वीकारोक्ति इतनी सुन्दर किसी अन्य कवि में नहीं मिलती। 'रसमंजरी' के आरंभ में वे कहते हैं—"हे प्रभु, संसार में जो कुछ रस-भाव है, उसके एकमात्र तुमही आधार हो। जिस प्रकार अनेक सरिताओं की धाराएँ समुद्र में ही समाती हैं; जिस प्रकार बादल समुद्र से ही जल-कण ग्रहण करके वसुंधरा पर बरस पड़ता है और वही जल फिर सागर में समा जाता है; जिस प्रकार एक अग्नि से ही अनेक दीपक जलते हैं और फिर उसी में समा जाते हैं, उसी प्रकार जो भी भाव, रूप, और प्रेमरस संसार में है, जो भी कवि लोगों द्वार वर्णित होता है, वह सब आप से आया है, आपका ही है और आप में ही अवसान पायगा। कवि इसी से निर्भय होकर रस-वर्णन करता है—

रूप प्रेम आनन्दरस जो कुछ जग में आहि।
सो सब गिरधर देव कौ, निधरक बरनौं ताहि ॥

नन्ददास ने 'रसो वै सः' की ही पुष्टि उपर्युक्त पंक्तियों में की है। गो० विट्ठलनाथ जी ने भी 'शृंगार-रस-मंडन' में शृंगाररस को भक्ति-भाव और धार्मिक साधना का सहायक सिद्ध किया है। उसी का समर्थन नन्ददास की रचनाओं में पाया जाता है।

संभवत: नन्ददास ने यह अनुभव किया कि शास्त्रीय रस-निरूपण का भी एक ग्रंथ होना चाहिए और इसी लिए 'रसमंजरी' के आरंभ मे लिखा मिलता है—

> एक मीत हमसो अस गुन्यो । मैं नाइका-भेद नही सुन्यो ।
> अरु जु भेद नाइक के गुने । ते हू मैं नीके नहि सुने ।।
> हाव भाव हेलादिक जिते । रति समेत समभावहु तिते ।
> जब लग इनके भेद न जानै । तब लग प्रेम न तत्व पिछानै ।।

इस प्रकार नन्ददास नायक-नायिका-भेद का निरूपण मित्र के बहाने से प्रेम-तत्व को ही स्पष्ट करने के लिए करते हैं। उन्होने सभी रसो को विशेष कर शृंगार रस को भगवानोन्मुख माना है।

'रसमंजरी' पर लिखते हुए श्री उमाशंकर शुक्ल ने कहा है कि 'रसमंजरी' कदाचित् भाषा-साहित्य मे नायिका-भेद का पहला ग्रथ है। श्री उमाशकर शुक्ल की यह बात आंशिक रूप में ही सत्य है। नन्ददास ने भानुदत्त की 'रसमंजरी' के आधार पर अपनी रचना की है। नन्ददास से पूर्व सवत् १५९८ में कृपाराम ने "हिततिरंगिणी" की रचना की थी। "हिततिरंगणी" ही, आज तक की खोज के आधार पर, हिन्दी-रीति-काव्य का प्रथम ग्रंथ माना जाता है। इसके पश्चात् मोहनलाल मिश्र का "शृंगार-सागर" भी नन्ददास से पूर्व की रचना है। करनेश वंदीजन, बलभद्र मिश्र, आचार्य केशव आदि प्राय: नन्ददास के समकालीन थे। रहीम की "बरवै-नायिकाभदे" नन्ददास के बाद की रचना है। इस प्रकार कृपाराम की "हिततिरंगणी" ही वास्तव में नायिकाभेद की प्रथम रचना है। नन्ददास की "रसमजरी" की महत्ता इस बात मे है कि यह रचना लक्षण रूप में की गई है।

नन्ददास की विवेचन-शैली संक्षिप्त व कवित्व-पूर्ण है। इन्होने नायिकाओं के लक्षण मात्र लिखे है, किन्तु उनके लिखने की शैली ऐसी अद्भुत है कि उनमें लक्षण और उदाहारण दोनों का समावेश हो जाता है। परवर्ती कवियों ने नायिकाभेद को और भी अधिक शास्त्रीय रूप दिया किन्तु नन्ददास

जैसी सरस व कवित्व-पूर्ण शैली बाद के कम ही कवियों की है। शास्त्रीय-गाभीर्य भले ही इसमे न हो, सरसता मे कमी नही है।

नन्ददास की इस रचना का आधार भानुदत्त की "रसमजरी" ही प्रतीत होनी है। स्वय कवि नायिका-भेद वर्णन मे उसका अनुसरण स्वीकार करता है—

> रस मंजरी अनुसार कै, 'नंद' सुमति अनुसार।
> बरनत बनिता-भेद जहँ, प्रेम सार बिस्तार ॥२४॥

इस रचना मे नायिका-नायक-भेद, हाव, भाव, हेला, रति आदि का अत्यन्त सक्षिप्त वर्णन हुआ है। कवि नायिका-भेद को ही कुछ विस्तार के साथ पहले कहता है। नन्ददास ने नायिकाओ के पहले स्वकीया, परकीया और सामान्या—ये तीन भेद किए है। फिर प्रत्येक के मुग्धा, मध्या और प्रौढा ये तीन तीन प्रकार बताये है। 'मुग्धा हूँ पुनि द्वै बिधि गनी'—मुग्धा के मुग्धा नवोढ़ा और विश्रब्ध नवोढा दो भेद किए है। फिर इन दोनों के भी ज्ञात-यौवना और अज्ञात यौवना दो दो भेद और दिए है। मध्या और प्रौढा के धीरा, अधीरा, धीराधीरा तीन तीन भेद किए है। फिर मुग्धा, मध्या और प्रौढा के प्रोषितपतिका, खडिता, कलहातरिता, उत्कठिता, विप्रलब्धा, वासक-सज्जा, अभिसारिका, स्वाधीन बल्लभा और प्रीतमगवनी ये नौ नौ रूप और गिनाए हैं। परकीया के मुग्धा, मध्या, प्रौढा तीनो के तीन तीन भेद—सुरति-गोपना, वाग्विदग्धा और लक्षिता किए है। उनके इस नायिका-भेद को निम्न वृक्ष से भली प्रकार समझा जा सकता है—
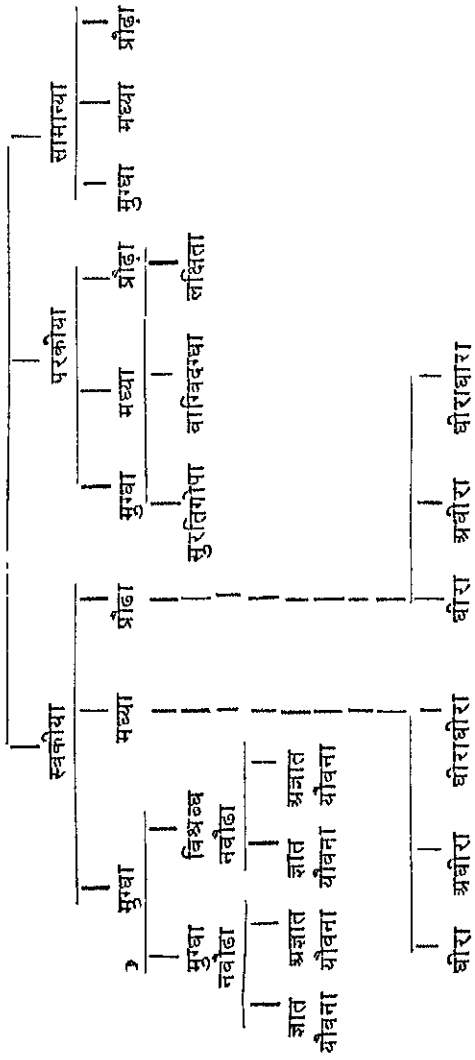
नायिका-भेद
स्वकीया
परकीया
सामान्या
मुग्धा
मध्या
प्रौढ़ा
मुग्धा नवोढा
विश्रब्ध नवोढा
ज्ञात यौवना
अज्ञात यौवना
ज्ञात यौवना
अज्ञात यौवना
धीरा
अधीरा
धीराधीरा
धीरा
अधीरा
धीराधीरा
मुग्धा
मध्या
प्रौढ़ा
सुरतिगोपा
वाग्विदग्धा
लक्षिता
मुग्धा
मध्या
प्रौढ़ा
प्रोषित-पतिका
खंडिता
कलहां-तरिता
उत्कंठिता
विप्रलब्धा
वासक-सज्जा
अभिसारिका
स्वाधीन वल्लभा
प्रेम गर्विता

नन्ददास ने प्रत्येक भेदोपभेद के लक्षण साथ साथ दिए हैं। उनकी शैली पर्याप्त रोचक है। लक्षण और उदाहरण दोनों एक साथ किस प्रकार दिए गए हैं, यह कुछ निम्न उदाहरणों से देखिए—

प्रौढ़ा धीराधीरा

सागस जानि रसीले लाला। कोमल मान गहै बर बाला॥
प्रेम भरे सुनि बचन पिया के। हँसहि कपोल सलोल तिया के॥
राते दृग रिस रस सो भोये। मानहुँ मीन महावर धोये॥
कछु मन दिढ़ कछु अदिढ लहीये। प्रौढा धीराधीरा कहिये॥

मंजारी की दुष्टता का बहाना बना कर परकीया का सुरतिगोपना रूप देखिए, कैसा स्पष्ट है—

सखि सो कह सखि उहि गृह अतर। अब ते हौं सोऊँ न सुतलर॥
सासु लरौ मैया किन लरौ। भैया जी भावै सो करौ॥
आँपु धरन हित दुष्ट मँजारी। मो परि उचरि परि दइमारी॥
दै गई तीखन नख दुखदाई। कासौं कहो दरद सो माई॥
इहि छल छलनि छिपावै जोई। परकिय सुरतगोपना सोई॥

इसी प्रकार परकीया वाग्विदग्धा का विदग्धतापूर्ण स्पष्टीकरण देखिए, किस प्रकार नायिका पथिक के बहाने सयोग-आनन्द के लिए ग्रीष्म ऋतु में प्रिय का आह्वान करती है—

अहो पथिक अति बरसत घाँमा। रचक कहूँ करौ विश्रामा॥
इहँ ते निकट कलिंदी तीर। सीतल मद सुगध समीर॥
गहबर तरु तमाल है तहाँ। प्रफुल्लित बल्लि मल्लिका जहाँ॥
छिनक छाँह लीजै रस पीजै। बहुर्‌यो उहि मारग मन दीजै॥
पियहिं सुनाय पथिक सो कहै। वाक् विदग्धा परकिय सो है॥

परकीया कलहातरिता का भी उदाहरण देखिए। नायिका अपने मन में प्रिय के अनादर करने का किस प्रकार पश्चात्ताप प्रकट कर रही है

जाके लिए पतिन मै पेपे। गरुए गुर हरुए करि देपे॥
धीरज धन मै दीन्ह लुटाई। नीति सहचरी सो बिरराई॥

लाज तिनक जिमि तोरि ही दीनी । सरिता-बारि बुंद सरि कीनी ।
मुग्धिय आज मैं अति अवमाने । सखि अब विधि बिकूल पै जानै ।
इहि बिधि बिलपति प्रलपति लहिये । सा कलहतरपरकिय कहिये ।
रसहूँ लगि कल कंत सों, कलह न कीजै काउ ।
का नहि जो अनौ करै, सो सोनौ जरि जाउ ॥१७१॥

प्रौढा उत्कंठिता नायिका का उदाहरण ही प्रस्तुत किया गया है। उसकी उत्कंठा देखिए, किस प्रकार प्रियतम कृष्ण के न आने पर जड प्रकृति से भी सहानुभूति चाहती है—

प्रीतम अन आये जब लहै । ठाढी कुंज-सदन मैं कहै ॥
अहो निकुंज, भ्रात इत सुनि धौ । हे सखि जूथि-बहन मन गुनि धौ ॥
हे निसि मात, तात अंधियारे । पूछति हा तुम हितू हमारे ॥
हो तमाल, हो बधु रसाला । क्यौं नहिं आए मोहन लाला ॥
ऐसे बिलपति प्रलपति लहिये । प्रौढा उत्कंठिता सो कहिए ॥

परकीया विप्रलब्धा धैर्य रूपी अहि को पाँव से कुचलती हुई, लज्जा की तरल तरंगिनी को चीरती, अंधकार रूपी महागज को धकेलती तथा पति-त्रास रूपी नाहर को पाँवों से पेलती हुई पिय-मिलन के लिए कुंज-सदन में आती है, परन्तु प्रिय को वहाँ न पाकर चिंतित होती है। कैसा रोचक लक्षण-उदाहरण है—

धीरज-अहि कै सिर पग धरै । लज्जा तरल तरंगिनी तरै ॥
तिमिर-महागज हाथनि ठेलै । पति-डर-नाहर पाइन पेलै ॥
इहि विधि कुंज-सदन चलि आवै । तहँ मनमोहन पियहि न पावै ॥
लता कर धरै चिंता करै । साँस भरै लोचन जल भरै ॥
इहि परकार परखिये तिया । सु है विप्रलब्धा परकीया ॥

प्रिय-समागम की तैयारी में मुग्धा वासकसज्जा का सलज्ज हृदयोल्लास देखिए—

छिपी हार गूंथै छबि पावै । छल करि कटि किंकिनी बनावै ।
दीपहि बारि सदन मैं धरै । तिन महि तेल अधिक नहिं करै ।

सखि कहुँ सेज बिछावती लहै। घूंघट पट में मुसकै चहै।
छिन-छिन प्रीतम को मग जोहै। मुग्धा वासकसज्जा सोहै।

इसी प्रकार मुग्धा प्रीतमगमनी (प्रवत्स्यत्पतिका) का भी कवि ने सुन्दर वर्णन किया है—

गवन बात पिय की जब सुनै। सुनतहि मन मैं घुन ज्यौ धुनै॥
ताकी सखी ग्रुपत भई डोलै। कुंजनि कल कोकिल ह्वै बोलै॥
रूप लता सी मुरझत लहिए। मुग्धा प्रीतमगवनी कहिए॥

प्रीतमगमनी चाहती है कि किसी प्रकार प्रिय-गमन की 'कल' ही न आए --

चलन कहत है काल्हि पिय, का करिहौ मेरी आलि।
बिधना ऐसो करि कछू, जैसे होय न काल्हि॥३०३॥

नन्ददास के उपर्युक्त नायिका-भेद का शास्त्रीय महत्त्व इतना नहीं, जितना ऐतिहासिक। उनके मध्या और प्रौढा के कई लक्षण-उदाहरणो मे अन्तर स्पष्ट नही होता। उनके नायिका-भेद का क्रम भी प्रचलित क्रम से कुछ भिन्न है। उन्हाने नायिकाओ के तीनो भेद—स्वकीया, परकीया व सामान्या मे मुग्धा, मध्या और प्रौढा उपभेदों को लिखा है जबकि अन्य प्रसिद्ध कवियो ने पिछले तीनो उपभेदो को केवल स्वकीया के अन्तर्गत ही माना है। नन्ददास ने मुग्धा के नवोढ़ा व विश्रब्ध-नवोढा दो भेदो को लेकर फिर *अज्ञातयौवना व ज्ञातयौवना दो अन्य भेदो को लिखा है। नायिका-भेद के* अन्य परवर्ती आचार्यों ने मुग्धा नायिका को स्वकीया के अन्तर्गत न लिख कर तीनो नायिकाओ मे वय-क्रम अनुसार लिखा है। उन्होने प्रायः नवोढा व विश्रब्धनवोढा उपभेदो को नही लिखा, क्योंकि ये उपभेद स्वकीया मे ही समीचीन प्रतीत होते हैं, परकीया और सामान्या में नही। यही बात अज्ञातयौवना के विषय मे कही जा सकती है। इसी तरह नन्ददास ने धीरा आदि उपभेद तो लिखे है किन्तु ज्येष्ठा व कनिष्ठा का उल्लेख नही किया। परकीया के भेदो में केवल सुरतिगोपना, वाग्विदग्धा और लक्षिता का ही वर्णन किया है। परकीया के तीन भेद एवं ऊढा, अनूढा का उल्लेख न कर उन्होने इस

विपय का सक्षिप्त रूप से वर्णन किया है जो उनके साम्प्रदायिक सिद्धान्त के अनुकूल है। इसी प्रकार नायिकाओ के दशानुसार गर्विता आदि तीन भेदो को नही लिया। परिस्थिति के अनुसार दस प्रकार की प्रचलित नायिकाओं में से केवल नौ का ही वर्णन किया है। 'आगतपतिका' का वर्णन यहा नही किया। नन्ददास जी ने स्वभाव के अनुसार उत्तमा, मध्यमा, अधमा का उल्लेख भी नही किया। सामान्या का वर्णन भी नही पाया जाता। इस का बहिष्कार उनकी भक्ति-भावना के अनुसार उचित ही लगता है।

'रूपमंजरी' रचना पर भी नायिका-भेद का प्रभाव पाया जाता है। उनके गेयपदो मे भी खडिता, प्रौढा, अधीरा, अभिसारिका, आगतपतिका, प्रेम-गर्विता आदि के वर्णन पाए जाते हैं।

'रसमजरी' मे कवि ने नायिका-भेद के पश्चात् चार प्रकार के नायको —धृष्ट, सठ, दक्षिण, अनुकूल का तथा भाव, हाव, हेला, रति के भी लक्षण दिए हैं।

'विरह मजरी' मे भी विरह का वर्णन जहां उनकी भक्ति-भावना के अनुकूल है वहा उसमे कुछ-कुछ शास्त्रीय ढग भी पाया जाता हे। ब्रज के चार प्रकार के विरह का वर्णन प्रत्यक्ष विरह, पलकातर विरह, वनातर विरह तथा देशातर विरह यद्यपि रीतिग्रथो के चार भेदो—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण-विप्रलभ से पूरी तरह मेल नही खाते, किन्तु तो भी उनमे दो तो रीतिग्रंथों में लिखे गए प्रवास–वियोग के अन्तर्गत आ जाते है पर प्रत्यक्ष तथा पलकातर-विरह स्पष्ट रूप से किसी के अन्तर्गत नही आते। इस प्रकार के विरह-वर्णन से नन्ददास ने अपनी विरहासक्ति की भक्ति-भावना को ही स्पष्ट किया है। 'मानमंजरी' में मान और दूति का वर्णन शास्त्रीय ढंग के साथ-साथ उनकी भक्ति-भावना को भी प्रकट करता है। इसी प्रकार षड्ऋतु-वर्णन, बारहमासा आदि वर्णन, 'रूपमजरी' में नायिका-नायक रूप-वर्णन, वयसधि, यौवन-आगमन, मुग्ध-नवोढा, अज्ञात यौवना, प्रौढा आदि का वर्णन, नखशिख वर्णन, अनेक प्रकारें के सात्विक व शारीरिक हाव-भाव, अनुभाव इत्यादि शृगार-रस के प्राय: सभी शास्त्रीय-लक्षण उनके ग्रथों मे ढूंढे जा सकते हैं। शास्त्रीय-ग्रथ के रूप मे रसमजरी और शास्त्र के आधार को अपना

कर लिखी गई 'रूपमंजरी', 'विरहमंजरी' आदि रचनाएँ करके नन्ददास ने रीति-काव्य-परम्परा के निर्माण मे अपूर्व योग दिया है, इसमे संदेह नही। नन्ददास से पूर्व विद्यापति और सूर के काव्य मे भी रस-शास्त्र का विशद् प्रयोग हुआ है, किन्तु नन्ददास ने इस परम्परा को आगे बढाने के साथ-साथ लक्षण-ग्रथ-परिपाटी के प्रचलन मे भी योग दिया है। अतः यह स्पष्ट है कि नन्ददास केवल कवि और भक्त ही न थे वरन् काव्य-रीति के ज्ञाता आचार्य भी थे।

डा० रामकुमार वर्मा अपने इतिहास में लिखते हैं—"नन्ददास के ग्रंथों को देखने से ज्ञात होता है कि वे भक्ति के साथ-साथ कवित्व मे भी पारंगत थे। काव्य-शास्त्र मे उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। उन्होने काव्य की अनेक शलियो मे रचना कर अपनी बहुज्ञता और काव्य-ज्ञान का प्रमाण दिया है। 'रासपचाध्यायी' मे उन्होने भक्तिमय रहस्यवाद का परिचय देते हुए रीति-शास्त्र का पाण्डित्य भी प्रदर्शित किया है। कृष्ण-गोपी चित्रण मे आध्यात्मिक सकेत के साथ शृंगार रस के लिए नायक-नायिका का आलम्बन अनेक गुणो के साथ प्रस्तुत किया है। उद्दीपन में ऋतु-वर्णन है।......अत ज्ञात होता है कि वे श्रेष्ठ भक्त के साथ ही साथ रीति-शास्त्र के भी आचार्य थे। 'रसमंजरी' मे तो उन्होने नायिका-भेद ही लिखा है। उन्होने केशव की भाँति अपनी प्रतिभा को पाण्डित्य के कठिन-पाश से नही जकडा। नन्ददास पर रीति शास्त्र का उतना ही प्रभाव है, जहाँ तक कि उनकी भक्ति-भावना को प्रकट करने की आवश्यकता है।[1]

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० वर्मा—पृ० ८०५

नन्ददास की भाषा शैली

ब्रज-भाषा के रत्नों मे नन्ददास का प्रमुख स्थान है। ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप देने, उसे कलात्मक, सरस, मधुर और शक्ति-सम्पन्न भाषा बनाने वाले सूरदास, रसखान, मतिराम, घनानन्द और आधुनिक युग के भारतेन्दु, रत्नाकर आदि कवियों के साथ नन्ददास को विस्मृत नही किया जा सकता। नन्ददास ब्रज भाषा के चितेरे थे। इन्होने इस भाषा मे पर्याप्त कलात्मकता का समावेश किया। भाषा पर इनका अपूर्व अधिकार था। भाषाधिकार के कारण ही वे "और कवि गढिया नन्ददास जडिया" कहलाए थे। सुवर्णकार दो प्रकार के होते हैं, एक वे जो सोने को गढकर आभूषण बनाते हैं, और दूसरे वे जो उन आभूषणों मे कुंदन से रत्नो को जडते हैं। यह बारीक कलापूर्ण कार्य उन आभूषणो की शोभा का मुख्य कारण होता है। वास्तव में ही नन्ददास ने अपने ब्रज-भाषा-प्रयोग से एक चित्रकार की-सी कारीगिरी दिखाई है। "रासपंचाध्यायी" मे तो एक-एक शब्द नगीने की तरह जडा हुआ है।

परन्तु इस सम्बन्ध मे यह याद रहे कि नन्ददास के सम्पूर्ण ग्रथों की भाषा मे वह प्रौढता तथा माधुर्य नही, जो उनके कुछ चुने हुए ग्रंथो मे है। "रासपंचाध्यायी", भ्रमरगीत, रूपमजरी आदि रचनाओ जैसी व्यवस्थित और मंजी हुई भाषा सभी ग्रंथो मे नही मिलती। इनकी चुनी हुई रचनाओं से ही "नन्ददास जडिया" की सार्थकता प्रमाणित हो सकती है। वैसे यह आवश्यक भी नही कि किसी कवि की सभी रचनाओ मे भाषा-शैली की पूर्ण प्रौढ़ता हो। "सूरसागर" के अनेक अमूल्य पद-रत्नो के साथ अनेक छन्दो मे कंकर, पत्थर और रोड़े भी पाए जाते हैं। इससे न सूरदास का महत्त्व कम होता है, और न नन्ददास का। नन्ददास की प्रौढ रचनाओ मे भाषा की सम्पूर्ण शक्ति का समाहार पाया जाता है। इन रचनाओं मे नन्ददास की चित्रकारी, संगीत

माधुर्य, नादसौन्दर्य, कोमलता और भाषा-शक्ति का पूर्ण परिचय मिलता है। जैसे चित्रकार सुन्दर रंग लगा-लगा कर चित्र मे भाव भरता है, बेल-बूटों से उसकी शोभा बढाता है, उसी प्रकार नन्ददास जी का उद्देश्य केवल भाव-प्रकाशन मात्र नही था, बल्कि उनमे शोभा भरना और तीव्रता लाना भी था। उन्होने शब्द-चयन मे अपनी करामात दिखाई है।

जिस प्रकार सुन्दर हार बनाने वाला मोती, माणिक्य और हीरे के साथ नीलम पन्ना और मूंगे को तराश-तराश कर रंग में रंग का जोड मिलाता है, और बडी सावधानी से हार को गूंथता है, उसी प्रकार नन्ददास जी ने छाँट-छाँट कर सुन्दर ध्वनिपूर्ण मधुर और सानुप्रासिक वर्णों की मालाएँ गूंथी हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे "शब्द-अनुप्रासो की झंकार से नन्ददास ऐसे वातावरण की सृष्टि करते हैं कि पाठक अभिभूत हो जाता है। शब्दो की ध्वनि और अर्थ की गंभीरता एक दूसरे से स्पर्द्धा करते हुए प्रकट होते हैं। अष्टछाप के किसी दूसरे कवि ने शब्द-गठन और ध्वनि-निर्माण की ऐसी क्षमता नही दिखाई।"[1]

वास्तव मे ही 'कुटिल अलक मुख कमल मनो अलि अवलि बिराजै', 'झुनुक मुनुक पुनि छबिलि भाँति सब प्रकट भई जब', 'इत महकति मालती चारु चम्पक चित चोरत, इत घनसार तुसार मलय मंदार झकोरत', 'नव कुंकम घनसार चारु चर्चित तन चन्दन,' 'गुंजत मञ्जु अलिन्द बीन जनु बजत सुहाई,' 'मनहुँ बितन बितानु सुदेस तनाव तनाई,' 'कोमल मलयसमीर छबिन की महाभीर जहँ' जैसे प्रयोग बडी सरलता से लिखने वाला शब्द-शिल्पी नन्ददास सच्चा भाव-शिल्पी भी है और वह शब्द-संगीत के साथ भाव-संगीत का भी गुणी है।"[2]

नन्ददास की भाषा का प्रवाह और संगीत-माधुर्य संस्कृत के 'गीत-गोविन्द' और विद्यापति की पदावलि की याद दिलाते हैं। निस्सदेह नन्ददास

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास (हजारी प्रसाद द्विवेदी) पृ० १६१
२ रासपंचाध्यायी और भँवर गीत—सम्पादक डा० सुधीन्द्र पृ० ४१

एक जागरूक शब्द-शिल्पी कवि हैं। उनका शब्द-चयन कितना अनूठा है, कुछ उदाहरणों से देखिए—

नूपुर कंकन किंकिनि करतल मंजुल मुरली।
ताल मृदंग उपंग चग एकहि सुर जुरली॥
मृदुल मुरज टंकार तार झंकार मिलि धुनी।
मधुर जंत्र की सार भँवर गुंजार रली पुनि॥ (रासपंचाध्यायी)

उपर्युक्त पंक्तियों में 'कंकन' के साथ किंकिनि की ध्वनि, अनुप्रास की मिठास कैसी मधुरता घोल रही है और सौन्दर्य की सृष्टि कर रही है। कंठ्य और अनुनासिक वर्ण रकार और लकार आदि के साथ किस खूबी से जड़े हुए हैं। प्रथम पंक्ति की 'मंजुल मुरली' दूसरी पंक्ति की 'सुर जुरली' के पाँच वर्णों के तुक-साम्य के साथ ध्वनि में कैसा सुन्दर साम्य बन गया है। 'मृदुल मुरज टंकार तार झंकार मिलि धुनि' में भी 'टंकार' और 'झंकार' यदि 'पन्ना' और 'नीलम' हैं तो बीच में तार, और आदि में 'मृदुल मुरज' हीरे हैं। नन्ददास के 'जड़ियापन' में क्या संदेह हो सकता है?

उपर्युक्त पंक्तियों में संगीत-वाद्यों की सूची होते हुए भी चयन बहुत चारु है। शब्द-ध्वनियों से ही रास-नृत्य का वातावरण सजीव हो उठा है। नन्ददास की ध्वनि-निर्माण की क्षमता इस उदाहरण से पूर्णतया प्रमाणित होती है।

८. नन्ददास का 'जड़ियापन' इससे भी अधिक वहाँ दिखाई पड़ता है, जहाँ वे मधुर वर्णों के साथ परुष वर्णों का जोड़ मिलाते हैं। निम्न पंक्तियाँ देखिए—

तैसिय मृदु पद पटकनि चटकनि कठतारन की।
लटकनि मटकनि झलकनि कल कुंडल हारन की॥ (रासपंचाध्यायी)

इसमें कठोर वर्ण टवर्ग 'त', 'म', 'स', 'प', 'क' 'च', 'ल', 'न' आदि के बीच में इस प्रकार पिरोए हुए हैं कि अद्भुत माधुर्य एवं लालित्य उत्पन्न हो रहा है। कठोर वर्ण भी यहाँ ध्वनि में कैसी मिठास पैदा कर रहे हैं। ध्वन्यात्मकता के साथ-साथ उपर्युक्त पंक्तियों में रास-नृत्य का कैसा

चित्रात्मक और गतिमय वर्णन पाया जाता है। गति का चरमोत्कर्ष इन पंक्तियों मे है।

नन्ददास न केवल सुन्दर शब्दों के मोती, माणिक्य, हीरा, नीलम आदि जोडते हैं, अपितु हार बन जाने पर उस पर पालिश भी करते हैं। यही कारण है कि उनके पदो मे माधुर्य उच्च श्रेणी का पाया जाता है। इनके काव्य मे माधुर्य और प्रसाद गुणो की प्रधानता है। उनके शब्दों मे लघुवर्ण ही अधिक हैं। प्रयत्नपूर्वक वे दीर्घ वर्णों का कम प्रयोग करते हैं। ह्रस्व वर्ण और अनुस्वार तथा अनुनासिक पदों मे विचित्र कांति लाते हैं। इनके शब्द एक तो अनुप्रास के द्वारा एकरूपता लाते हैं, दूसरे, कोमलता और माधुर्य उत्पन्न करते हैं, तीसरे, संगीतात्मक ध्वनि पैदा करते हैं, चौथे, अलंकारो से सजे होते हैं, पाचवे, चित्रात्मकता प्रस्तुत करते हैं, छठे, प्रसादगुणपूर्ण होने के कारण सर्वत्र रसात्मकता उत्पन्न करते हैं, और सातवे, भाषा में अबाध प्रवाह लाते हैं। उनके शब्द "मोतियो की तरह रेशम पर ढलकते हैं"।

नन्ददास ने भाव और भाषा का जैसा सुन्दर निर्वाह किया है, वह अनूठा ही है। भाव के साथ भाषा का भी सौष्ठव काव्य के माधुर्य के साथ सौन्दर्य का संयोग कर देना है। डा० रामकुमार वर्मा 'रासपंचाध्यायी' के सम्बन्ध मे कहते हैं—'प्रत्येक पद मानो अंगूर का एक गुच्छा है, जिसमे मीठा रस भरा हुआ है। शब्दो मे कोमलता भी बहुत है। पंक्तियो मे न तो संयुक्ताक्षर हैं, न लम्बे-लम्बे समास ही। शब्दो की ध्वनि ही अर्थ का निर्देश करती है। जो कुछ कहा गया है, वह भी बहुत थोडे शब्दों मे सुन्दरता के साथ—'अर्थ अमित आखर अति थोरे'[1] वास्तव मे ही नन्ददास की भाषा मे भावों के अनुसार शब्दो का प्रयोग एक बडा भारी गुण है। क्या 'रासपंचाध्यायी' और क्या 'भँवरगीत', 'रुक्मिणी मंगल' आदि दूसरी रचनाएँ सर्वत्र भावानुकूलता भाषा की विशेषता रही है। जिस स्थल पर शृंगार के संयोग-वियोग आदि का वर्णन है, वहा भाषा बहुत भाव-प्रसारिणी व भाव-प्रवाहिणी हो जाती है, जहाँ तर्कपूर्ण स्थल हैं वहाँ भाषा तर्क तथा पाण्डित्यपूर्ण है, और जहाँ गोपियों के उपालंभ की बात है, वहा भाषा की व्यंजना

१. हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृ० ७६२

विदग्धतापूर्ण हो जाती है। भावानुरूप शब्दो के प्रयोग तथा शब्दो के द्वारा भाव-चित्र उपस्थित करने की शक्ति नन्ददास मे पूरी तरह पाई जाती है। 'रासपंचाध्यायी' में जब गोपियाँ कृष्ण के पास जाती हैं, तो कृष्ण की भाव-मग्नता के भावचित्र को अंकित करने मे नन्ददास की मधुर-भाषा पूर्ण समर्थ रही है, देखिए—

तिनके नूपुर नाद सुने जब परम सुहाये।
तब हरि के मन नैन सिमिटि सब स्रवननि आए।।

इन पंक्तियो की पदावली तो भाव-पूर्ण है ही, साथ ही 'केन्द्रीभूत' के अर्थ मे प्रयुक्त 'सिमटि' शब्द पर इन पंक्तियो का सौन्दर्य भी जैसे सिमट गया हो। इसी प्रकार कृष्ण के उपदेश को सुन कर गोपियो के मूक भाव तथा उनकी स्थिति का एक पूर्ण चित्र कवि ने शब्दो द्वारा खींचा है—

मद परसपर हसी लसी तिरछी अँखियाँ अस।
रूप उदधि इतराति रँगीली मीन पाँति जस।। (रासपचाध्यायी)

इन पंक्तियों मे एक एक शब्द इस प्रकार चुन-चुन कर रखा गया है, कि प्रत्येक शब्द प्रसंगानुकूल भाव तो प्रकट करता ही हे, साथ ही उपमा शक्ति द्वारा एक चित्र-सा भी आँखो के आगे नाचने लगता है। 'इतराति' शब्द कितना सारगभित है!

तर्कपूर्ण स्थलों पर भाषा कैसी तर्क-सम्मत हो जाती है, इसके उदाहरण 'भँवरगीत' में देखिए—

जो उनके गुन नाहि और गुन भए कहाँ ते।
बीज बिना तरु जमै मोहि तुम कहौ कहाँ ते।।

अथवा—

नास्तिक हैं जे लोग कहा जानैं निज रूपै।
प्रगट भानु कौ छाँडि गहत परछाईं धूपै।।

उपालंभपूर्ण प्रसंग में वचन की विदग्धता के उदाहरण देखिए। कृष्ण के छलिया रूप को गोपियाँ उसके शिशुपाल के प्रसग से सिद्ध करती हुई कहती है—बेचारे शिशुपाल का क्या दोप था, कृष्ण ने कपट करके उसकी दुलहिन

का अपहरण कर लिया—

दलबल जोरी बरात को ठाढौ हो छबि बाढि ।
मनो छल करि दुलही हरी छुधित ग्रास मुख काढ़ि ॥

'छुधित ग्रास मुख काढि' भी कैसा सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग है ।
गोपियाँ कृष्ण-कुब्जा की जोडी पर कैसी वक्रतापूर्ण व्यगोक्ति कहती हैं-

गोकुल मे जोरी कोऊ पावत नाहि मुरारी ।
मनो त्रिभंगी आपुहें करी त्रिभगी नारि ॥ (भ्रमरगीत)

गोपियो के शोकपूर्ण आत्मनिवेदन के प्रसग पर किस प्रकार भाषा उसी भाव के अनुरूप हो गई है, इसका उदाहरण 'भ्रमरगीत' की निम्न पंक्तियो में देखिए, विह्वलता को प्रकट करने मे भाषा कितनी समर्थ है—

अहो ! नाथ ! रमानाथ और जदुनाथ गुसाई,
नदनन्दन बिडरात फिरत तुम बिनु बन गाई ।
काहे न फेरि कृपालह्वै गौ ग्वालन सुधि लेहु ।
दुख जल-निधि हम बूडहि कर अवलम्बन देहु ॥ निठुर ह्वै कहारहे ?

भावो के अनुरूप भाषा मे कितनी तरलता, प्रवाह, और भावो को तीव्र करने की शक्ति है । अंतिम पक्ति के रूपकालकार ने उसे और भी सजीवता और सौन्दर्य प्रदान कर दिया है । तात्पर्य यह है कि नन्ददास की भाषा सदैव भाव-प्रसंगानुरूप रही है ।

"नन्ददास की भाषा उन्हे 'और सब गढिया नन्ददास जडिका' के पद के योग्य अवश्य बना देती है ।' वे किसी शब्द को उपयुक्त स्थल पर बडी मनोहरता से जड देते हैं । उदाहरण के लिए 'गुन' शब्द लिया जा सकता है । भँवरगीत के १६, २० और २१वे छन्दो मे 'गुन' शब्द का सौन्दर्य संदर्भ के अनुसार कितने अर्थ और कितने रूपो मे है—

१. जो उनके गुन नाहि और गुन भये कहाँ तैं ।
२. वा गुन की परछाईं री माया दर्पन बीच ।
गुन तें गुन न्यारे भये अमल वारि मिलि कीच ॥
३. माया के गुन और और गुन हरि के जानो ।

४. जाके गुन अरु रूप को जान न पायो वेद।

वास्तव मे ही नन्ददास का ब्रज भाषा पर अच्छा अधिकार था। उनके शब्द-ज्ञान और आनुप्रासिक शब्द-योजना का परिचय उनकी 'अनेकार्थ-मजरी' और 'नाम-माला' जैसी रचनाओ से भी मिलता है। 'हरि' शब्द के अनेक विभिन्नार्थक शब्दों को उन्होने जिस प्रकार सुन्दर ढग से पद मे रखा है, यह निम्न-पंक्तियो मे देखिए। कवि के शब्द-ज्ञान, शब्द और पद-योजना की कुशलता का ही परिणाम है कि शब्दो की एक मधुर माला सी पिरोई जाने के साथ, कवि अपनी भक्ति-भावना को भी अन्तिम पक्ति मे प्रकट कर गया है—

इन्द्र, चद्र, अरविन्द, अलि, कपि, केहरि, आनन्द।
कंचन, काम, कुरग, बन, धनुष, दंड, नभ चंद ॥
पानी, पावक, पवन, पथ, गिरि, गज, नाग, नरिंद।
ये हरि इनके मुकुट-मनि, हरि ईश्वर गोविन्द ॥ (अनेकार्थ-मंजरी)

नन्ददास की भाषा मे, जैसा कि कहा जा चुका है, ध्वनि-निर्माण की कुशलता पाई जाती है। उसमे एक प्रकार का शब्द-सगीत स्पष्ट सुना जा सकता है। 'ध्वनि' का बहुत ही सुन्दर उदाहरण देखिए। 'नाममाला' मे दूति राधा से कहती है कि हे राधा! मान छोड दे, देख, कृष्ण वंशी की ध्वनि मे तुझे बुला रहे हैं—

वे वंशी में कहत प्रिय, हे प्रानेश्वरी आव ॥

'हे प्रानेश्वरी आव' की गूंज बशी की स्वर-ध्वनि से कितनी मिलती-जुलती है। भाषा का प्रवाह और गति प्रसग के अनुकूल कैसी रफील और अनूठी होती है, इसका उदाहरण निम्न पंक्तियो मे देखिए—

सुभग सरित के तीर धीर बलबीर गये तहँ।
कोमल मलय समीर छविन की महा भीर जहँ ॥ (रासपचाध्यायी)

कृष्ण की धीर और मथर गति के साथ शब्दो की गति का कैसा साम्य है। इसी प्रकार वितान के तनाव की ध्वनि शब्दो द्वारा इन पक्तियो मे कितनी स्पष्ट है, देखिये—

फटिक छरी सी किरन कुंज-रध्रनि जब आई।

मानहुँ वितनु वितान सुदेस तनाव तनाई ॥ (रासपंचाध्यायी)

कुंजों मे से छनती हुई किरणों का कैसा चित्रात्मक वर्णन है। साथ ही कवि की कल्पना ने उसे कामदेव का वितान बनाकर बहुत ही मनोहरता उत्पन्न कर दी है।

शब्दों के 'जडने', माधुर्य, कोमलता, प्रवाह आदि के अतिरिक्त नन्ददास ने भाषा की अभिव्यजना-शक्ति को बढाने के लिए मुहावरों, लोकोक्तियों और सुन्दर लाक्षणिक प्रयोगों को भी अपनाया है। अनेक स्थानों पर उनकी रचनाओं मे लोकोक्तियों के अनुभवसिद्ध सत्यों से पूर्ण प्रयोग पाए जाते हैं, जैसे—

जहँ नदि नीर गंभीर तहाँ भल भवरी परई।
छिल-छिल सलिल न परै परै तौ छबि नहिं करई ॥ (रासपंचाध्यायी)

इस प्रकार के प्रयोगों मे अनेक स्थानो पर मनोहर सूक्तियाँ मिलती हैं। 'रूपमँजरी' से कुछ उदाहरण देखिए—

१. 'बनिता लता सहजि सुखदाई। ऐंचे सरस निरस ह्वै जाई।
२. 'गड्यो जु मन पिय प्रेम रस क्यों हूँ निकस्यो जाय।
कुंजर ज्यों चहले पर्‌यो छिन छिन अधिक समाय ॥ २१८ ॥
३. 'सत्रु भलौ जो होय सयाना। मूरख मित्र जु अहित समाना' ॥
४ 'अलि बिनु कवलहि को पहिचानै
५ मृगतृष्णा कब पानी भई। काफि भूख मन लड्डुवन गई ॥
६. प्रेम एक इक चित्त सौ, एकहि संग समाय।
गधी कौ सौधौ नही, जन जन हाथ बिकाय ॥
७. अति सर्वत्र भलो नही कहि गए संत अनत (नाममाला)

ठेठ लोकोक्तियों और भाव-व्यंजक प्रोक्तियो के सजीव प्रयोग मे नन्ददास ने अपनी अपूर्व कुशलता दिखाई है। ब्रज-भाषा की इन लोकोक्तियो के प्रयोग से एक घरेलु वातावरण सा उनकी भाषा मे पाया जाता है। कुछ उदाहरण देखिए :—

'रूखन, देखि भूख भजि जाई', 'घर आए नाग न पुजै बाँबी पूजन जाहिं', प्रेम-पीयूष छाड़ि के कौन समेटै धूरि,' 'प्रगट भानु को छाँड़ि गहत परछाई

धूपै ', 'कहु अकाश किहि टेक', 'नन्ददास' प्रभु क्यो नहिं आवत, उन पाऊन कछु मेहदी दई री', 'नन्ददास' प्यासे को पानी पिवाइ लै जिवाइ', 'भरे भवन के चोर ' आदि ।

मुहावरे तथा लाक्षणिक प्रयोग.

"ऊचे अटा घटा बतराहीं, " "भई तजा को बूंद " "छुधित ग्रास मुख काढि" " कहा हिय लोन लगावौ, " " जे तुमको अवलंबही तिनको मेलौ कूप ", " दाधे पर जिमि लागत लोन, " " चोर चित्त लै गए, " " नैन भरि आए दोउ", हीरा आगे कॉच । " " प्रेम अमृत मुख तैं श्रवत अंबुज नैन चुचात । " वे तुम तैं नही दूरि ग्यान की आंखिन देखौ । " प्रेम बिना सब पचि मरे, विषय बासना रोग । ", "तबही लौ लहै लाख जबहिं लौं बांधी मूठी ", " फाटि हियरो चल्यौ ", " गाठि की खोइ कै, " " दीठि लगना", " फूले अंग न समात", सब कों भाग उघरि रह्यो , "होत नाहिन चटतै मट " आदि ।

नन्ददास की भाषा निस्संदेह सशक्त है । भाषा-शक्ति के कारण ही दार्शनिक-सिद्धात-वाक्य भी उन्हो ने बड़े प्रभावपूर्ण ढग से व्यक्त किए हैं । उनकी कल्पना-शक्ति के प्रयोग से गूढ विषय भी भव्य एव सरल बन गए हैं । वह सगुण ब्रह्म ऐसा परमतेजमय है कि दिव्यदृष्टि के बिना दिखाई नही पड़ता । उसके तेज मे उसका सगुन रूप साधारण आँख को उसी प्रकार दिखाई नही पड़ता जिस प्रकार सूर्य के तेज मे सूर्य का रूप । सूर्य के तेज की कल्पना द्वारा कवि ने इस भाव को कितना सरल और प्रभावोत्पादक बना दिया है, इन पंक्तियो में देखिए :—

> तरनि अकास प्रकास जाहि मे रह्यौ दुराई ।
> दिव्य दृष्टि बिनु कहौ कौन पै देख्यौ जाई ।।
> जिनके वे आँखे नही देखै क्यो वह रूप ।
> क्यौ उन्जै बिस्वास जे परे कर्म के कूप ।। (भ्रमरगीत)

सूरदास का तो अधिक झुकाव भाषा की स्वाभाविकता पर था, पर नन्ददास ने उसे सुमधुर, सुसस्कृत और अलंकृत किया । भाषा को कोमल और

प्रसाद गुण पूर्ण बनाने के लिए नन्ददास ने संस्कृत के अनेक शब्दों को ब्रज-भाषा की प्रकृति की छाप लगा कर प्रयुक्त किया है—जैसे 'क्षण' को 'छिन', 'सूक्ष्म' को 'सूच्छम', 'योग' को 'जोग', क्षुधित को छुधित आदि। प्रायः मधुर और परिचित शब्दावली का ही उन्होंने प्रयोग किया है। उन्मत्त नेत्रों के लिए 'अलस कछु घूम घुमारे', लावण्य के लिए 'लुनाई', सजावट-शोभा के लिए बानक आदि प्रयोग भाषा में कोमलता के साथ सरलता लाते हैं।

एक आलोचक श्री शंभुप्रसाद बहुगुना के विचार नन्ददास की भाषा शैली के सम्बन्ध मे सुनिए—"शब्द चित्रो से नन्ददास ने मधुर ब्रज-भाषा को और भी मधुर बना दिया है। रसावेश से हर्षित लटकते हुए कृष्ण ने कुसुम धूम से धुधरी कुँज मे प्रवेश किया, जहाँ मधुकरो के पुंज थे। इसका वर्णन कवि करता है—

कुसुम धूरि धूधरी कुंज, छवि पुंजनि छाई।
गुंजत मजु अलिद वेनु जनु बजति सुहाई॥(रासपचाध्यायी)

इस शब्द कुंज मे 'धू' की कुसुम-धूलि कई बार उड रही है। 'म' की पुनरावृत्ति मे भौरो की गूँज सुनाई पड रही है, और यद्यपि कवि ने केवल इतना ही कहा है कि वहाँ भौरे है, फिर भी हम स्पष्ट सुन रहे हैं कि वहाँ भौरे हैं। पहला पद एक कुंज की तरह है। × × सहसा ही दूसरा पद हुलसता आता है, जो श्री कृष्ण की भाँति लटक कर उस पहले पद के कुँज मे प्रवेश कर जाता है।

दूसरा शब्द-चित्र देखिए। सघन कुँज मे चन्द्रमा की पतली किरन झिलमिलाती हुई, काँपती हुई गिर रही है—

फटिक छरा-सी किरन, कुँज रंध्रनि जब आई।
मानहुँ वितनु बितान सुदेस तनाव तनाई॥ (रासपचाध्यायी)

'फ' का उच्चारण ओष्ठ से होता है। इसलिए 'फटिक' के कहते ही होठ खुल जाते हैं। 'छ' का उच्चारण तालु से होता है, इसलिए 'छ' के कहते ही होठ और खुल जाते हैं और दाँतो की फटिक स्वच्छता दिखाई देती है। बस, दत-पक्ति हो सा स्वच्छ किरण का वर्ण है। लेकिन यह 'किरण'

नहीं है, 'किरन' है, क्योंकि 'कुंज के सघन रंध्र' से छनती आ रही है।

यह तो स्वरूप का चित्र हुआ। अब गति का एक चित्र देखिए—

मद मंद चलि चारु चन्द्रमा अस छवि पाई।
उझकत हैं प्रिय रमारमन, कों मनु तकि आई॥

इस पद में अधिक वर्ण ह्रस्व हैं। इ, उ, सब छोटे हैं। पद अत्यन्त धीरे-धीरे चल रहा है, जैसे आकाश मे चन्द्रमा।"[1]

नन्ददास की ठेठ ब्रज भाषा के बीच-बीच में कहीं-कहीं पूर्वी हिन्दी और फारसी के शब्द भी पाए जाते हैं। जिस प्रकार उन्हो ने संस्कृत के शब्दो को प्रायः तद्भवरूप मे अपनाया है, उसी प्रकार फारसी के शब्दो को भी तद्भव रूप दिया है। गरज, लायक, अरदास, जराव जरी, दंगल आदि अरबी-फारसी के शब्द ऐसे ही हैं। 'आहि', रावरे, अस, प्रानि, नीकी आदि पूर्वी-प्रयोग भी बीच-बीच मे मिठास भरने ही आए हे। ब्रज बोली के ठेठ घरेलू शब्द, जैसे 'रुसि', 'रुख', बीर आदि भी नन्ददास की भाषा मे मिलते है। वास्तव मे नन्ददास जी कोमल और मधुर रसो एवं भावो के ही कवि है, इसी कारण प्रसाद और माधुर्य गुण ही उनकी भाषा-शैली में पाए जाते है। ओज-गुण और परुषावृत्ति उनकी भाषा मे कही नही हे।

नन्ददास की भाषा मे एकरूपता नही पाई जाती। भाषा का रूप उन के सब ग्रंथो में तथा सब छन्दों मे एक सा नही है। अनेक स्थानो पर उनकी *'रूपमंजरी', 'विरहमंजरी', 'सुदामाचरित', 'भाषा दशम-स्कंध'* आदि रचनाओ में भाषा शिथिल भी हे और अनेक शब्दो का रूप भी विकृत-सा मिलता है। 'सुदामाचरित', गोवर्द्धनलीला' और 'भाषा दशम स्कंध' में चौपाई छन्द भाषा-शैथिल्य से पूर्ण हैं। दोहा, रोला तथा दोहा-रोला के मिश्रित छन्दो मे शब्द भाव से भरे और छन्दो मे तुले हुए हैं।

अष्टछाप के सर्वश्रेष्ठ कवि सूरदास तथा परमानन्ददास से इनकी भाषा-शैली की यदि तुलना की जाय, तो हमें पता चलता है कि सूरदास मे भाषा

1. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका सन् १९३९-४० 'नन्ददास' लेख।

का बहुरूपी-प्रयोग पाया जाता है। मुख्यरूप से ब्रज भाषा होते हुए भी, उन की भाषा मे अवधी और फारसी के शब्दो का प्रयोग अष्टछाप के अन्य सभी कवियो से अधिक है। भाषा का जितना शब्द-कोष सूर के पास है, उतना नन्ददास आदि अष्टछाप के अन्य किसी भी कवि के पास नही। नन्ददास की भाषा का आदर्श रूप 'रासपचाध्यायी' मे है, तो सूर की भाषा भी उनके छन्दो की अपेक्षा पदो मे प्रौढ है। नन्ददास के पदो मे सूर की-सी भाषा-शक्ति नही मिलती। नन्ददास का पदावली साहित्य उतना मार्मिक नही, जितना सूर व परमानन्ददास का। नन्ददास के 'रोला' छन्द मे भाषा की शक्ति, लय और प्रवाह सब कवियों से अधिक है। 'रासपंचाध्यायी' की-सी कलात्मकता सूर और परमानन्ददास में भी नही पाई जाती, किन्तु समग्र रूप से सूर का कला-पक्ष अधिक विस्तृत, स्वाभाविक और भावोत्पादक है।

नन्ददास की अलंकार-योजना

नन्ददास की अलकार-योजना बहुत स्वाभाविक है। व्यर्थ के शब्द-चमत्कार में ये नही पडे। सर्वत्र उनकी अलंकार-योजना भाव अथवा वस्तु की उत्कर्ष-विधायक ही रही है। नन्ददास की अनोखी सूझ और काव्य मे अर्थ-सौरस्य लाने की कुशलता का परिचय हमे उनके अलकार-विधान मे मिलता है। सभी प्रकार के अलकारो का प्रयोग उनके काव्य मे पाया जाता है। अनुप्रास तो पक्ति-पक्ति में मिलेगा। अन्य शब्दमूलक अलकारो मे भी यमक-श्लेष आदि पर्याप्त मात्रा मे पाए जाते हैं। शब्दालकारो के प्रयोग से कवि की भाषा मे नाद-सौन्दर्य, प्रवाह, सजीवता, कोमलता आदि गुणो का समावेश हुआ है। अर्थालकारो में भी सादृश्यमूलक, विरोधमूलक, तर्कन्यायमूलक आदि सभी अलंकार बडे स्वाभाविक रूप मे पाए जाते हे। सादृश्यमूलक अलकारो का उन्होने अधिक प्रयोग किया है। नन्ददास उत्प्रेक्षाओ के तो बादशाह हैं। उनकी अनेक सुन्दर उत्प्रेक्षाओ मे उनकी कल्पना-शक्ति, कवित्व-शक्ति की मौलिकता पूर्ण परिलक्षित होती है। "अनुप्रासादि शब्दालकारो तथा उपमा, उत्प्रेक्षा,

रूपक आदि अर्थालंकारों से लदी हुई जिस आदर्श साहित्यिक भाषा की कवि ने सृष्टि की है, उसमे सरस प्रवाह है, अद्भुत संगीत है, और हृदय पर चोट करने की पूर्ण क्षमता है।"[१]

सादृश्यमूलक अलंकार :—नन्ददास ने उपमाओ और उत्प्रेक्षाओ का बहुत अनूठा विधान किया है। बहुधा कवि एक बात कहकर उसकी पुष्टि मे उपमाओं की इतनी चामत्कारिक झड़ी लगा देता है कि पाठक उसकी कला पर मुग्ध हुए बिना नही रह सकता। उनकी उपमाएँ बहुत चित्ताकर्षक और चित्रात्मक हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

लाल रसिक के वक बचन सुनि चकित भई यों।
बाल-मृगिन की माल सघन वन भूलि परी ज्यौ॥ (रासपचाध्यायी)

गोपिकाओ की चकित चितवन का भटकी हुई बालमृगियों की चकित चितवन से कैसा सुन्दर साम्य है। इसी प्रकार—

कोमल किरन अरुनिमा बन मे व्यापि रही अस।
मनसिज खेल्यो फागु घुमडि घुरि रह्यौ गुलाल जस॥ (रासपचाध्यायी)

शरद् की चन्द्रकिरणो का गुलाल की अरुणिमा से साम्य दिखाना नन्ददास की मौलिक सूझ है। ध्यान रहे, यह गुलाल भी कामदेव का गुलाल है। इसी प्रकार 'रासपंचाध्यायी' की निम्नपंक्तियों मे गोपियों की चित्रात्मक अवस्था का सुन्दर वर्णन है—

मद परसपर हँसी लसी तिरछी अँखियाँ अस।
रूप-उदधि इतराति रँगीली मीन पाँति जस॥

वाक्यार्थोपमा का एक सुन्दर उदाहरण लीजिए। बसंत-ऋतु मे कामदेव ने उधम मचा दिया है। विरहिणी रूपमंजरी की विरह-ज्वाला तीव्र से तीव्रतर होती जारही है। इन दोनो (वसत और कामदेव) का मेल उसी प्रकार विरह-ज्वाला को भड़काने वाला है, जिस प्रकार अग्नि और पवन का मेल अग्नि को प्रचडता प्रदान करता है—

---

१. नन्ददास—(सम्पादक उमाशंकर शुक्ल) भूमिका पृ० १११

बिनन बसत सखा दोउ ऐसे। पावक पवन मिले जग जैसे ।। (रूपमंजरी)
उपमा और उत्प्रेक्षा दोनो के सयोग से रास-क्रीडा मे गोपिकाओ और कृष्ण के मण्डलाकार नृत्य का कैसा सुन्दर वर्णन कवि ने किया है—

नव मरकत मनि श्याम कनक-मनिगन व्रज बाला।
वृन्दाबन को रीझि मनहुँ पहिराई माला ।। (रासपचाध्यायी)

उत्प्रेक्षा के द्वारा कही-कही नन्ददास ने बहुत सुन्दर गत्यात्मक चित्र उपस्थित किए है। रास-क्रीडा मे नृत्य करती हुई गोपियो की हिलती हुई बेनी का साम्य लताओ के संग डोलती हुई अलि-सैनी के साथ दिखाकर नन्ददास ने जो गत्यात्मक चित्र आँखो के सामने प्रस्तुत कर दिया है, वह उसकी कवित्व-शक्ति का परिचायक है—

चचल रूप लतनि संग डोलति जनु अलि सैनी।
छबिली तियन के पाछे आछे बिलुलित बेनी ।। (रासपचाध्यायी)

गम्योत्प्रेक्षा का एक बहुत अनूठा वर्णन देखिए। कवि नायिका के नयनो की चचलता पर कल्पना करता है कि बाल्यावस्था में जो चचलता पाँवों मे थी, वह अब पाँवो से आँखो मे आगई है। यौवन का कैसा सुन्दर वर्णन है। यौवन-काल में पाँवो का लज्जा के कारण ठिठकना और नयनो का अपनी करामात दिखाना कितने सुन्दर ढग से व्यजित है—

बालपने पग चंचलताई। चली छबीली नैननि आई।
इत उत चहनि चलनि अनुरागे। बान करन कानन सौ लागे ।। (रूपमजरी)

नन्ददास के उपमान अधिकतः परम्पराभुक्त ही है, परन्तु कवि ने अनेक स्थानो पर उनकी अनूठे ढंग से योजना करके अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। कही-कही नए उपमान और बिल्कुल नई व अनूठी सूझ-बूझ भी पाई जाती है। निम्न पक्तियाँ देखिए—

कंज कज प्रति पुंज अलि, गुजत इमि परभात।
जनु रवि डर तम तजि भज्यो, रोवत ताके तात ।। ५३ ।। (रूपमजरी)

काले भँवरो को इस प्रकार अधकार के बच्चे बनाना बिल्कुल नवीन

सूझ है। निम्न-पंक्तियों मे संदेह और उत्प्रेक्षा का सुन्दर मिश्रण देखिए—

गोरे तन की जोति छूटि छबि छाय रही घर।
मानहुँ ठाढी कुँअरि सुभग कचन अवनी पर॥
जनु घन ते बिजुरी बिछुरी मानिनी-तनु काछे।
किधौ चंद्र सौं रूसि चद्रिका रहि गइ पाछे। (रासपंचाध्यायी)

वास्तव मे नन्ददास ने वस्तु और रूपवर्णन मे तथा भाव-चित्रण में स्वरूप-बोध कराने एवं भावोत्कर्ष लाने के लिए उत्प्रेक्षा से विशेष काम लिया है। इनकी उत्प्रेक्षाओ की कल्पना बड़ी मार्मिक और प्रभावशालिनी होती है। इन उत्प्रेक्षाओ के कारण ही नन्ददास की वर्णन-शक्ति अद्भुत कलात्मक बन गई है। इन्ही मे उन्होने अपनी कल्पना की मौलिकता का परिचय दिया है। चाहे शुकमुनि का वर्णन हो (रासपचाध्यायी), चाहे रूपमजरी का अथवा नगर (निर्भयपुर) का, कवि सर्वत्र उत्प्रेक्षाओ की झडी लगा देता है, जिससे वर्णन मे कलात्मकता और सजीवता आ जाती है।

मुनि शुकदेव के अगो की शोभा का वर्णन कवि ने कल्पनायुक्त ढग से किया है। उनके वक्षस्थल का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

सुन्दर उदर उदार रोमावलि राजति भारी।
हिय-सरवर रस-पूरि चली मनु उमगि पनारी॥ (रासपंचाध्यायी)

हेतूत्प्रेक्षा, रूपक तथा श्लेप से पुष्ट ये पक्तियाँ कितनी सुन्दर हैं। मुनि शुकदेव के विशाल वक्षस्थल पर विपुल रोमावली सुशोभित है, मानो कृष्ण की प्रीति की धारा उनके हृदय रूपी सरोवर को परिपूर्ण करके बाहर उमड चली है।

निर्भयपुर की अमराइयो और ताल-तालावो का वर्णन नन्ददास ने कैसी सजीवता के साथ किया है, देखते ही बनता है। उनकी वर्णन शक्ति अद्भुत है-

आसपास अमराय वरारी। जहँ लग फूल तिति फुलवारी॥

× × × ×

बोलहि सुक मारिक पिक तोती। हरिइर चातक पोत कपोती ॥
मीठी धुनि सुनि अस मन आवै। मैन मनौ चटमार पढावै ॥

× × × ×

निर्मल जल जनु मुनि-मन आही। परसत छन तन-पातक जाही ॥
पानी पर पराग परि ऐसी। वीर फुटक भरी आरसि जैसी
पद्मिनि कहुं अब पौन दुलावे। तब लपट अलि बैठि न पावै ॥
जनु ननुकारति मानिनि तिया। आन जुवति रत जान्यौ पिया ॥
(रूप मजरी)

उपर्युक्त पक्तियो में कवि की सलोनी कल्पना ने क्या-क्या गुल खिलाए हैं। कवि की वर्णन-शक्ति इतनी विलक्षण है, कि वह जिस वस्तु का वर्णन करता है, उसमे जान डाल देता है। 'रूपमंजरी' मे निर्भयपुर के राजा के यश का वर्णन कवि इस प्रकार करता है—

धर्मधीर तहँ कर बड राजा। प्रगट्यौ धर्म धरन के काजा।
जस कौ धनुप राव कर सोहै। कीरति-पनिच-भनक मन मोहै ॥
अनगन गुनिजन बान बखाने। निसदिन रहहिं पनिच सधाने ॥
पनिच जाय उत देसहिं पारा। सर आवहिं इत राजदुवारा ॥

रूपकालंकार के सहारे कवि का वर्णन कैसा प्रभावशाली है। निस्सदेह नन्ददास मे कवि जायसी और तुलसीदास जी की तरह एक सफल प्रबन्धकार की सी विशेषताएँ थी, यह दूसरी बात है, कि उनकी विशिष्ठ भक्ति-पद्धति ने उन्हें कोई सुन्दर प्रबन्ध-काव्य नही लिखने दिया। अष्ट-कवियो मे नन्ददास की यह खास विशेषता है।

रूपमजरी की वयःसधि का चित्रण कवि ने कितनी मनोहारिता एव कल्पना के अनूठेपन से किया है—

जुबन-राव जब उरपुर लयो। सैसवराव जघन-बन गयो ॥
अरन लगे तब दोऊ नरेसा। छीन परयो तव तिय-सधि देसा ॥
तिय-तन-सर बालापन पानी। जोबनतरनि किरनि अधिकानी ॥
जिमि-जिमि सैसव-जल उथराने। तिमि-तिमि नैन-मीन इतराने ॥

कमर के पतला होने की कैसी सुन्दर कल्पना की गई है, कवि की मौलिक सूझ की प्रशसा शब्दों द्वारा नही की जा सकती। सागरूपको के सुन्दर चित्रण के साथ-साथ यौवन, शैशव आदि अमूर्त संज्ञाओ का मूर्त्तीकरण भी कवि की उपमान-योजना की विशेषता को प्रकट करता है। मूर्त-अमूर्त विधान यद्यपि प्राचीन कविता में हमें नही मिलता, आधुनिक छायावादी कविता में ही इसका सशक्त व सफल प्रयोग हुआ है, तोभी रूपकालंकाराश्रित नन्ददास की कुछ उक्तियो में अमूर्त के लिए मूर्त का विधान पाया जाता है। ऊपर उदाहृत निर्भयपुर के राजा के यश-वर्णन मे 'जस को धनुष', 'कीरति-पनिच' में भी मूर्त-अमूर्त विधान सुन्दर है। निम्नलिखित पक्तियो में कवि ने यौवन को शिशु बनाकर अपनी कल्पना शक्ति का अद्भुत परिचय दिया है। विरहिणी रूपमजरी को नीद नही आ रही, वह कहती है, दैव! कही नीद भी सो तो नही गई ? उस का बालक यौवन अति व्याकुल है, वह प्रियतम के अधर-रस रूपी दूध के लिए तडप रहा है, विरहिणी दया करके उसे बिलपता देख कर नयनो का कटोरा भर-भर अश्रु-नीर ही पिला रही है—

नीद न आवै तब कहै दई। नींद मनो कहुँ सोय है गई ॥
अतिसिसु जोबन कैसे रहै। पीतम अधर दूध कहुँ चहै ॥
बिलपत देखि दया जब आवै। भरि भरि नैना नीर पियावै ॥ (रूपमजरी)

उत्प्रेक्षा के अन्तर्गत मानवीकरण का और उदाहरण देखिए—

मन्द मन्द चलि चारु चन्द्रिका अस छवि पाई।
उझकत हैं पिय-रमा-रमन कौ मनु तकि आई ॥ (रासपंचाध्यायी)

नन्ददास की उपमान-योजना मे कही-कही सादृश्य की बजाय प्रभाव-साम्य पर ही ध्यान रखा गया है। निम्न पंक्तियो मे विरहिणी की हर्ष-शोक से पूर्ण अवस्था उसे लोहार की सँडासी बनाकर जताई गई है, जो कभी क्षणभर पानी में रखी जाती है और कभी आग मे—

इहि विधि बल बैसाख इह, बीत्यो दुख सुख लागि।
सँडसी भई लुहार की, खिन पानी खिन आगि ॥ (विरहमंजरी)

उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा आदि अलकारो के सम्मिश्रण से विरहिणी गोपागनाओ का कैसा सजीव चित्र नन्ददास ने प्रस्तुत किया है—

दुख के बोझ छबि सीम ग्रीव नय चलि नाल सी।

अलक-अलिन के भार नमित ममु कमल माल सी॥ (रासपचाध्यायी)

इन पक्तियों मे अतिशयोक्ति, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा और अनुप्रास ये पाच अलकार किस खूबी से उलझे हुए हैं।

सादृश्यमूलक अलकारो मे उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक के बहुल प्रयोग के अतिरिक्त सदेह, स्मरण, प्रतीप, अतिशयोक्ति, दीपक आदि अलंकारो का भी नन्ददास ने प्रयोग किया है। स्मरण अलंकार का बहुत सुन्दर उदाहरण देखिए—

मारन नूतन चँदवा डारे। देखि-देखि दृग होत दुखारे॥ (विरहमंजरी)

कैसी सुन्दर साकेतिक अभिव्यक्ति है! मोरों के चँदवो को देखकर मोर-मुकुट वाले कृष्ण की याद तडपाने लगती है।

दीपक :—भादो अति दुख ऐन, कहियो इन्दु गोविन्द सी।

घन अरु तिय के नैन, होडनि बरसत रैन दिन॥ (विरहमंजरी)

अत्युक्ति अथवा अतिशयोक्ति :—

उपजि विरह दुख दवा, अँवा तन तापत ये हैं।

कोउ-कोउ हार के मोतिया तचि-तचि लाल भए है॥ (रुक्मिणीमंगल)

प्रतीप—लसत जु हँसत दसन की जोती। को है दाडिम को है मोती॥

(रूपमजरी)

यहाँ प्रसिद्ध उपमानो—दाडिम और मोती—का उपमेय दसन की अपेक्षा अपकर्ष दिखाया गया है।

तर्कन्याय-मूलक अलकारों में नन्ददास ने अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त तथा उदाहरण का विशेष रूप से प्रयोग किया है। अर्थान्तरन्यास का उदाहरण देखिए—

पुनि कहे उत्तम साधु सग नित ही है भाई ।
पारस परसे लोह तुरत कंचन ह्वै जाई ।। (भ्रमरगीत)

दृष्टांत—प्रेम एक इक चित्त सों एकहि मग समाय ।
गथी कौ सौधौ नही, जन जन हाथ बिकाय ।। (रूपमंजरी)

उदाहरण—फलन के भार नमित द्रुम ऐसे । सम्पत्ति पाइ बड़े जन जैसे ।।

तर्कमूलक उदाहरण देने मे नन्ददास की सूझ-बूझ इन पंक्तियो मे देखिए—

मित्त जु अवगुन मित्त के, नहिन अनत भापन ।
कूप छाँह जिमि आपनी, हिय ही मधि राखंत ।। (विरहमंजरी)

विरोधमूलक अलंकार—विरोधमूलक अलकारो का प्रयोग भी नन्ददास के काव्य मे स्थान-स्थान पर मिलता है । विरोधाभास, असगति, विभावना, विषम आदि सभी विरोधमूलक अलकारो के उदाहरण पाए जाते हैं । असगति के सुन्दर उदाहरण देखिए—

गति विपरीत रची तब मैना । गरजै घन बरसै तिय नैना ।। (विरहमजरी)

कारण कही है और कार्य कही । पशु-चारण के समय काँटे लगते तो कृष्ण के पाँव मे है, किन्तु कसक होती है गोपियो के हृदय में—

जब पसु चारन चलत चरन कोमल धरि बन में ।
सिल त्रिन कंटक अटकत कसकत हमरे मन में ।। (रासपंचाध्यायी)

विरोधाभास—प्रजरि परत अब अग सब, चोबा चदन लागि । (विरहमजरी)

विभावना—मुरली हाथ मुहाई माई, बिनहि बजाई राग चुचाई । (रूपमँजरी)

विषम—कहाँ ही कुटिल कुचालि हिय की, कहूँ इह दया साँवरे पिय की ।
(रूपमजरी)

शब्दालंकार-योजना—शब्दालंकारो मे अनुप्रास तो पंक्ति-पक्ति मे पाया जाता है । इस अनुप्रास के कारण ही नन्ददास की पदावली अत्यन्त कोमल और मधुर हो गई है । गीतगोविन्दकार जयदेव की 'ललित लवग लता परिशीलन' की-सी कोमलता इन पक्तियो में देखिए—

ललित लवग लतनि की छाँही । हंसि बोलौ डोलौ गल बाँही ।। (विरहमजरी)

श्रुति-सुखद यमक का चमत्कार भी कितनी ही पंक्तियों मे बडी ही सरलता और सजीवता के साथ लाया गया है । सभंग यमक का बहुत सुन्दर

उदाहरण निम्न पंक्ति मे है । यमक के अतिरिक्त अनुप्रास, उपमा और रूपकालकारो ने पंक्ति का सौन्दर्य बढाने के साथ-साथ भाव को कितनी तीव्रता प्रदान की है—

अगहन गहन समान, गहियत मोर सरीर-ससि ।
दीजै दरसन दान, अगहन होय जु पुन्यबल ।। (विरहमजरी)

इस प्रकार चार-चार अलकारो को एक ही सोरठे में रखदेने वाले कवि की कला-प्रियता और चमत्कार-शक्ति मे क्या सदेह हो सकता है ? विशेषता यह है कि कही भी चमत्कार चमत्कार के लिए नही है ।

अभंग यमक का उदाहरण देखिए—

मास मास के कदन करि, मास रह्यो नहि देह । (विरहमजरी)

'के कदन करि' मे अनुप्रास साथ ही लगा हुआ है । इसी प्रकार 'मनमथ के मनमथ' (कृष्ण के लिए), 'बिचरि चल्यो नव-नीत मीत नवनीत सरिस हिय' आदि में अभंग यमक की छटा दर्शनीय है ।

इस प्रकार नन्ददास की अलकार-योजना पर्याप्त सफल रही है । इन अलकारो के कारण इनकी अनेक उक्तियाँ मुग्धकारिणी हो गई हैं । अलकार सर्वत्र भाव व वस्तु का उत्कर्ष बढाने मे सहायक रहे हैं । अपवाद स्वरूप एकाध स्थल पर अप्रस्तुत-विधान मे औचित्य का ध्यान कवि को नही रहा है । निम्न पक्तियो मे नन्ददास ने श्याम-कथा-श्रवण के आनन्द की उपमा लम्पट के 'पर-जुवति-बात' श्रवण के आनन्द से देकर रसाभास-सा उत्पन्न कर दिया है । उपमा का यह अनुचित प्रयोग है—

जाको सुन्दर श्याम-कथा छिन-छिन नई लागै ।
ज्यौ लंपट पर-जुवति-बात सुनि अति अनुरागै ।। (रासपंचाध्यायी)

कहीं कही नन्ददास ने ऊहात्मक शैली का भी प्रयोग किया है, जो आगे बिहारी के काव्य में तो बिल्कुल खिलवाड बन गई । रूपमंजरी के रूप-लावण्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि उसके 'आनन ओप' से राजा का भवन प्रकाशित रहता है, और सध्या मे वहाँ कोई दीपक नही जलाता:—

ता भूपन कें भवन कोऊ, दीप न बारत साँझ ।
बिन ही दीपहि दीप जिमि, दिपय कुँवरि घर माँझ ॥ ६ ६ ॥

इससे भी बढकर बिहारी की ऊहा देखिए, कितनी असत्य पर आधारित हो गई है—

पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहुँ पास ।
नित प्रति पुन्यौइ रहत आनन ओप उजास ॥

नन्ददास के काव्य में छन्द प्रयोग:—सूरदास की तरह, पद तथा छन्द दोनों शैलियो मे नन्ददास का काव्य मिलता है । अष्टकवियो में छन्द-प्रयोग की दृष्टि से नन्ददास सर्वाधिक महत्त्व रखते हे । कवि ने कुछ छन्दो को ऐसा माँज लिया है, कि वें उसकी विशिष्ट वस्तू हो गए हैं । चौपाई, चौपई और साथ मे दोहा छन्द का प्रयोग नन्ददास ने 'रूपमंजरी,' 'विरहमंजरी,' 'रसमंजरी' और 'भाषा दशमस्कंध' मे किया है । इनमे कई कई चौपाइयो के अनन्तर एक-एक दोहा रखा गया है । दोहा-चौपाई की यह पद्धति न तो सम्पूर्ण चौपाइयो के बाद दोहे की योजना वाली तुलसी की पद्धति है, और न ही ५, ७, ६ अर्द्धालियो के निश्चित प्रयोग के बाद दोहा रखने वाली सूफियो की शैली है । नन्ददास ने कोई निश्चित क्रम नही रखा, जहाँ चाहा, दोहा डाल दिया, फिर चौपाई लिखने लगे । 'दशमस्कंध' मे तो दोहे कही-कही ही—प्राय: प्रत्येक अध्याय के आदि और अन्त मे—प्रयुक्त हुए हैं ।

'सुदामाचरित' और 'गोवर्द्धनलीला' उन्होने केवल चौपाई और चौपई छन्द मे लिखी हैं । 'अनेकार्थमंजरी' और 'नाम माला' मे केवल दोहा छन्द अपनाया है । रोला छन्द का प्रयोग 'रुक्मिणीमंगल,' 'रासपंचाध्यायी' और 'सिद्धान्तपंचाध्यायी' मे किया है । रोला, दोहा के मिश्रित छन्द के साथ दस-मात्रा की अन्त में टेक लगे छन्द का 'श्यामसगाई' और 'भ्रमरगीत' में प्रयोग हुआ है । यह छन्द उन्होने सूरदास से लेकर भी दस मात्राओं की टेक जोडकर मौलिक बना लिया है, और बहुत अच्छा सजा रूप दिया है । नन्ददास की छन्दयोजना की सबसे बडी विशेषता है सगीत-माधुर्य, जिसका सर्वाधिक उत्कर्ष उनके रोला छन्द मे परिस्फुट हुआ है । 'रासपंचाध्यायी' रचना को देखने से

पता चलता है कि कवि की उक्तियो मे अपूर्व कवित्व है, वाणी मे प्रौढ़ता है, और भाषा मे लोच व लय है। इनके चौपाई और चौपई छन्द मे १५ व १६ मात्राओं का विशेष भेद नही है। नन्ददास ने 'रूपमंजरी,' 'विरहमजरी' मे चौपाई छन्द के प्रयोग से यह सिद्ध कर दिया है कि कुशल कवि ब्रज भाषा मे भी चौपाई छन्द का सफल प्रयोग कर सकता है। सूरदास ने भी चौपाई छन्द का प्रयोग 'सूरसागर' मे किया है, परन्तु वे इसमे सफल नही हो सके हैं। श्री दीनदयाल गुप्त नन्ददास को भी चौपाई छन्द के प्रयोग मे असफल बताते हैं। उनका कहना है कि "कवि की कवित्व-शक्ति और भाषा-लालित्य के प्रस्फुटन करने मे चौपाई छन्द असमर्थ है"। परन्तु नन्ददास की वर्णन-शक्ति मे हम दिखा आए हैं कि 'रूपमजरी,' 'विरहमजरी' आदि रचनाओ मे उन्होने चौपाई छन्द का सफल कवित्वपूर्ण प्रयोग किया है।

दोहा-चौपाई वाले ग्रथो मे कही-कही बीच-बीच मे सोरठा छन्द भी मिलता है। कवित्त, सवैया और घनाक्षरी छन्दो मे लिखे कुछ पद भी इनके मिलते हैं। इन छन्दो का जैसा सफल और परिमार्जित प्रयोग आगे चलकर रीतिकाल मे हुआ, वैसा प्रयोग नन्ददास नही कर सके। नन्ददास का "कृष्ण-नाम जबतै स्रवन सुन्यौ री आली, भूली री भवन हौ तो बावरी भई री" वाला कवित्त प्रसिद्ध है।

नन्ददास ने सौ से अधिक पद लिखे हैं। उनके पदों मे अनेक छन्दों और गीतखंडो का प्रयोग पाया जाता है। ये सब विभिन्न राग-रागनियो मे वधे है। सगीत की 'ध्रुपद' शैली की छाप इनके अधिकाश पदो पर पाई जाती है। इनके पदावली साहित्य पर आगे विस्तृत प्रकाश डाला जायगा।

नन्ददास मे एक कथाकार की प्रतिभा अपूर्व थी। इसी का फल है कि उन्होने कई खण्ड-काव्य सफलता के साथ रचे। वर्णन-शैली के साथ-साथ उनकी कथा-शैली भी प्रभावशाली और रोचक है। 'भँवरगीत' तथा अन्य कथात्मक प्रबन्ध-रचनाओं से उनकी सजीव, रोचक सँवाद-शैली की शक्ति का भी परिचय मिलता है। इस प्रकार एक मुक्तककार के साथ-साथ एक प्रबन्धकार का कौशल भी नन्ददास मे स्पष्ट है।

नन्ददास की रूपमंजरी

स्थूल शृंगारिक वर्णन और आध्यात्मिक भावना :—नन्ददास की 'पचमंजरियो' में 'रूपमजरी' सबसे महत्वपूर्ण रचना है। यह एक छोटी-सी प्रेम-कहानी है, जिसमे एक रूपवती स्त्री रूपमजरी के लौकिक-प्रेम के त्याग और अलौकिक नायक कृष्ण के साथ 'जारभाव' से प्रेम लगाने का वर्णन है। इसमे लेखक ने अपनी आध्यात्मिक भावना और प्रेम-भक्ति को बड़े मनोवैज्ञानिक ढग स चित्रित किया है। वैसे तो नन्ददास की सभी रचनाओ में लौकिक प्रेम से आध्यात्मिक प्रेम का निरूपण पाया जाता है, किन्तु 'रूपमजरी' मे कल्पना के आधार पर एक प्रेमाख्यान के माध्यम से नन्ददास ने अपने आध्यात्मिक-प्रेम का बहुत सुन्दर वर्णन किया है।

"इस आख्यान मे नन्ददास ने अपनी भक्ति-पद्धति के दो रूपो का वर्णन किया है— एक ससीम लोक-सौन्दर्योपासना द्वारा निःसीम दिव्यसौन्दर्य को पाना और दूसरा, प्रेम के 'उपपति' भाव द्वारा भगवान् के नैकट्य का प्राप्त करना"। कवि ने रूपमजरी के रूप में इन्दुमती की आसक्ति द्वारा रूपोपासना के मार्ग का वर्णन किया है, और कृष्ण मे 'जारभाव' से रूपमजरी की आसक्ति द्वारा भक्ति के माधुर्यभाव को दिखाया है। सौन्दर्योपासना-मार्ग के विषय मे वर्णन करते हुए कवि कहता है कि आनन्दस्वरूप भगवान् के नैकट्य को प्राप्त करने के अनेक मार्ग हैं, उन्ही में ये दो साधन मार्ग भी हैं— एक नाद का मार्ग और दूसरा रूप का मार्ग। रूप का मार्ग बड़ा सूक्ष्म और कठिन है, क्योंकि इसमे विप और अमृत दोनों एकत्र स्थित हैं—

> पैबे को प्रभु के पंकज-पग। कबिन अनेक प्रकार कहे मग
> तिन में इह इक सूखिम रहै। हौं तिहि बलि जो इहि चलि चहै॥
> जग में नाद अमृत मग जैसौ। रूप अमीकर मारग तैसौ॥
> गरल अमृत इकग करि राखै। भिन्न भिन्न कै बिररै चाखै॥

× × × × × ×

इन्दुमती मतिमद पै, अवर नहिन निबहति ।
नागर नगधर कुँवर-पग, इहि मग छुट्यो चहति ।।

कर्णेन्द्रिय में सब शक्तियों को एकत्र कर चित्तवृत्ति-निरोध से शब्द रूप ईश्वर का ध्यान करना शब्द का मार्ग है, और चक्षुरेन्द्रिय मे सब शक्तियो को केन्द्रीभूत कर साकार रूप ईश्वर का ध्यान करना रूप का मार्ग है। बल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार भी परब्रह्म श्री कृष्ण अपने आनन्द रूप से नाम और रूप के गुण और आकार को धारण कर गोलोक मे नित्य आत्मानन्द मे मग्न रहते हैं। वे अपने शब्द-रस रूप को मुरली नाद मे तथा रूपरस रूप को गोपी-रास तथा अन्य लीलाओ मे प्रकट करते हैं। नन्ददास ने कान और आँख दो इन्द्रियो की शक्ति द्वारा इन्हीं भक्ति-साधन-मार्गों को इस ग्रथ में नाद और रूप का मार्ग कहा है। नाद मार्ग का अनुसरण भगवान् के नाम, गुण और लीला के श्रवण और कीर्तन द्वारा किया जाता है। इस नाद में ब्रह्मानन्द की प्रतीति होने के कारण ही भक्ति-पद्धति मे नाद-सौन्दर्यपूर्ण सगीत को अपूर्व महत्ता मिली है[1]।

'रासपचाध्यायी' मे भी जब गोपियाँ कृष्ण की मुरली-ध्वनि को सुन कर घर-बार त्यागकर कृष्ण के पास जाती हैं तो कवि कहता है कि वे रगीले और सूक्ष्म नादमार्ग पर चलदी—

नाद अमृत को पंथ रँगीलो सूछम भारी ।
तिहि मग ब्रज तिय चली आन कोउ नहिं अधिकारी ।।

रूपमार्ग का परिचय देते हुए नन्ददास कहते हैं कि भगवान् स्वय रूप-निधि हैं, और लोकरूप को पवित्र बनाने वाले है—"रूपउ पावन रूप निधि, नित्य कहत कवि ताहि"। उसी एक रूप भगवान् के अनेक रूप सृष्टि मे दिखाई दे रहे हैं। 'रूपमजरी' मे प्राकृतिक वस्तुओ तथा संसार के रूपो मे अपने इष्टदेव भगवान् कृष्ण का ही अवलोकन किया गया है। रूपमजरी के रूप में इन्दुमती की अगाध आसक्ति है। कवि अपने को इन्दुमती के रूप में प्रकट करता हुआ कहता है—

१. अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय—पृ० ७६६

रूपमंजरी तिय को हियो । गिरधर अपनो आलय कियो ।
इदुमती तहँ अति अनुरागी । ताही मैं प्रभु पूजन लागी ।।

रूपमजरी के सौन्दर्य के वर्णन मे भी कवि ने आलौकिक रूप का आभास दिया है । होली के उत्सव पर 'रूपमजरी' ससार मे उरा अलौकिक नायक को ही ढूंढती है, जिसने पृथ्वी, आकाश, सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की है और सबको अपने रग मे रग रखा है । इस प्रसंग द्वारा कवि यही दिखाता है कि भगवान के दिव्य रूप के सामने लोकरूप सब महत्त्वहीन हे, तुच्छ हैं । इन्दुमती जिस वास्तविक नायक कृष्ण के रूप सौन्दर्य का वर्णन करती है, उसी के प्रति रूपमंजरी का हृदय मुग्ध होता है । उसी रूप-सौन्दर्य मे उसे अपनी वास्तविक निधि मिलती है । इस रूपोपासना के मार्ग से इन्दुमती के रूप मे अपने को रखकर नन्ददास ने भी सिद्धि प्राप्त की हे । इस का उल्लेख वे अपनी रचना के अत मे इस प्रकार करते हैं ।

इहि बिधि कुँवरि रूपमजरी । सुन्दर गिरिधर पिय अनुसरी ।
इन्दुमती ताकी सहचरी । सो पुनि तिहि सगति निस्तरी ।।

रूपसौन्दर्योपासक भक्त की सगति में आने वाला मनुष्य भी इस भक्ति के प्रभाव से उसी प्रकार तर जाता है जिस प्रकार इन्दुमति तर गई ।

माधुर्य-भाव:- 'रूपमंजरी' मे नन्ददास की माधुर्य-भक्ति का सुन्दर प्रकाशन हुआ हे । इस में उन्होने 'उपपति' या 'जार भाव' को महत्ता दी है । वे कहते हैं कि प्रेम के जितने रूप हैं उनमें स्त्री के उपपति प्रेम मे सबसे अधिक लगन और रस की पराकाष्ठा होती है । इसी लिए उन्होंने इस भाव की प्रशंसा करते हुए अपनी भक्ति मे इसका प्रयोग किया है—

रसनि मे जो उपपति रस आहि । रस की अवधि कहत कवि ताहि ।।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि नन्ददास ने इस अमर्यादित प्रेम को आनन्द का साधन क्यो कहा हे । क्या लौकिक दृष्टि से यह अनैतिक बात नही है ? इस प्रकार का अमर्यादित शृंगार नन्ददास के अन्य ग्रंथों में भी मिलता है । 'रासपंचाध्यायी' मे भी गोपियाँ परकीया-भाव से कृष्ण के साथ प्रेम करती हैं ।

वास्तव में मर्यादा भंग का यह दोष कृष्ण को लौकिक जीव समझने से ही लग सकता है। वे जीव नहीं हैं कि जगत की वस्तुओं मे उनका हिस्सेदार दूसरा जीव हो। जो कुछ था, है, और आगे होगा—उसके एकमात्र पति श्री कृष्ण ही है। इस दृष्टि से कोई स्वकीया प्रेम की भक्ति का चित्रण करता है, अथवा परकीया प्रेम का, इसमें कोई अन्तर ही नही है। श्री कृष्ण की दृष्टि से, जो कि वास्तविक दृष्टि है, कोई परकीया है ही नही सब केवल अपना ही लीला विलास हैं। सभी स्वरूप-भूता अन्तरंग शक्ति हैं। गोपियाँ इस बात को जानती थी और 'रासपंचाध्यायी' मे स्थान-स्थान पर यह बात स्पष्ट हुई है। ऐसी स्थिति में परकीया, जार-भाव और 'औपपत्य' का कोई लौकिक अर्थ नहीं रहता। जहाँ काम नही है, शरीर और देह का धर्म नही है, वहाँ 'औपपत्य' और 'जार भाव' की कल्पना ही कैसे हो सकती है? गोपियाँ परकीया नहीं थी, उनमे परकीया-भाव था। परकीया होने और परकीया-भाव होने मे आकाश-पाताल का अन्तर है। इस प्रकार यदि नन्ददास की विशिष्ट-भक्ति-पद्धति को ठीक तरह से न समझा जाय, तभी अमर्यादा का दोष उनपर लगाने की धृष्टता कोई कर सकता है।

रूपमंजरी अपने लौकिक अभाव से पूर्ण प्रेम को अलौकिक रूप देती है, और उसे ईश्वरोन्मुख कर लेती है। कृष्ण के रूप-गुण का उसपर इतना प्रभाव पड़ता है कि वह इस प्रेम मे अपने को उसी तरह फँसा लेती है, जिस तरह गाढे कीच में हाथी फँस जाता है—

> गड्यो जु मन पिय प्रेम रस क्यो हूँ निकस्यौ जाय।
> कुंजर ज्यो चहलै पर्यौ छिन छिन अधिक समाय॥

कृष्ण के विरह मे व्याकुल हुई रूपमंजरी जब फाग खेलती हुई स्त्रियो से अपने ही अलौकिक प्रियतम श्री कृष्ण के रूप, गुण का वर्णन सुनती है, तो उसके प्रेम की बाढ द्विगुणित हो जाती है। प्रेम-सुधा के पान से वह अपनी सुध-बुध भूल जाती है। इससे स्पष्ट है कि रूपमंजरी का प्रेम किसी लौकिक नायक से नही था। रूपमंजरी के प्रेम द्वारा लेखक ने अपनी माधुर्य-भक्ति का

ही सुन्दर परिचय दिया है। 'रूपमंजरी' मे कृष्ण का जो वर्णन मिलता है, वह भी बल्लभसम्प्रदाय के अनुसार है। पुष्टि-भक्ति मे जो विरहाग्नि का महत्व है, उसका भी वर्णन रूपमंजरी में पाया जाता है—

हौं जानो पिय-मिलन तें, बिरह अधिक सुख होय।
मिलतैं मिलियै एक सौ, बिछुरे सबठौं सोय॥

विरह की अवस्था मे तो प्रेम-पात्र सदैव और सर्वत्र आँखो के आगे ही नाचता रहता है। रूपमंजरी के गृह त्याग तथा उसके कृष्ण-रास मे प्रवेश आदि प्रसगो से भी कवि ने पुष्टि-भक्ति की लोक-मर्यादा से मुक्ति और रास-रस के आलौकिक सुख का ही वर्णन किया है। वृन्दावन के चित्रण में भी आध्यात्मिक दृष्टिकोण पाया जाता है। प्रेम-भक्ति की प्रतिष्ठा करता हुआ कवि कहता है कि यद्यपि भगवान् अगम्य है, तदपि रँगीले प्रेम द्वारा भक्त उनके निकटातिनिकट पहुँच जाता है—

जदपि अगम तें अगम अति, निगम कहत हैं जाहि।
तदपि रँगीले प्रेम ते, निपट निकट प्रभु आहि॥

इस प्रकार 'रूपमंजरी' मे कवि का आध्यात्मिक दृष्टिकोण आद्योपान्त है। कवि ने वास्तव मे एक आख्यानक की ओट मे प्रेम-भक्ति की पद्धति का ही विवेचन किया है। अर्थात सासारिक पति-सुख-सौभाग्य अथवा ससार के सभी माया-मोह की कुरूपता को त्यागकर जब भक्त एक मात्र उस रूपनिधि परमात्मा की प्राप्ति के लिए कातर हो उठता है तभी उसपर भगवान् दयाकर उसे अपना सामीप्य प्रदान करते हैं। रूपमंजरी जब स्वप्न मे वृन्दावन-दर्शन करती है, तो उस वहाँ के द्रुम बेली कुछ मित्र से, परिचित से लगते हैं, रूपमंजरी के इस पूर्व गोपिका सकेत से यही ध्वनित होता है, कि भक्त-भगवान् का शाश्वत सम्बन्ध है।

प्रेमाख्यानक-काव्य—मध्ययुग के प्रेमाख्यानक काव्यो में 'रूपमंजरी' का एक विशिष्ठ स्थान है। नन्ददास ने इस रचना मे प्रेम, सौन्दर्य, विरहदशा, भक्ति आदि का वर्णन एक आख्यानक के द्वारा किया है। प्रेमाख्यानक काव्य

की परम्परा नन्ददास से बहुत पहले आदिकाल (अपभ्रंश काल) से ही चली आ रही थी और इसके कई रूप थे। जैनाचार्य णय णदि मुनि (११वी सदी) के 'सुदंसण चरिउ' (सुदर्शन चरित) में प्रेम-कथा के बीच-बीच मे धार्मिक व्यंजना की पद्धति के हमें सर्वप्रथम दर्शन हुए। इसके पश्चात फारसी के मसनवी ढग पर सूफि प्रेम-कथाओ की नियमित परम्परा हमे १५वी सदी से प्राप्त होती है। स० १४३६ में किसी मुल्ला दाऊद ने फारसी के मसनवी ढंग पर' चदावन' नामक प्रेम-कथा को सर्वप्रथम लिखा था और नन्ददास के समय तक इस परम्परा मे कुतवन की 'मिरगावती' (स० १५६०), जायसी की पद्मावती (स० १५९) और मझन की 'मधुमालनि' जैसी रचनाएं प्रकाश मे आ चुकी थी। इस ढग की रचनाओ के अतिरिक्त नन्ददास से पूर्व 'बीसलदेव रासो', 'सत्यवती' आदि ऐसी कहानियो की भी रचना का आदर्श था जिनमे कोरी साहित्यिक, सामाजिक वा पौराणिक कथाएँ रहती थी और उपर्युक्त सूफि रचनाओ की तरह लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम की व्यजना का इनमे कोई उद्देश्य नही होता था।

नन्ददास ने सर्वप्रथम अपनी प्रेमाभक्ति के निरूपण के लिए पहली पद्धति को अपनाया, जो जैन साहित्य एव सूफि-साहित्य मे धार्मिक प्रचार के उद्देश्य-रूप में प्रचलित हो चुकी थी। अपनी 'रूपमजरी' मे उन्होने न केवल प्रेम-कहानी को अलौकिक रूप दिया, अपितु उसका ढाचा भी वही अपनाया जो जैन-साहित्य तथा सूफियो के यहाँ दोहा-चौपाई के रूप मे प्रचलित हो चुका था।

इस काव्य मे आख्यानक अश बहुत थोडा है। कथा कहना कवि का उद्देश्य भी नही, वह तो उसकी ओट मे 'परम-प्रेम-पद्धति इक आहि। नन्द जथामति बरनत ताहि ॥' मात्र लक्ष्य रखता है। उसे अपनी प्रेम-पद्धति के विश्लेषण से ही मतलब है। 'रूपमजरी' के जीवन की विविध परिस्थितियों, घटनाओ, घात-प्रतिघातो की कोई कल्पना उसने नही की।

"विवाह होने के उपरान्त वह कहाँ रही, श्वसुरालय मे या मायके, तथा उसके पति ने उसके प्रेममार्ग मे कोई अड़चन डाली या नही, इन सब के वर्णन से कवि उदासीन है, उसे तो केवल इतने ही से मतलब है कि भक्त किस प्रकार प्रेम करके भगवान से मिलता है। अतः कथा-भाग मात्र बढ़ाने के लिए उसने इतना वर्णन कर दिया।"[1]

नन्ददास की 'रासपञ्चाध्यायी', 'भँवरगीत', 'विरहमजरी', 'श्यामसगाई' आदि रचनाओ से भी उनकी प्रबंध-शक्ति का कुछ-कुछ परिचय मिलता है, किन्तु उनकी 'रूपमंजरी' से तो स्पष्ट रूप मे प्रमाणित हो जाता है, कि उनमे प्रबन्ध-काव्य रचने की अद्भुत प्रतिभा थी। यदि उनकी साम्प्रदायिक भक्ति-भावना आडे न आती, तो जायसी, तुलसी आदि की तरह नन्ददास से भी हम अवश्य ही कोई उच्च कोटि का प्रबन्ध-काव्य पाते। प्रबन्धकार के पास जो दो प्रमुख शक्तियाँ अपेक्षित हैं—एक प्रसगो की कल्पना तथा उनके तारतम्यपूर्ण नियोजना की क्षमता और दूसरे, इतिवृत्तात्मक तथा अन्य वर्णनो को सरस, सजीव-रूप प्रदान करने की वर्णन-शक्ति—दोनों नन्ददास मे अपूर्व थी, यह हमे उनकी सभी खड-काव्य के रूप मे लिखी रचनाओ, विशेषकर 'रूपमजरी' से स्पष्ट विदित होता है। कवि मे कथाकार की प्रतिभा अपूर्व थी। कथा कहने की शैली तथा वर्णन-शैली नन्ददास की सर्वत्र रोचक रही है। कवि वर्णन के लिए वे ही दृश्य और वस्तु-पदार्थ लेता है, जो सहज ही मानव के रागो को प्रभावित करते हैं। एक प्रबन्धकार के गुण के अनुसार, वह नीरस और व्यर्थ के दृश्य और पदार्थ छोड़ देता है। नन्ददास के कथात्मक ग्रथो मे शृखला और क्रम का ध्यान सर्वत्र रखा गया है। नन्ददास मे कथागत वार्ताशैली की क्षमता भी स्पष्ट है। उनका गोपी-उद्धव संवाद तो उनकी इस प्रतिभा का स्पष्ट प्रमाण है।

"नन्ददास के इस आख्यानक मे प्रेमगाथा-परंपरा की सूफी-पद्धति की भाँति कथा-रूपक की भी एक झलक मिल सकती है। कवि ने जो इसमें स्थान एव व्यक्तियों के नाम दिए हैं, वे प्रायः सभी किसी न किसी रूप में सार्थक

---

१ न० ग्रंथावली—पृ० १०७ (भूमिका)

से जान पड़ते हैं। 'निर्भयपुर' का नाम पढ़ते ही हमें किसी साधक या भक्त की उस मनोदशा का भान होने लगता है, जो उसके चित्त के शात होने की सूचना देती है। वहाँ के राजा 'धर्म-धीर' का नाम पढ़कर हमें जान पड़ता है कि कवि उस भक्त के लिए निज धर्म के आधार पर धीर चित्त होकर साधना में प्रवृत्त होना अत्यन्त आवश्यक समझता है। इसी प्रकार जिस कृष्ण के साथ कवि रूपमंजरी का सयोग कराना चाहता है, वह ज्योतिर्मय परमात्मा है, लौकिक नायक नही। इसलिए कथा के आरम्भ में उसे 'रूपनिधि' का नाम देना हमें इस बात को समझने के लिए तैयार कर देता है कि आगे आने वाला नायिका का 'रूपमंजरी' नाम भी यथार्थतः उसके उक्त परमात्मा का एक अंश या आत्मा होने की सूचना देता है। × × × अतएव कथानक को उक्त प्रकार से रूपक का रूप देने पर प्रतीत होगा कि कवि का प्रमुख उद्देश्य आध्यात्मिक है। × × × × × परन्तु फिर भी इसकी कथा में सूफियो की कहानियो मे प्रदर्शित की गई साधको की उन कठिनाइयो का सर्वथा अभाव है, जिनके कारण उनके प्रतीक नायको पर अनेक प्रकार के सकट आ पड़ते हैं।''[1]

चतुर्वेदी जी का उपर्युक्त कथन मननीय अवश्य है, परन्तु वास्तव मे 'रूपमंजरी' मे कथारूपक की वह दुहरी प्रवृत्ति नही जो दो भिन्न-भिन्न रूपो मे समानान्तर बढ़ती हुई प्रतीत होती है।

इसमे सदेह नही कि 'रूपमंजरी' में सूफी काव्यो के ढंग पर लौकिक प्रेम से आगे अलौकिक प्रेम का चित्रण किया गया है, और स्वप्न-दर्शन तथा चित्र-दर्शन के द्वारा प्रेम के उद्वेलित होने की पद्धति भी सूफि-प्रेम-कहानियो के ढग पर है; इन्दुमति गुरु का-सा कार्य भी करती है, और यहाँ तक कि दोहा-चौपाई की पद्धति भी वही है, पर इतना होने पर भी, 'रूपमंजरी' में भारतीय परम्परा का पालन हुआ है। सूफियो के निर्गुण-निराकार की भावना तथा साधक-आत्मा का 'आशिक' (प्रेमी)

---

१. मध्यकालीन प्रेम-साधना (परशुराम चतुर्वेदी) पृ० १४२-४३

पुरुष-रूप और परमात्मा का 'माशूक' (प्रियतमा) रूप न अपना कर नन्ददास ने भारतीय-वैष्णवी-भावना का ही चित्रण किया है। इसमें रूपमजरी प्रेमिका है, और वह सगुण-साकार श्री कृष्ण से प्रेम करती है।

ग्रंथ की कथा का सारांश इस प्रकार है—निर्भयपुर एक बड़ा भव्य नगर है, वहाँ का राजा धर्मधीर अपने नाम के अनुरूप बड़ा धर्मात्मा था। उसकी एक बहुत ही रूपवती कन्या रूपमजरी थी। जब वह विवाह के योग्य हुई, तो उसके माता-पिता ने उसके अनुरूप कोई सुयोग्य वर ढूंढने का विचार किया। वर की खोज का कार्य उन्होंने एक ब्राह्मण को सौंपा, जिसने लोभवश रूपमजरी का विवाह किसी 'क्रूर' और 'कुरूप' अयोग्य वर से करा दिया। रूपमंजरी के माता-पिता को बड़ा :ख हुआ। रूपमजरी की मूक नारी आत्मा भी छटपटा उठी, और वह पति से उदासीन रहने लगी। उसकी एक इन्दुमति नाम की सखी थी जो उसे बहुत प्यार करती थी। इन्दुमति भी अपनी सखी रूपमंजरी की शोचनीय दशा पर सदैव चिंतित रहती थी। इन्दुमति रूपमंजरी के रूप-लावण्य पर मुग्ध थी। वह अब इस विचार मे रहने लगी कि किस प्रकार इसके कष्ट का निवारण हो। वह सोचती थी कि रूपमजरी का अद्भुत रूप किसी रूप-गुण-सम्पन्न नायक के उपभोग योग्य है। इस लोक मे उसे उसके अनुरूप कोई नायक नही दीख पड़ा। अतः रूपराशि श्री कृष्ण ही उसे उसके लिए एकमात्र योग्य प्रतीत हुए। उसने कृष्ण के अलौकिक रूप की ओर उसका ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न किया। उसने रूपमंजरी के हृदय में कृष्ण के प्रति प्रेम-भाव को जागृत करके, उसे उपपति के रूप मे वरण करने के लिए प्रेरित किया। लौकिक नायक सब नश्वर हैं, और साथ ही उनके साथ किया प्रेम भी अस्थिर और अस्थायी होता है, अतः इन्दुमति ने कृष्ण के स्थायी और निरन्तर प्रेम के लिए उसे तैयार किया। उसने कृष्ण के रूप और गुणों का वर्णन उसके आगे किया, और एक दिन रूपमंजरी को गोवर्द्धन-पर्वत पर ले जाकर उस लावण्य की मूर्ति कृष्ण के दर्शन कराये। इन्दुमति श्री कृष्ण भगवान से सदा यह प्रार्थना भी करती रही कि हे

भगवान् ! मेरी इस सखी पर कृपा कीजिए। एक दिन रूपमंजरी ने कृष्ण को स्वप्न में भी देखा और वह उनके रूप-लावण्य पर मुग्ध होकर उनके विरह मे तड़पने लगी। इन्दुमति ने उसे सान्त्वना देकर बार-बार आशान्वित किया। फिर दूसरे स्वप्न मे रूपमंजरी को भगवान् कृष्ण के साथ संयोग का सुख भी प्राप्त हो गया, जो अद्भुत था, और जिससे वह आनन्द-विभोर हो गई। 'कृष्ण-प्रेम मे मतवाली रूपमंजरी एक दिन अपनी सखी से भी छिपकर वृन्दावन चली गई।[१] पीछे उसकी सखी इन्दुमति भी उसे ढूंढती हुई वहाँ पहुँच गई। वहा उसने अपनी सखी रूपमंजरी को कृष्ण के रास-रस का आनन्द लूटते देखा। इस अलौकिक दृश्य के दर्शन से इन्दुमति भी आनन्दमग्न हो गई, और इस प्रकार रूपमंजरी का ही नहीं बल्कि उसकी संगति से इन्दुमति का भी उद्धार हो गया।

'रूपमंजरी' का काव्य-सौन्दर्य भी उत्तम है। शृंगार-रस का इस रचना मे सुन्दर परिपाक हुआ है। आगे हम नन्ददास के भाव-जगत-प्रकरण मे 'रूपमंजरी' की भावगत विशेषता का विस्तार से उल्लेख करेगे। 'रूपमंजरी' मे प्रकृति-चित्रण व ऋतु-वर्णन भी बहुत सुन्दर बन पड़ा है। प्रकृति-चित्रण-प्रकरण मे हम उनके ऋतु-वर्णन की मार्मिकता दिखा चुके हैं, यहा दोहराना व्यर्थ कलेवर-वृद्धि होगा। आध्यात्मिक भावना के साथ-साथ भावोत्कर्ष 'रूपमंजरी' की अपूर्व विशेषता है। नन्ददास की भाषा-शक्ति और वर्णन तथा प्रबन्ध-शक्ति का भी पूर्ण परिचय इस ग्रंथ मे मिलता है। रचना का शास्त्रीय आधार भी पुष्ट है, जिससे कवि की कवित्व-शक्ति का पूरा पता चलता है। दोहा-चौपाई शैली का कवि ने इसमें सफल प्रयोग किया है।

'रूपमंजरी' की एक विशेषता यह है कि इस रचना के द्वारा तत्कालीन सामाजिक रीति-रिवाजो, सस्कारो पर भी कुछ प्रकाश पड़ा है। मध्ययुग मे ब्राह्मणो और पुरोहितो को ही कन्या के लिए वर ढूंढने का काम सौंपा जाता

---

१. यह अन्तिम प्रसग भाई बलदेवदास वाली प्रति में मिलता है। 'नन्ददास-ग्रंथावली' में संग्रहीत 'रूपमंजरी' में यह प्रसग नहीं है।

था। जब रूपमंजरी 'ब्याहन-जोग' होती है, तो उसके माता-पिता अपने पुरोहित को बुलाते हैं—

करि विचार निज विप्र बुलायौ। बार बार सब बिधि समुझायौ ॥
अहो बिप्र धन लोभ न कीजै। या लायक नाइक कौ दीजै ॥

पुरोहितो और पडितो मे लोभ-वृत्ति बढ रही थी। पुरोहित, लोभ-वश तथा कुबुद्धि के कारण, चाहे जैसा वर ठीक कर सकता था। अनमेल विवाह होने पर नारी की आत्मा सदा रोती और विधाता को ही कोसती रहती थी।

होलिका और फाग आदि उत्सव-त्यौहारो का भी सजीव उल्लेख हुआ है। जनता मे झाड-फूक, भूत-प्रेत आदि के सम्बन्ध मे अध-विश्वास विद्यमान था। जब रूपमंजरी अपने प्रिय-कृष्ण का ध्यान कर मूर्छित हो जाती है, तो उसकी सखी सहचरी दूधादि मिष्ठान्न खाकर घर से निकलने के कारण छाया होने की कल्पना करती है—

कहु जानौ कछु छाया पाई । दूध भात घर खाय ही आई ॥

माता भूत-प्रेत के छूने की आशका करती है, और झाड-फूंक, जत्र मत्र द्वारा उसे दूर भगाने का उपाय सोचती है—

छाति लगाय जननि इमि कहै। कवन भूत जो तो तन चहै ॥

X X X X X X X

भूतावेस अवसि है भाई । दौरहु कछु इक करहु उपाई ॥
सखी कहै कछु बोलि किहि आनौ। एक मत्र अरु हौहू जानौ ॥
कहसि है दुख अकुलानि रानी। तब लग तूही झारि सयानी ॥

नजर लगने, शकुन-अपशकुन आदि के सस्कार और विश्वास भी विद्यमान है।

'रूपमंजरी' नन्ददास की 'रासपंचाध्यायी' और 'भँवरगीत' के साथ तीसरी उत्कृष्ट रचना है। इसकी काव्यगत विशेषताएँ 'रासपंचाध्यायी' और 'भँवरगीत' से किसी प्रकार कम नही हैं। भाव और कला तथा कवि की आध्यात्मिक-भावना—तीनो का सुन्दर निर्वाह इस रचना में हुआ है। प्रेम-जीवी नन्ददास के व्यक्तित्व की पूर्ण छाप रचना मे पाई जाती है।

नन्ददास का भाव-जगत

यौवन, सौन्दर्य, विलास और प्रेम के कवि नन्ददास के काव्य में शृंगार की जो सरस मन्दाकिनी प्रवाहित हुई है, वह अद्भुत है। नन्ददास कोमल भावों के ही कवि हैं, और रति भाव के ही विविध रूपों का चित्रण इनके काव्य की विशेषता है। अष्टछाप के सभी कवि कोमल-भावनाओं के कवि हैं। अन्य अष्टछाप के कवियों की भाँति नन्ददास ने भी रति के कई रूप—शृंगार (दाम्पत्य) रति, वात्सल्यरति, भगवद्रति आदि का ही चित्रण किया है। नन्ददास अपने जीवन की किशोर-अवस्था से ही बडे रसिक जीव थे, यही कारण है कि उनकी कविता यौवन; सौन्दर्य और विलास से परिपूर्ण है, बेशक उन्होने इस विलासमय भावना का उदात्तीकरण कर लिया है, और उसे भगवद्लीला के रूप में प्रकट किया है। उनके काव्य मे शृंगार रस की ही प्रधानता है। कवि अपना शृंगारिक-भावना से ही भक्त बना है, रसिकता और सरसता उसके व्यक्तित्व का अविभाज्य अंग है। फिर भला शृंगार-रस का चितेरा कवि रस-विहीन कविता को कैसे सहन कर सकता? वह "रसमय सुरसुति" से सरस-वचन लिखने का ही वर माँगता है। शृंगारी-प्रकृति वाले कवि की निम्न पंक्तियाँ देखिए—

रसमय सरसुति के पग लागौ। अस अक्षर द्यो इहि वर माँगौ॥
सुन्दर कोमल बचन अनूठे। कहत सुनत समुझत अति मीठे॥
नाहिन उघरे गूढ न ऐसे। मरहठ देस-वधू-कुच जैसे॥
पुनि कवि अपने मन मे गुनै। मो कवित्त कोउ निरस न सुनै॥
रस विहीन जे अच्छर सुनही। ते अच्छर फिरि निज सिर धुनहीं॥
बाला-स्मित कटाच्छ अरु लाजा। अंधरे बालम कै किहि काजा॥
ज्यों तिय सुरत समय सितकारा। निफल जाहिं जौ वधिर भतारा॥
कवि अच्छर अरु तरुनि-कटाछे। ए दोउ सुलग लगैं हिय आछे॥
जो हिय अच्छर-रस नहिं भिदै। सो हिय अर्जुन-बान न छिदै॥

उपर्युक्त लम्बा उद्धरण यहाँ विशेष अभिप्राय से दिया गया है। सर्व-प्रथम तो हम इससे यह दिखाना चाहते है कि कवि सरस-कविता रचने के ही हक मे है, साथ ही वह पाठको को भी सरस-कविता से प्रभावित देखना चाहता है। जो हृदय 'सरस-अच्छरों' से बिध नही जाता, उसे 'पखान' ही समझना चाहिए। दूसरे, कवि ने अपना उपर्युक्त विचार प्रकट करने के लिए जो उपमान-योजना की है, उससे हम यह सिद्ध करना चाहते हैं कि नन्ददास मूल रूप में शृंगार, विलास, यौवन और सौन्दर्य के ही कवि हैं। नन्ददास के काव्य मे कृष्ण-भक्ति और शृगार की भावना दोनो इस प्रकार साथ-साथ चलती है, कि इस बात का निर्णय करना कठिन-सा प्रतीत होता है कि वे मूलरूप मे शृंगारी-कवि हैं, अथवा भक्त-कवि। वास्तव में कवि के जीवन तथा उसके काव्य की अतिशय शृंगारिक-प्रवृत्ति को देखते यही कहना पडता है कि मूल रूप मे नन्ददास शृगारी कवि थे। गो० विट्ठल नाथ जी ने उनकी लौकिक शृंगार-भावना को कृष्णोन्मुख कर दिया, अतः इस प्रकार उसका उदात्तीकरण होगया। कृष्ण-भक्ति के कारण उसकी लौकिकता, स्थूलता, ऐन्द्रिकता आदि भी उदात्तीकृत होगई। शारीरिकता एवं ऐन्द्रिक-स्थूलता समाप्त न होकर पुष्टि-भक्ति के अनुसार कृष्णाभिमुख होगई। सौभाग्य से नन्ददास को अपनी मूल-भावना के अनुरूप ही माधुर्य-भाव की विशिष्ट पुष्टि-भक्ति प्राप्त हुई। अतः वे लौकिक-शृगार-भावुक से माधुर्य-भक्ति के भक्त बन गए। उनका व्यक्तित्व लौकिक-रसिक से अलौकिक-भावनाओ के रसिक भक्त के व्यक्तित्व में परिवर्तित हो गया।

'अष्टछाप' कांकरौली मे नन्ददास की वार्ता ५ मे लिखा है कि एक बार जब तुलसीदास नन्ददास को वापिस बुलाने के लिए स्वयं उनके पास गए, और गोविन्दकुण्ड पर नन्ददास से कहा कि मेरे साथ चलो और अयोध्या, काशी या चित्रकूट जहाँ मन लगे वहाँ रहो, तब नन्ददास ने उत्तर मे यह पद गाया —

जो गिरि रुचे तो बसों श्रीगोवर्धन, ग्राम रुचे तो बसौ नन्द गाम ।
नगर रुचे तो बसो श्रीमधुपुरी सोभा सागर अति अभिराम ।।
सरिता रुचे तो बसो श्री-जमुना तट सकल मनोरथ पूरन काम ।
'नन्ददास' कानन रुचि बसबो सिखर भूमि श्रीवृन्दावन धाम ।।

"तुलसीदास ने गो० विट्ठलनाथ जी से भी नन्ददास की विषयासक्ति छूट जाने और भक्त होने का कारण पूछा। तब उन्होंने उत्तर दिया कि नन्ददास पहले ही से उत्तम पात्र था। पुष्टिमार्ग में आने से इसकी व्यसनी अवस्था सिद्ध-अवस्था में बदल गई है, और अब यह दृढ हो गई है। तुलसीदास वापिस चले गए।"

उपर्युक्त वार्ता कथन से भी नन्ददास के व्यसनी से सिद्ध होने की पुष्टि होती है। सिद्ध होने के पश्चात् नन्ददास ने कृष्ण की अतिशय शृंगारी लीलाओं का चित्रण भक्त के नाते ही किया है, शृंगार के रूप में नहीं। 'श्रीकृष्ण सिद्धान्तपंचाध्यायी' में इसी लिए वे कृष्ण-लीला के सम्बन्ध में स्पष्टरूप से कहते हैं—

नाहिन कछु शृंगार कथा इहि पंचाध्यायी।
सुन्दर अति निरवृत्त परा ते इती बडाई ।।
× × × ×
जे पंडित शृंगार ग्रंथ मत यामें सानै।
ते कछु भेद न जानै हरि को विषई मानै ।।

नन्ददास स्पष्ट कर देते हैं कि इसे लौकिक शृंगार मानना भूल होगी, उसी प्रकार नन्ददास को लौकिक शृंगार का चितेरा मानना भी उन्हें ठीक समझने में भूल करना होगा। अतः नन्ददास मूल रूप में शृंगारी-कवि हैं, परन्तु उनका शृंगार लौकिक धरातल से ऊंचा उठकर अलौकिक हो गया है, जिसके कारण वे शृंगारी-भक्त बन गए हैं।

किन्तु अनेक स्थलों पर उनका भक्त रूप शृंगार की लौकिकता से दब जाता है, जिसके कारण शृंगार की कुरुचिरता उभर आती है। नन्ददास

की इस अश्लील प्रवृत्ति पर तत्कालीन वातावरण का भी प्रभाव है। वल्लभ-सम्प्रदाय में ही मन्दिरो की व्यवस्था और कृष्ण-लीलाओं के समारभ में अश्लीलता आने लगी थी। कृष्ण-गोपियों के जार-भाव अथवा परकीया-प्रेम को मान्यता मिलने के कारण मन्दिर के अधिकारियों, भक्तो और कृष्ण-लीला-गान करने वालों की भावनाओ मे विकार अवश्य आने लगा था। कृष्णदास अधिकारी के वेश्या सम्बन्ध से इसका पुष्ट प्रमाण मिलता है। अत: इस अवैध-रति की प्रवृत्ति नन्ददास मे भी इसी कारण पाई जाती है। नन्ददास की अनेक उपमाओ मे, तथा शृंगार चित्रण के अनेक स्थलों पर यह परकीया-अवैध-रति और शृंगार का स्थूल शारीरिक, अश्लील, चित्रण पाया जाता है। कही-कही तो इस प्रवृत्ति के कारण उन के काव्य मे अनौचित्य का दोष भी आ गया है। हरि-लीला-अनुराग की उपमा कवि लम्पट के पर-तियानुराग में ढूंढता है—

जाको सुन्दर श्याम-कथा छिन-छिन नई लागै।
ज्यौ लंपट पर-जुवति-बात सुनि अति अनुरागै॥ (रासपंचाध्यायी)

परकीया के अवैध-प्रेम तथा अश्लील शृंगार का चित्रण कई स्थलों पर हुआ है, जिससे कवि की लौकिक स्थूल-वृत्ति का स्पष्ट आभास होता है। वस्तुत: स्थूल शृंगार वर्णन की यह परम्परा बहुत प्राचीन है। हमारा संस्कृत और प्राकृत साहित्य भी इससे भरा पड़ा है। विद्यापति, जायसी, सूर आदि सब के काव्य में यह स्थूल-शारीरिकता, जो अश्लीलता को छूती है, पाई जाती है। हमारे यहा जीवात्मा और परमात्मा के संयोग-सुख की, अर्थात ब्रह्मानन्द की पुरुष-नारी के संयोग-आनन्द से उपमा दी जाती रही है। यही कारण है कि सिद्धों तक के महासुख की भावना को युगल-नद्ध से स्पष्ट किया गया है। इसी के कारण वामाचार आदि मार्गों मे लौकिक व्यभिचार की वृद्धि हुई। माधुर्य-भक्ति का आधार भी यही भावना है। परन्तु कृष्ण-भक्त-कवि कृष्ण की लीलाओ के वर्णन में जब उनका स्थूल-रूप व्यक्त करते हैं, तो आध्यात्मिकता का आवरण बिल्कुल हट जाता है। यदि जीव और ब्रह्म के सयोग का आनन्दानुभव पुरुष-नारी के संयोग के रूप मे साकेतिक ही रखा जाय, तब तो ठीक

है, आध्यात्मिकता सुरक्षित रह सकती है, किन्तु जब रास-मिलन में नन्ददास कहने लगते हैं—

विलसत विविध विलास हास नीवी कुच-परसत ।
सरसत प्रेम अनग रंग नव घन ज्यौ बरसत ।।
× × × ×
ताहि साँवरो कुँअर रीझि हँसि लेत भुजनि भरि ।
चुंबन करि सुख-सदन बदन तै दै तमोल ढरि ।। (रासपचाध्यायी)

तथा 'रूपमजरी' मे

बोलि बोलि मादक मधुबानी । कुँवर निहोरि कुंज मैं आनी ।।
का कहिये तिहि कुंज निकाई । जनु सुख पुंजन ही करि छाई ।।
तामे सेज सुपेसल ऐसी । आल बाल रति-बेली जैसी ।।
कछु छल कछु बल कछु मनुहारि । लै बैठे तहँ लाल बिहारी ।।
मन चह रम्यो चहै तन भयो । कामिनी के इक कौतुक लयो ।।
× × × ×
प्रथम समागम लज्यति तिया । अचल पवन सिरावति दिया ।।
दीप न बुझहि बिहँसि बर बाला । लपटि गई पिय उरसि रसाला ।।
× × × ×
सब निसि के जागे अनुरागे । रंचक सोय गए उर लागे ।।
× × × ×
जागि कुँवरि अपने घर आई । अपने गौने कुँवर कन्हाई ।।
सेज ते उठति सुरत रस माती । सखि तन मधुर मधुर मुसकाती ।।
सगबगी अलकै श्रमकन झलकै । सोहति पीक पगी द्रग-पलकै ।।
राजत नैन पीक रस पगे । हँसि हँसि हरि प्रीतम सुख लगे ।।

संभोग का जब ऐसा स्थूल-चित्रण करने लगते हैं, तो यह सब कवि की अलौकिक भावना के झीने पर्दे को फाड़ डालता है, और मूल शृंगारिक प्रवृत्ति को प्रकट करता है ।

शुद्ध-रस की दृष्टि से नन्ददास के काव्य मे शृगार-रस का ही प्राधान्य है। यद्यपि रीतिकाल के रीतिबद्ध कवियो की तरह नन्ददास के सामने शास्त्रीय-शृगार का चित्रण करना उद्देश्य नही था, और न ही इस काल के बिहारी आदि रीतिसिद्ध कवियो की तरह रीति-शास्त्र को उन्हो ने साधन रूप मे उस प्रकार अपनाया है, तो भी उनके काव्य मे शृगार-रस का सागोपाग अध्ययन किया जा सकता है। रामकाव्यकार गो० तुलसीदास के मर्यादित शृगार-चित्रण से इन अष्ट-कवियो का शृंगार-चित्रण बिल्कुल भिन्न है। यह एक तरह से जयदेव और विद्यापति की शृगार-परम्परा में आता है। तुलसीदास के शृगार-चित्रण मे वह रूप-लिप्सा, रूपासक्ति, सौन्दय-भावना, उद्दामता और उष्णता कहाँ, जो इनमे पाई जाती है। सूरदास, नन्ददास, कुंभनदास ने शृगार-रस को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। नन्ददास के काव्य मे शृंगार के सयोग-वियोग दोनों पक्षो के अन्तर्गत नखशिख-वर्णन, रूप-चित्रण, वयसधि, यौवनागम, षड्ऋतु-बारहमासा-वर्णन, हाव-भाव, अनुभाव-विधान, हिंडोला, फागोत्सव, पूर्वानुराग, रूपासक्ति, मान के सभी रूप, प्रवास, स्वकीया-परकीया भावना, नायिका-भेद आदि सभी पक्षो का बहुत सुन्दर चित्रण हुआ है। "हौ जानों प्रिय मिलन तैं, बिरह अधिक सुख होय। मिलतै मिलियै एकसौ, बिछुरै सबठौ सोय॥"—कहने वाले कवि के काव्य मे संयोग की अपेक्षा विरह के आधिक्य और मार्मिकता का पाया जाना उचित ही है। तो भी नन्ददास का संयोग-शृंगार भी बहुत व्यापक और मार्मिक है।

रूप-चित्रण—नखशिख-वर्णन:-शृंगार के विभाव पक्ष मे आलम्बन का रूप-चित्रण बहुत महत्त्व रखता है। नन्ददास में, जैसा कि हम कई स्थानों पर कह आए हैं, रूप-चित्रण की अद्भुत शक्ति थी। 'रूपमंजरी' में उन्होंने रूपमंजरी का जो सुन्दर रूप-वर्णन किया है, वह कवि की सौन्दर्य-दृष्टि एव वर्णन-शक्ति का परिचायक है। पहले कवि ने रूपमंजरी के स्निग्ध, चंचल, मधुर एवं स्वच्छ बालापन का वर्णन किया है। उसका अगप्रत्यंग पवित्रता एवं शोभा का प्रकाश पुंज है। वह मानो मृग की चंचल-छौनी है। उसके रूप को

देखकर घन अपनी शीतल छाया करते हैं, मानो वह दूसरी 'समुद्र की बेटी' है-

> सो मोहती अस बैस कुमारी । हिम गिरिवर जनु हिमवत बारी ।।
> लटकि लटकि खेलत लरिकाई । लरिक समै जनु भूषण पाई ।।
> मृग की मानो चंचल छौनी । पावन करति फिरति छवि औनी ।।
> देखि रूप घन छाया करही । पसु पछी सब गौहन फिरही ।।

उसके श्यामल केश बिना तेल-फुलेल ही चमकने और सुगंधित रहने वाले है । उसकी भौहे "बालक मनमथ की सुन्दर धुनही" के समान हैं । उसका अंग-अंग टोने से भरा है, उसकी रूप-छवि जग को प्रकाशमान करने वाली दीपक की एक ज्योति है, जिसमे सभी नर-नारियों के नेत्र पतंग बन-बन कर गिर रहे हैं—

> बाला बैसंधि रूप जनु, दीप जग्यो जग ऐन ।
> उडि उडि परही पतग जिमि, नर नारिन के नैन ।।

वयः संधि:-नन्ददास ने रूपमंजरी की वयःसंधि का बडा ही अनूठा चित्रण किया है । इस प्रकार का मार्मिक कल्पनायुक्त चित्रण हिन्दी साहित्य मे विरल है । रूपमंजरी का रूप चन्द्रमा की कला के समान दिन-दिन बढता गया और यौवन आने पर—

> जुबन-राव जब उरपुर लयो । सैसव-राव जघन-बन गयो ।।
> अरन लगे तब दोऊ नरेसा । छीन परयो तब तिय मधि देसा ।।
> तिय-तन-सर बालापन पानी । जोवन तरनि किरनि अधिकानी ।।
> जिमि जिमि सैसव-जल उथुराने । तिमि तिमि नैन-मीन इतराने ।।

कितना सुन्दर रूपक बाधा गया है। कटि के क्षीण होने की ऐसी कल्पना प्रातिभ कवि ही कर सकता है। यौवन की उष्ण किरणो से बालापन का पानी घट जाने के कारण नैन रूपी मछलियो का इतराना—कैसी सुन्दर कल्पना है !

जब वह सरोवर में स्नान करने जाती है, तो उसके शरीर की सुगंध पर मस्त होकर भ्रमर कमलों को छोड़ उसकी ओर दौड़े आते हैं ।

गौर-वर्ण-शरीर तपे हुए वर्ण के रंग को भी मात देता है। ऊबटन और स्नान से उसका शरीर इस प्रकार खिल उठता है, कि बिजली की चमक भी लजा कर छिप जाती है। शीश-कुसुम की सुगंध और शोभा न्यारी ही है। उसकी बेनी नागिन के समान लहराती है, और जो इसे बुरी दृष्टि से देखने का विचार करता है, वह उसे डस जाती है—

गौर बरन तन सोभित नीको। औटे कंचन कौ रंग फीकौ॥

x x x x

उबटन उबटि अँगन अन्हवाई। वोपी दामिनी लोपी माई॥
सीस कुसुम गुंथिन छबि ताही। मनहुँ मदन मृग कानन आही॥
बेनी बनी कि सपनि सुहाई। बुरी दृष्टि देखै तिहि खाई॥

उसके शिशु-चरणों की चंचलता यौवन काल में अब नैनों में भर गई है, ये चंचल नेत्र अब रोकने टोकने लगे हैं। नेत्रों के चित्रण द्वारा यौवन की अनुराग-भरी अवस्था का कैसा चित्र कवि ने उपस्थित किया है—

लरिकपना-पग चंचलताई। चली छबीली नैननि आई॥
इत उत चहनि चलनि अनुरागे। बात करन कानन सौं लागे॥

इसी प्रकार कवि ने रूपमंजरी की नासिका, कपोल, मधुर अधर, दांत, चिबुक आदि सब अंगों का वर्णन सुन्दर उत्प्रेक्षाओं द्वारा किया है, जो अधिकतर परम्पराभुक्त ही है। यही नहीं, कवि ने रूपमंजरी के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए द्युति, लावण्य, रूप, माधुर्य, कान्ति, रमणीयता, सुन्दरता, मृदुता एवं सुकुमारता आदि अगज अलकारों का भी बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

दुति तिय तन अस दीन्हि दिखाई। सरद चंद जस झलमलताई॥
ललना तन लावन्य लुनाई। मुकताफल जस पानिप झाई॥

'नाममाला' में भी कवि ने मानिनी राधा के रूप-चित्रण में कमाल कर दिया है। कवि की उत्प्रेक्षाएँ रूप-चित्रों को चित्रपट के समान प्रकट करती हैं। एक दो उदाहरण देखिए। राधा की "कुंतल लट ल्लाट"

पर ऐसी प्रतीत होती है मानो चन्द्रमा में दरार पड गई हो। उसके ललाट पर बेंदी मानो भाग्य-मणि बनकर बाहर प्रकट हो रही है; उसके आक्रोश से पूर्ण नेत्र मानो "जावक भीजे मीन है"

कुंतल कबरि ललाट जनु, चदहि गई दरार ।।

x x x x x

मस्तक, अलिक, ललाट पर, बेंदी बनी जराय ।
मनो भाल तें भाग्य-मनि, प्रगटी बाहर आय ।।
कछु रिस राते नैन जनु, जावक भीजे मीन ।।

गोकुल की पनिहारी का एक रूप-चित्र देखिए—

गोकुल की पनिहारी, पनिया भरन चली,
बडे-बड़े नैन तामे खुभि रह्यो कजरा ।
पहिरै कसूमी-सारी, अँग-अंग छवि भारी,
गोरी-गोरी बाहन मे मोतिन के गजरा ।।
सखी सग लियै जात, हँसि, हँसि करत बात,
तन हूँ की सुधि भूली सीस धरे गगरा ।।
'नददास' बलिहारी, बीच मिलै गिरधारी,
नैननि की सैननि मे भूलि गई डगरा ।। (पदावली)

और जिस गिरधारी की "नैननि की सैननि" में ब्रजबालाएँ अपनी सुध बुध भुला बैठती थी, उसके रूप-माधुर्य का क्या कहना ? बाँकेबिहारी का वह बाँकपन कितना अद्भुत हे, जो गोपियो के हृदय मे अड जाता है—

धरे बांकी पाग, चद्रिका बाकी, बाँके बने बिहारी लाल ।
बाकी चाल चलत, बाकी गति सो, बाँके बोलत वचन रसाल ।।
बाको तिलक, बंक-भृगु-रेखा, बाकी पहिर गुंजन की माल ।
सुन्दर-बदन पीताम्बर सोहै, बजवत मुरली मधुर रसाल ।।
गोबरधन अपुने कर धरिकै, बाँके भये श्री नद-गुपाल ।
बाकी खोर, खोर साँकरी बाकी, हम सूधि है गिरिधर लाल ।
'नन्ददास' प्रभु सूधे किन बोलौ, सब सूधी बरसाने की ग्वाल ।। (पदावली)

इस बांके बिहारी के रूप-लावण्य पर मुग्ध हुईं ब्रज-बालाएं उस छवि की ओर देखती की देखती रह जाती हैं। उस रूप-माधुर्य का पान करती वे अघाती नहीं। इस रूप-लिप्सा मे युग-युग की प्यास भरी है। गोपियाँ एकटक देखना चाहती हैं, झपकने वाली पलकें भी उन्हें वैरिन प्रतीत होती हैं—

देखन दै मेरी बैरन पलकैं।

नँद नंदन मुष ते आलि बीच परत मानों बज्र की सलकैं॥
बन ते आवत बेनु बजावत गो-रज-मंडित राजत अलकैं।
कानन कुंडल चलत अँगुरि दल ललित कपोलन में कछु झलकैं॥
ऐसो मुख निरखन कों आली कौन रची बिच पूत कमल कैं।
'नन्ददास' सब जड़न की इहि गति मीन मरत भायें नहि जलकैं॥

ब्रजबालाएँ पनघट पर पानी भरने जाती हैं, वहाँ कृष्ण की माधुरी-मूर्ति देखकर सुधबुध खो बैठती है, पानी के स्थान पर हृदय मे नेह का सरस जल भर लाती हैं और कृष्ण के रूप-दर्शन की चटपटी-सी लग जाती है—

जल कौ गई सुधि बिसराई, नेह भर लाई,
परी है चटपटी दरस की।

उस साँवरे रूप की बाकी चितवन से प्रेम-ठगौरी-सी लग जाती है, गोपियाँ उसके हाथों बिक जाती हैं, उनका मन उसी प्रकार मिल जाता है, जिस प्रकार 'सारँग में पानी'—

आवत ही जमुना भरि पानी।
स्याम रूप काहू कों ढोटा, बाँकी-चितवन मेरी गैल भुलानी॥
मोहन कह्यो तुम को या ब्रज मे, नहिं जानी पहिचानी।
ठगि-सी रही, चेटक सों लाग्यो, तब तें व्याकुल फुरत न बानी॥
जा दिन तैं चितवो री मो तन, ता दिन ते उन हाथ बिकानी।
'नंददास' प्रभु यौं मन मिलि गयो, ज्यों सारँग मे पानी॥ (पदावली)

कृष्ण-रूप-दर्शन की प्यास ग्वालिनों को हरदम व्याकुल किए रहती है। वे नन्द महर के आँगन में बार-बार किसी न किसी बहाने आती हैं, 'मोहिनी

मूरति के देखे बिना उन्हे चैन ही नही पडती । दीपक जलाने के बहाने आती हैं, दीपक को वापिसी मे दो कदम पर बुझा देती है, और हवा निगोडी को गाली देती हुई फिर दीपक जलाने के बहाने उस रूप-सागर का पान करती हैं। कैसा मनोवैज्ञानिक चित्रण है—

मिसही मिस हो आवे गोकुल की नार ।
नद महर के आँगन मोहन मुरति बिना देखेहुँ न परे कल
भूलि काम धाम आछो वदन निहार ॥
दीपक ले चलि बार बाट मे वरो कर डार ।
फेरि आवे नंद द्वार वायरे को देति गार ।
'नन्ददास' नंदनँदन सु हो लागे नयनाँ .
पलक की ओट मानु री बिते जुग चार ॥

इस प्रकार कृष्ण के रूप-वर्णन के साथ-साथ, गोपियो के मन पर इस रूप-माधुरी और ठगौरी के प्रभाव का भी बडा मुग्धकारी चित्रण नन्ददास ने किया है । कृष्ण के सुन्दर मुख को देखने के लिए गोपियाँ व्याकुल रहती है। गुरुजनों और लोक-लाज के भय से अपनी विवशता की स्थिति के प्रति भी विद्रोह करके वे कृष्ण-मुख देखने के लिए तैयार रहती हैं । उनके संतप्त नैनो को उस 'सौन्दर्य-राशि' को छोड़कर और क्या वस्तु शीतलता प्रदान कर सकती है ? एक गोपी के सुन्दर भाव देखिए—

साँवरो पीतम जहाँ बसै सो कित है वोहि गाँव री ।
पख नही तन विधना दई नातरु अब उड़ि जाँव री ॥
अब उडि जाऊँ डराउँ न काहू मोहन मुख देख आऊँ री ।
ससि ते सहस गुन सखी सीतल तपते नैन सिराऊँ री ॥ (पदावली)

अभिलाषा का कैसा सुन्दर उदाहरण है ! इस अभिलाषा की पूर्ति का अवसर भी आता है । गोपी-कृष्ण की मिलन-यामिनी आती है । गोपी का आन्तरिक उल्लास देखिए, वह चन्द्रमा से यही विनय करती है, कि तू स्थिर रहकर अपनी शुभ्र-ज्योत्स्ना को बिखेरे रह, ताकि प्रभात होने ही न पावे—

आजु मेरे आए माई नागर नन्द किशोर।
चन्दा रे तू थिर ह्वै रहियो, हौनैं न पावै भोर॥
दादुर मोर, पपैया बोलो, बोलो और चकोर।
'नन्ददास' प्रभु जिन वे बोलो निरवारी तम-चोर॥ (पदावली)

कबीर की 'दुलहिन गावहु मंगलाचार' आदि पंक्तियों से कम मिलनोल्लास उपर्युक्त पंक्तियों में नहीं है। वर्षा की सुहानी ऋतु मे कृष्ण और राधा का मिलन होता है। पचरंगी चोलों और राग-रग भरे वातावरण का कैसा सुन्दर मेल हुआ है—

लाल सिर पाग लहरिया सोहै।
तापर सुभग–चन्द्रिका राजत, निरखि सखी मन मोहै॥
तैसोई चीर-लहरिया पहिरै सोभित राधा-प्यारी।
तैसेइ घन उमड़े चहुँ-दिसि तें, 'नन्ददास' बलिहारी॥

और सावन के 'हरियारे' वातावरण मे राधा-कृष्ण 'हिडोर' झूलने लगे। यमुना तट के सुहावने वातावरण मे, जहाँ मोर भी अपनी मधुर ध्वनि और नृत्य से वातावरण को मादक बना रहे है, दोनों की 'जोरी' कैसी बनी है-

माई झूलत नवल लाल, झुलावत ब्रज की बाल,
कालिन्दी के तीर माई रच्यो है हिडोरनाँ;
तैसेई बोलै मोर, क्रीड़ा करैं चहुँ-ओर,
तैसेई मधुर-धुनि लाग्यो घनघोरना॥ (पदावली)

फागुन की बसंत ऋतु में ब्रज-मडल की फाग-होली का क्या कहना? अनुराग भरी पिचकारियाँ कृष्ण और गोपियों के बीच चलने लगती हैं। रग के छीटो से भरे गोपियो के अंग ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो प्रेम की ललित लताएँ फूल रही हों, यह सरस अनुराग अद्वितीय है। कृष्ण को देखकर ब्रज-बालाएँ होली खेलने के लिए दौड़ आईं—

जुरि आईं ब्रज बाल मृगनैननि गजगवनि।
छवयो है साँवर लाल, घन घेर्‌यो जनु दामिनी॥

छिरकत पिया नन्दलाल, प्यारी पट ओट बचावहीं ।
मनु घन पूरन चंद, दूर निकट पुनि आवहिं ।।
बने त्रियन को अग छिरकि छिट छवि छैल की ।
मनु फूली अग अंग, ललित लता मनु प्रेम की ।। (पदावली)

'रामपंचाध्यायी' में शीतल, शुभ्र शरद की चादनी में कृष्ण की अद्भुत रासलीला किस का मन नही हरती । 'रासपचाध्यायी' के काव्य-सौन्दर्य प्रकरण मे हम उस छटा का उल्लेख कर आए हैं, यहाँ दोहराना व्यर्थ है ।

'रूपमजरी' में कवि ने रूपमजरी के स्वप्नगत मिलन का चित्रण किया है । रूपमंजरी नवोढा नायिका के रूप मे चित्रित की गई है, यह मिलन कितना मानसिक और मार्मिक है । रूपमजरी के समागम का, उसके लज्जित रूप का कैसा सुन्दर चित्रण हुआ है, देखिए—

जमुना पुलिन कल्पतरु तरै । ठाढै कर कल बसी धरै ।।
देखे मोहन गिरिधर पिया । साँवरे जगत-सदन के दिया ।।
पियहिं निरखि तिय लज्जित भई । सखि पाछै आछै दुरि गई ।।
हँसत हँसत पिय तिहि ढिग आये । काम ते कोटिक ठाँव सुहाये ।।
× × × × ×
बोली बोलि मादक मधुवानी । कुँवरि निहोरि कुंज मे आनी ।।
का कहिये तिहि कुंज निकाई । जनु सुख पुंजन ही करि छाई ।।
तामें सेज सुपेसल ऐसी । आल बाल रति-बेली जैसी ।।
× × × × ×
प्रथम समागम लज्यति तिया । अचल पवन सिरावति दिया ।।
दीप न बुझहि बिहँसि बर बाला । लपटि गई पिय उरसि रसाला ।।
× × × × ×
चुंबन समै जु नासिका बेसरि मुती झुलाय ।
अधर छिड़ावन पीव पै मानो हाहा खाय ।। (रूपमजरी)

इस स्वप्न-संयोग के पश्चात् कवि ने रूपमंजरी को संभोग-हर्षिता-नायिका के रूप में अंकित किया है । संयोग-सुख का अनुभव करती हुई रूप-

मजरी अपनी सेज से मदमाती-सी उठी। उसके मुख पर मधुर-मधुर मुस्कान, बिखरी हुई अलकें, पीकभरे पलक तथा आँखो मे आनन्द का रंग उसके सुरत-रस के अनुभव को प्रकट करता है।

नन्ददास का विप्रलभ शृंगार बहुत ही सरस और मार्मिक है। विरह-मंजरी, रूपमंजरी, भँवरगीत, रुक्मिणी मंगल, नाममाला, रासपंचाध्यायी और फुटकर पदों में शृगार के इसी पक्ष का अत्यन्त भव्य विस्तार पाया जाता है। पूर्वराग में गोपियों के हृदय की व्याकुलता, कृष्ण दर्शन बिना नैनों की आकुलता के कारण उनकी दशा कुछ और ही हो जाती है—

> कृष्ण नाम जब तें स्रवन सुन्यौ री आली।
> भूली री भवन हौं तो बावरी भई री।
> भरि-भरि आवैं नैन, चितहूँ न परै चैन,
> मुखहू न आवैं बैन, तन की दसा कुछ औरे भई री॥

बिना देखे भला कैसे रहा जा सकता है? उनकी प्यासी आँखों को चैन कहाँ? एक गोपी सखी से अनुरोध करती है कि मुझे यमुना के तीर ले चल, जहाँ बलबीर को देखकर मैं अपने "दृगन को सिराऊँ"—

> बिनु देखे रह्यौ न जाइ जिय अकुलाइ,
> दुख पाइ जदपि बडरे छिन उठि धाऊँ॥
> ले चल री सखी मोहिं जमुना-तीर, जहाँ
> ह्वै है बलवीर देखि दृगन सिराऊँ।
> 'नन्ददास' प्यासे को पानी पिवाइ लै जिवाइ,
> जियकी जानती तू तोसौं कहाँ लगि दुराऊँ॥

'रूपमंजरी' में पूर्वानुराग का बहुत सुन्दर चित्रण हुआ है। जब इन्दुमती कृष्ण के अद्भुत रूप और गुणों का वर्णन करती है, तो रूपमंजरी के प्रेम-तृषित हृदय में कृष्ण के प्रति तीव्र अनुराग उत्पन्न होता है। कृष्ण-मिलन की उत्कट अभिलाषा उसमें जाग उठती है। उसके हृदय रूपी दर्पण में

'प्रीतम-रवि' की प्रेम-किरणो के पडने से उसके तन-रूपी रूई मे विरह की आग लग गई—

नियं-हिय-दर्पन तन-रुई रही हुती पुट पागि ।
प्रीतम-तरनि-किरनि परसि लागि परी तिहि आगि ।।

गुण-श्रवण मे अभिलाषा का जो बीज इन्दुमती द्वारा रूपमंजरी के हृदय मे डाला गया था, अब वह स्वप्न-दर्शन मे अकुरित होकर भाव-रूप में प्रकट होगया, और इस प्रकार उत्तरोत्तर बढने लगा, जैसे शरद्चन्द्र की कला बढती है[1] । गोवर्द्धन-पर्वत पर प्रिय की मूर्ति के दर्शनो ने उस प्रेम-भाव-रूप पौधे को सीच कर इतना वृहदाकार दे दिया कि उसका सम्पूर्ण हृदय-क्षेत्र उसकी सुखद छाया से आच्छादित होगया । अब उसके हृदयगत भाव 'हाव' और हेला द्वारा व्यक्त होने लगे । उसके प्रेम का बडा सुन्दर मनोवैज्ञानिक विकास कवि ने इस ग्रथ मे दिखाया है । 'हाव' और 'हेला' का सक्षिप्त वर्णन इस प्रकार किया गया है—

हाव— रूप जोति सी लटकति डोलै । सब सौ बचन मनोहर बोलै ।
अंग अग प्रेम उमग अस सोहै । हेमछरी जराय जरि कोहै ।।

उसके नैन-बैन से अनुराग की विदग्धता प्रकट होने लगी, यही हाव है । उसका मन फिर शृंगार मग्न रहने लगा, जिससे 'हेला' के लक्षण प्रकट होने लगे—

बार बार कर दर्पन धरै । कुन्तलहार सँवार्यो करै ।।
अति शृंगार मगन मन रहै । ता कहुँ कवि हेला-छवि कहैं ।।

'रूपमंजरी' नवानुराग मे डूब गई । उसकी भूख-प्यास सब मिट गई । उसके मन की भाव-धारा प्रियतम की ओर इस प्रकार प्रवाहित हुई जिस प्रकार गंगा की धारा समुद्र की ओर बहती है । उसका अनुराग शारीरिक अनुभावों के अतिरिक्त सात्विक अनुभावों मे भी इस प्रकार प्रकट होने लगा—

मन की गति पिय पै रहि ढारा । समुद मेलि जस गंगु की धारा ।।
डभक दै नैन नीर भरि आवहि । पुनि सुखि जाय महा छवि पावहिं ।।

---

१. छिन-छिन भाव बढत चल्यो ऐसे । शरद द्वैज शशि कलानि जैसे ।।

पुलक अंग स्वरभंग जनावै। बीच बीच मुरझाई आवै॥
बिवरन तन अस देइ दिखाई। रूप बेलि जस घास में आई॥
रूपमंजरी लिय हियही, पिय झलकै इमि आय।
चन्द्रकांति मनि मांझ जिमि, परति चंद की झांय॥

इसके बाद कवि ने रूपमंजरी की विरहदशा का चित्रण ऋतुवर्णन के रूप मे किया है, जो बहुत ही मनोहारी है। विभिन्न ऋतुओं का विरहिणी के हृदय पर पड़ने वाला प्रभाव बड़ा ही मनोवैज्ञानिक है। नन्ददास के ऋतु-वर्णन में हम इस विशेषता को प्रकट कर आए हैं, यहाँ दोहराना व्यर्थ है। उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत बारहमासा और षड्ऋतु-वर्णन नन्ददास का बहुत ही सुन्दर है। 'विरहमंजरी' में बारहमासा-अन्तर्गत विरह का बड़ा मार्मिक चित्रण हुआ है। 'विरहमंजरी' में काल्पनिक प्रवास-विरह का वर्णन है, जिसे कवि ने 'देसांतर विरह' कहा है। इसी के अन्तर्गत सुन्दर बारहमासा-वर्णन है जिसकी मार्मिकता हम प्रकृति-प्रयोग प्रकरण मे दिखा आए हैं। कवि ने व्रज में होने वाले चार प्रकार के विरह के लक्षण इस ग्रंथ में दिए हैं—प्रतच्छ-विरह, पलकांतर-विरह, बनांतर-विरह और देसांतर-विरह।

'मानमंजरी' अथवा 'नाम माला' में कवि ने राधा के मान का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। स्फुट पदों मे भी मान का सुन्दर चित्रण हुआ है। मानिनी नायिका को सखी बार-बार मनाने आती है और कहती है—

सारंग-नैनी री काहे कियो एतो मान।
गोरी गहरु छाडि मिल लालहि, मन क्रम वचन होत कल्यान॥
मुरली तान कान्हरो गावत, सुनलै री दै कान।
रंग-रंगीली सुघर-नाइका तू जिन जिय अरयान॥ (पदावली)

सखी के बार-बार कृष्ण का बखान करने से मानिनी खीझ उठती है। उसका रोष, खीझ, हठ और प्रेम-भरा-मन सखी को दिए गए इस खीझ-पूर्ण उत्तर में देखिए—

दौरी-दौरी आवत, मोहि मनावत,
दाम खरचि मनो मोल लई री।

अचरा पसारि कै मोहि खिजावत,
तेरे बबा की का हौ चेरी भई-री ॥
जा री जा सखी भवन आपुने,
लाख बात की एकु कई री ॥
'नन्ददास' प्रभु क्यों नहिं आवत,
उन पाँयन कछु मेंहदी दई री ॥

मानिनी के हृदयगत-भावो की कैसी स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक व्यंजना हुई है ! दूति से, जो बार-बार आकर तग करती है, नायिका खीझ कर कहती है—"तू क्या समझती है, क्या मैं कृष्ण की मोल ली हुई दासी हूँ जो इस प्रकार स्वाभिमान को छोड़कर कृष्ण के पाँव पड जाऊँ ? और तू जो मेरे सामने बढ-चढ़ कर बोलती है, क्या मैं तेरे बाप-दादा की लौडी हूँ ? जा, अपनी राह लग। कृष्ण के पाँव मे मेहदी लगी है जो वे मनाने के लिए नही आते ?" मानी-हृदय प्रेम-पात्र को ही मनाने के लिए बुलाना चाहता है। कैसी अनूठी व्यंजना है !

'रुक्मिणी-मगल' में भी रुक्मिणी के पूर्वानुराग का नन्ददास ने अच्छा भावपूर्ण चित्रण किया है। रुक्मिणी को जब यह पता चलता है कि उसका विवाह शिशुपाल से होने वाला है, तो उसकी कृष्ण-वरण की आकाक्षा को बडा आघात पहुँचता है। उसका कृष्ण-प्रेम से भरा हृदय व्याकुल हो उठता है। अभीष्ट की हानि से रुक्मिणी की जो दशा होती है, कवि ने उसका बडा सुन्दर चित्रण किया है। वह 'चित्र-लिखि-सी' रह गई, उसका मुख इस प्रकार मलिन हो गया जैसे कमल अपनी नाल से मुरझाकर झुक जाता है। वह अपने भाव को गुप्त रखना चाहती है। सखियाँ उसकी व्याकुलता एव अश्रुओं का कारण पूछती है, तो वह कहती है कि पुहुप-रेनु पड़ जाने के कारण आँखे गीली हो गई हैं—

'सिसुपालहिं को देत', रुक्मिनी बात सुनी जब।
चित्रलिखी-सी रही, दई यह कहा भई अब ॥

चकित चहुँ दिसि चहति, बिछुरि मनु मृगी माल तैं ।
भयो बदन कछु मलिन, नलिन जनु गलित नाल तै ।।
भरि आए जल नैन, प्रेम रस ऐन सुहाये ।
जनु सुन्दर अरविन्द अलिन दल बैठ हलाये ।।
अलि पूँछत बलि बाल ! कहौ नैननि क्यो पानी ।
पुहुपरेनु उड़ि पर्यो, कहत तिनसों मधु-बानी ।।

(रुक्मिणी मंगल)

पूर्वराग की दशा मे प्रिय की याद और अभीष्ट की सिद्धि में आशका इन दोनों दशाओ मे हृदयगत भावो को कवि ने रुक्मिणी के सात्विक अनुभावो से प्रकट किया है—

दुरि रहति क्यो प्रिय रति प्रकटहि देत दिखाई ।
पुलक अंग, सुरभंग, स्वेद कबहुँ जड़ताई ।।
उर थर थर अति कँपत जपत जब कुँवर कन्हाई ।
कबहुँ टकी लगि जाइ, कबहुँ आवत मुरझाई ।।
ह्वै गयो कछु बिबरन-तन, छाजत यों छवि छाई ।
रूप अनुपम बेलि, तनक मनु घाम में आई ।।

शिशुपाल के साथ विवाह-आयोजन की मगल दुंदुभि सुन-सुन कर उसका मन कराह-कराह उठता है, उसके साथ विवाह होने के समारम्भ में किये गए साज-शृंगार, हाथ के कंगन आदि आभूषणों को देख-देख कर उसके नयनों से जल-धारा बहने लगी। कवि ने इन पंक्तियों मे उसकी दशा का कैसा मनोवैज्ञानिक यथार्थ चित्रण किया है—

मंगल दुंदुभि सुन धुने-धुन जो मन माँहीं ।
निरखि निरखि कर कंकन दृग जल भर-भर आही ।।

उसकी आँखों से अश्रुओं की झडी लग गई। कवि उसकी विरहाग्नि का अत्युक्ति पूर्ण वर्णन करता हुआ कहता है कि विरह-ज्वाल से उसके हार के मोती भी कोई-कोई 'तचि-तचि' लाल हो गए हैं। उसका मन आशा और

निराशा के झूले मे झूल रहा है—

टप-टप टप-टप, टपकि नैन मों अँसुआ ढरही ।
मनु नव नील कमल-दल तै भल मुतिया झरही ॥
उपजि बिरह-दुख दवा, अँवा तन तापत भे हैं ।
कोउ कोउ हार के मोतिया तचि-तचि लाल भये हैं ॥
कबहुँ मनहि मन सोचत, मोचत स्वास-ढरारे ।
मोहन मोहन-श्याम, न ह्वै हैं पिया हमारे ? ॥

रुक्मिणी जो पत्र कृष्ण के नाम भेजती है, उसमे उसकी विवशता, आत्मनिवेदन और विनय-भावना का बहुत सुन्दर चित्रण हुआ है। उसके प्रेम की दृढता और आत्मनिवेदन का चित्रण देखिए—

मै तुव मन करि बरे कुँवर गिरिधरन पियारे ।
हौ भई तुव परिचारि, नाथ ! तुम भये हमारे ॥
बिलगु जनि मानियें जानियै अपनी करिकै ।
मग्न होत दुख-जलनिधि में, उधरो कर धरिकै ॥
अब बिलम्ब नहि करौ, बरौ त्रिभुवन-पति सुँदर ।
नाथ परम सुखधाम, स्याम सुखभोग पुरंदर ॥

× × × × ×

जो नगधर, नदलाल मोहिं नहिं करिहौ दासी ।
तो पावक पर जरिहौं, बरिहौ तन तिनका सी ॥
जरि मरि-धरि देह न पैहौ, सुन्दर हरि बर ।
पै यह कबहुँ न होय स्याल सिसुपाल छुएँ कर ॥

ब्राह्मण के हाथ पत्री भेजने के बाद रुक्मिणी कृष्ण की प्रतीक्षा मे तड़पने लगी। उसे घर-आँगन कही भी चैन नही पड़ती। वह अटारी पर चढ-चढकर तथा झरोखों से ताक-ताक कर कृष्ण की राह वैसे ही देखने लगी, जैसे चकोरी चन्द्रमा की—

ह्याँ दुलहिन तरफरे फिरत घर-आंगन ऐसे ।
रवि तेजहि सो, दुखित मछरि थोरे जल जैसें ॥

चढि-चढि अटनि, झरोखनि झाँकत नवल किसोरी ।
चंद उदै बिनु जैसे आतुर, त्रिषित चकोरी ॥

जब रुक्मिणी ब्राह्मण को वापिस आया देखती है, उस समय की उसकी मानसिक दशा का कवि ने बडा मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। वह बडी दुश्चिन्ता मे पडी हुई थी। वह शुभाशुभ लक्षणो मे शकाकुल थी। ब्राह्मण के आगमन ने उसके हृदय में आशा और निराशा का द्वन्द्व तीव्र कर दिया। वह उससे बात पूछने में भी अपने को असमर्थ पा रही थी। किन्तु जब उसने सुना कि 'कृष्ण आगए' तब उसका मन फूल उठा, मानो उसके खोए प्राण फिर से शरीर मे आगए हों—

फरकन लागी भुजा बाम, कंचुकि बंध तरकन ।
हियतें सूल लग्यौ सरकन, उर अन्तर धरकन ॥
तिहि छिन द्विजवर चल्यौ-चल्यौ अंतःपुर आयौ ।
बदन डहडह्यौ देखि कछू मन धीरज पायौ ॥
पूँछि न सक मुख बाल दई यह कहा कहैगो ।
कै अमृत सो सीच, किधौ विष देह दहैगो ॥
निकसि प्रान तब तन तें द्विज के बचननि आए ।
तबहि कह्यो 'हरि आये' मनु फिर बहुर्यो पाये ॥

परिस्थिति एव भावों का कैसा सजीव चित्रण है। नन्ददास रस-सिद्ध कवि हैं, सन्देह नही।

'रासपचाध्यायी' और 'भँवरगीत' मे जो विरह की तन्मयता भाव-विह्वलता तथा वियोगी-हृदय की अनेक मार्मिक दशाएँ हैं, उनका उल्लेख हम उन रचनाओ के प्रसग मे कर आए हैं, यहाँ दुहराना व्यर्थ है। वास्तव में नन्ददास उच्च कोटि के भावुक कवि हैं। शृगार रस का उन्होने बडा ही सफल चित्रण किया है। उनके काव्य मे प्रेमी-हृदय की अनेकानेक दशाओं का वर्णन हुआ है। अनेक मार्मिक दशाओं को हम ऊपर दिखा चुके हैं। शास्त्रकारो की गिनी-गिनाई ग्यारह दशाओ का ही चित्रण उनके काव्य मे नही है। प्रेम की उमंग, आशा-निराशा, शोक-चिंता, दीनता, तल्लीनता, खीझ, रोष, अभिलाषा,

मोह, दृढता, प्रतीक्षा आदि कितनी ही अवस्थाओं का चित्रण उनके काव्य में पाया जाता है। लक्षण-ग्रंथो मे वर्णित विरह की ग्यारह दशाओ के भी कितने ही मार्मिक चित्र नन्ददास ने अंकित किए हैं।

अभिलाषा, दीनता और आत्मनिवेदन का कैसा सुन्दर वर्णन इन पंक्तियो मे हुआ है—

अहो नाथ, अहो रमानाथ, जदुनाथ गुसाईं।
नँद नन्दन बिडराति फिरति, तुम बिन बन गाईं ॥
काहे न फेरि कृपाल ह्वै, गो-ग्वालन सुधि लेहु।
दुख-जलनिधि हम बूडही, कर अवलम्बन देहु ॥
निठुर ह्वै कहा रहे। (भँवरगीत)

स्मरण— सुनत स्याम को नाम, वाम-गृह की सुधि भूली।
भरि आनन्द-रस हृदय, प्रेमबेली द्रुम फूली ॥
पुलक रोम सब अंग भए भरि आए जल नैन।
कंठ घुटे गद्गद् गिरा बोल्यो जात न बैन ॥
विवस्था प्रेम की ॥ (भँवरगीत)

मोरन नूतन चँदवा डारे। देखि देखि दृग होत दुखारे।
सुधि आवत वा मोहन मुख की, कुटिल अलकयुत सीमा सुख की ॥
(विरहमंजरी)

चिंता— कबहुँ मनहिं सोचत, मोचत स्वास-ढरारे।
मोहन सोहन-श्याम, न ह्वै हैं पिया हमारे? (रुक्मिणी-मंगल)

उद्वेग— तब ही कुहुक कोकिला कियो। सुनतहि दहकि बहकि गयो हियो ॥
(विरहमंजरी)

प्रलाप— हे मालति! हे जाति! जूथिके! सुनियत दै चित।
मान-हरन मन-हरन गिरिधरन लाल लखे इत ॥
अहो कदंब, अहो अम्ब, निंब क्यों रहे मौन गहि।
अहो बट! तुंग सुरंग बीर कहुँ इत उलहे लहि ॥ (रासपंचाध्यायी)

उन्माद— कै अहरनि पर धरि मुकुर, सुकर लोह घनु लेहि।
जबई आनि परै तहाँ, तबई ता सिर देहि।। (रूपमंजरी)

गुण-कथन—पीत बसन दुति परनि न कही। दामिनी सी कछु थिर ह्वै रही।।
लाल कै लाल कछनि छबि ऐसी। लालनि चोप रगी होय जैसी।।
मुरली हाथ सुहाई माई। बिनिहि बजाए राग चुचाई।।
ताकै रूप अनूप रस बौरी हौ मेरी आलि।
आज तनक सुधि परन दै सबै कहौंगी कालि।। (रूपमंजरी)

जड़ता— नैन तैं जलधार, हार-धोवत धर धावत।
भँवर उड़ाइ न सकति, बास-बस मुख ढिग आवत।। (रासपंचाध्यायी)

व्याधि—चदन चरचे अति परजरै। इन्दु-किरनि घृत-बुंद सी परै।।
घनसारहिं दिखि मुरझति ऐसैं। मृगीवंत जल दरसै जैसे।।
हार के मुतिया उर झर माही। तचि तचि तरकि लवा ह्वै जाही।।
(रूपमंजरी)

मूर्छा—विह्वल ह्वै धरनी-परी, ब्रज-बनिता मुरझाइ।
दै जल छीट प्रबोधही ऊधौ बैन सुनाय।। (भँवरगीत)

मरण—अब मोदै छिनु जियो न जाइ। जो हौं कहौ सु करहि री माइ।।
(रूपमजरी)

इस प्रकार नन्ददास के शृंगार-चित्रण में हमें शास्त्रीय-शृंगार के प्रायः सभी स्वरूप बड़े भव्य रूप में मिल जाते हैं। नन्ददास की 'रसमंजरी' तथा 'रूपमंजरी' में अनेक लक्षणों के वर्णन से विदित होता है कि रीति-परिपाटी से भी नन्ददास पूरी जानकारी रखते थे और उनके काव्य में कहीं-कहीं 'रीति' का अनुरोध स्पष्ट रूप से पाया जाता है, तो भी उनकी प्रतिभा रीति-बद्ध कवियों की तरह केवल शास्त्र के बधे-बंधाय रूप मे नही उलझी। उनका शृंगार-चित्रण विस्तृत और मानवीय भावों से परिपूर्ण है। उस में न बिहारी-का-सा खिलवाड़ है, और न तुलसी की-सी मर्यादा का दबाव। यद्यपि सूर के शृंगार जितना भाव-विस्तार उन में नहीं है, तो भी प्राचीन

कवियों में सूर के पश्चात् नन्ददास का शृंगार-चित्रण उच्च-कोटि का ठहरता है। विरह-पक्ष तो उनका बहुत ही मार्मिक है।

शृंगार-चित्रण में नायिका-भेद भी आता है। नन्ददास ने 'रसमंजरी' में नायिका-भेद का सैद्धान्तिक निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त भी उदाहरण-स्वरूप अनेक प्रकार की नायिकाओं का सुन्दर चित्रण नन्ददास ने किया है। नीचे हम कुछ और सुन्दर उदाहरण देते हैं।

प्रवत्स्यत्पतिका नायिका के प्रियतम बिछुड़न की वेदना देकर जाने वाले हैं—

> जानन लागे री, लालन मिलि, बिछुरन की बेदन।
> दृग भरि आए री, मैं कही री कछुक तेरी प्रीति की रीति,
> आना-कानी में भई घुमराई में गए दिन॥
> नेह कनौड़े की रूप-माधुरी, अंग अंग
> लागी री सरस हियें बेदन॥ (पदावली)

मानिनी नायिका का एक चित्र देखिए—

> करपै दियें कपोल रही है नयन मूंदी,
> कमल बिछाय मानो सोयौ पूरन चंद॥
> रिस-भरी भौहैं मानो भौर बैठे अरबरात,
> इन्दु तरे आयौ मकरंद भरयौ अरविन्द॥
> 'नन्ददास' प्रभु ऐसो प्यारी कौ रुसैए बलि,
> जाके मुख देखे तैं मिटत सबै दुख दंद॥

खंडिता नायिका की रूढ-उक्ति देखिए—

> तुम कौन के बस ह्वै खेले रंगीले हो, हो हो होरियाँ।
> अंजन अधरनु पीक महावर नैननि रंग रंगे रंग रोरियाँ॥
> बार-बार जंभात परसपर, निकसि रही सब चोरियाँ।
> 'नन्ददास' प्रभु उहाईं बसौ किन, जहाँ बसै वे गोरियाँ॥
> (पदावली)

इसी प्रकार आगतपतिका, अभिसारिका, प्रौढ़ा, अधीरा, प्रेम-गर्विता आदि नायिकाओं के उदाहरण 'नन्ददास-ग्रंथावली' पदावली संख्या १०२-१०६

देखिए। नवोढा-मुग्धा, विरहिणी, सभोग-हर्षिता आदि का 'रूपमंजरी' में वर्णन हम ने इसी प्रसग मे पीछे दिखा दिया है। इस प्रकार नन्ददास नायिका-भेद की ओर भी सजग रहे हैं।

नन्ददास ने गोपी-प्रेम के संयोग-वियोग का ही विस्तारपूर्वक चित्रण किया है। श्रृंगार रस मे ही उनकी प्रवृत्ति रमी है। अन्य रसो और भावो का उनके काव्य में बहुत कम चित्रण हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने अन्य रसों को विशेष मनोयोग से नही छुआ। भगवद्-रति, वात्सल्यरति, तथा वैराग्य-भावना का भी कुछ प्रकाशन स्वतत्र रूप से कवि ने किया है। 'भाषा दशम स्कंध' की अघासुर, बकासुर, कालीनाग आदि विभिन्न लीलाओ में 'भय', 'क्रोध,' 'आश्चर्य' आदि कुछ अन्य भावों का भी चलता-सा प्रदर्शन किया गया है। वास्तव मे इन भावो का चित्रण कवि का उद्देश्य नही था, कृष्ण कथा से जुडी रहने के कारण भागवत से इन्हे लिया गया है।

नन्ददास ने कृष्ण की बाल-क्रीड़ा से सम्बंधित कुछ पद लिखे हैं। उन में कृष्ण के बाल-सौन्दर्य का ही वर्णन अधिकतः किया है, वात्सल्य के भावोद्‌गार बहुत कम पाए जाते हैं। बालक कृष्ण धूलि-धूसरित है, वह ग्वाल बालो के साथ इसी तरह बन में खेलने के लिए जाने को तैयार है। माता उसे न्हला-धुला कर कपड़े बदल कर भेजना चाहती है। माता की ममता और पुत्र की चंचलता का स्वाभाविक चित्रण देखिए—

छगन-मगन बारे, कन्हैया ! नेकु उरैंवों आई रे।
बन मे खेलन जात, ह्वै रहे सब मलिन गात,
अपने लाला की लैहु बलाइ रे।
सग के लरिका सब बनि-ठनि आए
यौं कहि हैं कैसी है तव माइ रे।
जसुदा गहति धाइ बैयाँ, मोहन करत
न्हैयाँ-न्हैयाँ 'नन्ददास' बलि जाइ रे।।

मातृ-प्रेम का बड़ा ही स्वाभाविक एवं सुन्दर रूप 'श्याम सगाई' में भी प्रकट हुआ है। माता-यशोदा के घर राधा-कुँवरी आई। उसके

रूप-गुण पर रीझ कर माता अभिलाषा करने लगी कि यह कन्या श्याम के लिए वधू-रूप मे प्राप्त हो, तो कितनी अच्छी जोडी मिले—

नन्द महरि ने तब कह्यो, देखि रूप की रास ;
इहि कन्या पैं स्याम कौ, माँगौ गोद पसारि ।।
कि जोरी सोहनी ।।

जब राधा कृष्णानुराग से मूर्छित हो जाती है, और सखियाँ उसे उठा कर माता के पास लाती हैं, तो माता कीरति अपनी पुत्री की दशा देखकर व्याकुल हो उठती है—

कर गहि लईं उठाइ, पकरि गृह भीतरि लाईं
विवस दसा लखि माइ, दौरि कै कँठ लगाई ।
कहा भयो मो कुवँरी कौ, कहौ तनिक समुझाइ ;
हौं बरजति ही लाडिली, दूरि खेलनि जिनि जाइ । कह्यौ मानै नही।।

जब राधा बहाना बनाती है कि मुझे काले नाग ने काटा है, तो माता व्याकुल हो उठती है और उसके उपचार की दुहाई देती है । सखियाँ कृष्ण-गारुडी का नाम लेती हैं कि वह बडा चतुर है, और तुरंत काले के विष को उतार देता है । तब वही माता कीरति जिसने यशोदा के अनुरोध को ठुकरा दिया था, अब विनयपूर्वक यशोदा के पास संदेश भेजती है—

अरी बीर ! चलि जाउ, कहौ इहि बिनती मेरी ;
जो जीवैगी कुँवरी बीर मै , करि हौं तेरी ।
बेगि पठै नन्दलाल कौ , जीउदान दै मोहि ;
पाँय लगौ, बिनती करौ, जग जस आवै तोहि ।
रावरी सरन हौं ।।

उपर्युक्त वात्सल्य-प्रेम के अतिरिक्त कृष्ण-प्रेम और उससे सम्बन्धित व्रज-मंडल के प्रति अनुराग का भी बहुत सुन्दर चित्रण नन्ददास ने किया है । भगवद् प्रेम का इससे सुन्दर उदाहरण और क्या होगा—

जो गिरि रुचे तो बसो श्री गोवर्द्धन, गाम रुचे तो बसो नन्दगाम ।
नगर रुचे तो बसो श्री मधुपुरी, सोभा सागर अति अभिराम ।।

सरिता रुचे तो बसो श्री यमुन तट, सकल मनोरथ पूरण काम ।
"नन्ददास" कानन रुचे तो, बसो भूमि वृन्दावन धाम ।।

भगवान् के प्रति आत्मनिवेदन, दास्य-भाव, वैराग्य और विनय आदि से सम्बन्धित उद्गार भी कही-कही विशेषकर 'दशमस्कध' मे पाए जाते हैं। भक्त भगवान् की दया की याचना करता है—

खं इन्द्रि दुख देत हैं दया करौ हरि स्याम ।। (अनेकार्थमंजरी)

नन्ददास के प्रभु ने गोकुल-ग्राम मे जन्म ले लिया है, अब नन्ददास के सब दुख-द्वन्द्व मिट गए—

परम धाम जग-धाम स्याम अभिराम श्री गोकुल आए ।
मिटि गए द्वंद 'नंद' दासन के भए मनोरथ भाये ।। (पदावली)

इस प्रकार नन्ददास के काव्य मे हमें रति भाव का ही चित्रण मिलता है, और उसमे भी माधुर्य-भावना अर्थात शृगार-रति का ही विस्तार पाया जाता है। वात्सल्य रति, सख्य-रति और भगवद्-रति का भी कुछ प्रकाशन हुआ है। वस्तुत: नन्ददास शृगार रस के ही मुख्यरूप से चितेरा थे। इसी का बहुत व्यापक और मार्मिक रूप इनके काव्य में मिलता है। नन्ददास कोमल भावो के ही कवि हैं। कृष्ण की वीरतापूर्ण लीलाओ को इन्होंने नहीं अपनाया। 'रुक्मिणी मंगल' मे कुछ-कुछ शृगाराश्रित वीररस का प्रकाशन हुआ है। श्रीकृष्ण रुक्मिणी के सदेश-वाहक ब्राह्मण को कहते हैं कि हे ब्राह्मण देवता! चिंता न करो, जिस प्रकार लकड़ियों को मथकर—एक-दूसरे से रगड़कर मनुष्य उनमे से आग निकाल लेता है, वैसे ही युद्ध में रुक्म-पक्षी सब क्षत्रियों को तहस-नहस करके मैं रुक्मिणी को ले आऊँगा—

हो द्विजवर! सब दलमलि रुकमिन ल्याऊँ ऐसे ।
दारु-मथन कर सार-अगिन को काढत जैसे ।।७४।।

———

रुक्मिणी मंगल

आधार और नन्ददास की मौलिकता :—'रुक्मिणी मगल' की कथा का आधार श्रीमद्भागवत दशम-स्कन्ध के ५२, ५३ और ५४ वें अध्यायो की सामग्री है। नन्ददास ने भागवत के इस वर्णन-प्रधान प्रसग को भाव-प्रधान बना दिया है। कथा-वर्णन बहुत सक्षेप में है। कवि ने जहाँ-तहाँ काव्योपयोगी परिवर्तन भी किए हैं। भावो की सजीवता का सर्वत्र ध्यान रखा है। भागवत मे ५२ वें अध्याय के २१ वे श्लोक से यह कथा आरभ होती है। पहले ५ श्लोको मे रुक्मिणी के पिता विदर्भनरेश महाराज भीष्मक तथा उनके पाँच पुत्रो और एक सुन्दरी कन्या रुक्मिणी का उल्लेख हुआ है। साथ ही यह बताया गया है कि रुक्मिणी और कृष्ण दोनो ने एक दूसरे के गुण, स्वभाव, और सौन्दर्य पर रीझ कर अपने अपने मन में परिणय-बद्ध होने का निश्चय कर लिया था। रुक्मिणी के भाई-बधु भी चाहते थे कि उसका विवाह श्री कृष्ण से ही हो। परन्तु रुक्मिणी के बड़े भाई रुक्मी ने कृष्ण-द्वेष के कारण उन्हे कृष्ण से विवाह करने से रोक दिया और शिशुपाल के साथ उसका विवाह करना निश्चित किया। नन्ददास ने यह उल्लेख छोड़ दिया है, हाँ, रुक्म की शठता का उल्लेख रुक्मिणी की पत्री मे किया है। कृष्ण की प्रत्येक लीला का अनुरागी कवि आरभ के दो छन्दो मे 'रुक्मिणी-हरण' की लीला का महिमा-गान करता हुआ कहता है—

> श्री गुरुचरन-प्रताप सदा आनन्द बढ़ै उर।
> कृष्ण-कृपा तें यथा कहूँ सुख पावत नर सुर ॥१॥
> रुक्मिणी-हरन पुनीत चित्त दै सुनै सुनावै।
> जाहि मिटै जम-त्रास, बास हरि के पद पावै ॥२॥

फिर तीसरे छन्द में नन्ददास ने भागवत के २६वे श्लोक के अनुसार रुक्मिणी की चिंता का वर्णन किया है। भागवत मे केवल यही कहा गया है—

"जब परम सुन्दरी रुक्मिणी को मालूम हुआ कि मेरा बड़ा भाई रुक्म शिशुपाल से मेरा विवाह करना चाहता है, तो वह बहुत उदास हुई और उसने कुछ सोच-विचार कर एक विश्वासपात्र ब्राह्मण को तुरत श्रीकृष्ण के पास भेजा" ॥२६॥ काव्यानुरागी नन्ददास ने रुक्मिणी की आशंका, चिंता, पूर्वानुराग-जन्य-प्रेम की उत्कटता, दृढता, लज्जा, कृष्ण के प्रति आत्मनिवेदन आदि अनेक भावों का बड़ा अनूठा काव्यमय चित्रण विस्तार के साथ किया है। नन्ददास ने इस विरह-चित्रण मे विरह की शास्त्रीय-मान्यताओं और अपनी पुष्टि-भक्ति की खूबी से एकसाथ गूथा है। रुक्मिणी अपने मन में कहती है—

> आगि लागि जरि जाहु लाज जो काज बिगारै।
> सुन्दर नँदकुँवर नगधर सो अन्तर पारै ॥२१॥
> पति परिहरि हरि भजत भई गोकुल की गोपी।
> तिनहूँ सबै बिधि लोपि परम-प्रेम-रस ओपी ॥२२॥
> जिनके चरन-कमल-रज अजहू बाँछन लागे।
> सनक, सनंदन, शिव, सारद, नारद अनुरागे ॥२३॥
> इहि बिधि धरि मन धीर चीर अँसुअन सिराय कै।
> लिख्यो पत्र सु बिचित्र, चित्र रुक्मिनी बनाय कै ॥२४॥

भागवत मे ब्राह्मण के द्वारकापुरी जाने पर नगर की शोभा का किंचित भी वर्णन नही, इसके विपरीत नन्ददास भला अपने आराध्य के धाम का वर्णन करने से कैसे चूकते ? नन्ददास ने पुरी का १५ छन्दों में सुन्दर वर्णन किया है। उस पुरी को देखकर—

> कृष्ण भावती पुरी, निरखी द्विज हरख भयो अस।
> जगत द्वन्द्व तैं छुट्यो, ब्रह्मानन्द मिल्यो जस ॥४०॥

इसके पश्चात् नन्ददास ने, भागवत के ही अनुसार, ब्राह्मण की कृष्ण के साथ भेंट तथा कृष्ण द्वारा ब्राह्मण के आदर-सत्कार का वर्णन ७ छन्दो मे किया है। भागवत में ब्राह्मण-देवता का कृष्ण द्वारा गुणगान विस्तार से है, जिसे नन्ददास ने नहीं अपनाया। काव्य की दृष्टि से यही आवश्यक था।

इसके बाद कृष्ण के पूछने पर भागवत के ब्राह्मण रुक्मिणी का सदेश कहते हैं। नन्ददास ने पाँती की योजना करके इस प्रसग को अधिक काव्योपयोगी बना दिया है। प्रिय-प्रिया के प्रेमप्रसंग मे पाँती का विशेष महत्त्व है। सभी कवियो के विरह-वर्णन मे इसका उल्लेख होता है। प्रियतमा की पत्री प्रियतम कृष्ण भी बडे भाव-विह्वल हो कर पढने लगते है—

> मुद्रा खोलि गुविन्द चन्द जब बाँचन आँचे।
> परम प्रेम रस माँचे अच्छर परत न बाँचे ॥५३॥
> श्री हरि हियो सिरावत लावत लै-लै छाती।
> लिखी विरह के हाथ सुपाती अजहूँ ताती ॥५४॥
> हिय लगाय सचु पाय, बहुरि द्विजवर कौ दीनी।
> रुकमिनी अँसुवन-भीनी, पुनि हरि अँसुवन भीनी ॥५५॥

पाँति की इस उष्ण-गरिमा का अनुभव सूरदास, बिहारी आदि सभी रस सिद्ध कवियो ने किया है। रुक्मिणी की पत्री को फिर ब्राह्मण ही पढता है, क्योकि उस रुक्मिणी की पाति के भी "अँसुवन जल कागद मसि मिलि कै" श्याम हो जाने की सभावना थी। रुक्मिणी की पत्री मे विरहवेदना अधिक है। भागवत मे भी ब्राह्मण के मुख-संदेश से रुक्मिणी की वेदना व्यंजित हुई है, पर नन्ददास का वर्णन अधिक कवित्वमय है। भागवत मे रुक्मिणी स्वय संदेश भेजती है कि "प्रभो ! आप अजित हैं। जिस दिन मेरा विवाह होने वाला है उसके एक दिन पहले आप हमारी राजधानी मे गुप्तरूप से आजाइए और फिर शिशुपाल, जरासंध तथा उनके विपुल सैन्य-बल को मथ डालिए, और बलपूर्वक राक्षस-विधि से वीरता के साथ मेरा पाणिग्रहण कीजिए ॥४१॥ यदि आप यह सोचते हो कि महलो के अन्दर से मेरे भाई बधुओ को मारे बिना मुझे कैसे लाओगे, तो इस का उपाय मैं बताती हूँ। हमारे कुल के नियमानुसार विवाह के पहले दिन कुलदेवी-दर्शन के निमित्त दुलहिन कन्या को नगर के बाहर गिरिजादेवी के मन्दिर में एक पद-यात्रा के रूप में जाना होना है, तब उस समय आप मुझे ले जा सकते हैं" ॥४२॥ नन्ददास ने इसका उल्लेख न करके प्रेमी नायक कृष्ण

तथा सर्वसमर्थ भगवान के प्रयत्न की रक्षा ही की है। भागवत के ५२वें अध्याय की यही सामग्री है।

भागवत के ५३वे अध्याय के कई वर्णनो और प्रसगो को नन्ददास ने छोड़ दिया है। नन्ददास का उद्देश्य केवल भाव-प्रकाशन ही है। पहले कृष्ण, भागवत के ही अनुसार ब्राह्मण को आश्वासन दिलाते हैं कि चिंता की कोई बात नही, मैं उन सब का दलन करके रुक्मिणी को ले आऊँगा। वे तुरंत रथ तैयार करवा कर कुण्डिनपुर पहुँचते है। भागवत के अनेक वर्णन, जैसे—कृष्ण के घोडो के नाम, कुण्डिन नगर की साज-सज्जा, नगरवासियो की तैयारी, महाराजा भीष्मक द्वारा ब्रह्म-भोज तथा दान और हवन-यज्ञ कराना, शिशुपाल और उसके पिता चेदिनरेश दमघोष की तैयारी तथा विवाह सम्बन्धी मगल-कृत्य, उनका सेना-सहित विदर्भ पहुँचना और विदर्भनरेश द्वारा उनकी बारात का स्वागत-सत्कार, कृष्ण के रुक्मिणी को लाने के लिए अकेला चले जाने का पता लगने पर बलराम जी का भी सेना दल के साथ कुण्डिनपुर के लिए चल देना, राजा भीष्मक द्वारा कृष्ण और बलराम का आतिथ्य-सत्कार आदि कई प्रसग और वर्णन नन्ददास ने छोड़ दिए हैं। कवि ने इस कथा को सक्षिप्त-रूप मे भावना का विषय बनाया है। ब्राह्मण और कृष्ण की प्रतीक्षा मे रुक्मिणी की आशका, चिता और तड़प का नन्ददास का चित्रण भागवत से अधिक सजीव और मनोवैज्ञानिक है। नन्ददास ने कृष्ण की मधुर-मूर्ति के कुण्डिनपुर के नर-नारियों पर पड़ने वाले प्रभाव का भी भागवत से विस्तृत और मार्मिक वर्णन किया है, जो कवि की रूपासक्ति की अध्यात्म साधना के अनुकूल है। भागवत मे रुक्मिणी के अर्चन-पूजन के प्रत्युत्तर मे देवी अम्बा की प्रसन्नता और आशीर्वाद का उल्लेख नही है। परन्तु नन्ददास ने सभवतः 'रामचरितमानस' के सीता-स्वयम्बर-प्रसंग के प्रभाव से देवी की प्रसन्नता का उल्लेख किया है—

ह्वै प्रसन्न अम्बिका कहत हे रुकमिनि सुन्दरि।
पैही अबहि गुबिन्द-चंद जिय जनि बिषाद करि ॥१०५॥

'रामचरितमानस' मे भी देवी का सीता जी पर प्रसन्न होना तथा आशीश देना इस प्रकार दिखाया गया है—

विनय प्रेम बस भई भवानी । खसी माल मूरति मुसुकानी ॥
सुनु सिय सत्य असीस हमारी । पूजहिं मनकामना तुम्हारी ॥
मनु जाहि राचेउ मिलिहि सो बरु सहज सुन्दर साँवरो ।
करुना निधान सुजान सील सनेह जानत रावरो ॥

भागवत के ५४वे अध्याय के भी अनेक वर्णनो को नन्ददास ने नहीं अपनाया । केवल संक्षेप मे कथा के भावात्मक अंश को ग्रहण किया है । भागवत मे वर्णित पारस्परिक युद्ध, जरासध की सेना द्वारा यदुवंशियो पर बाण-वर्षा, रुक्मिणी का भय-भीत होना तथा कृष्ण द्वारा उसका धैर्य बधाना, विपक्षियो का संहार करना और जरासधादि का भाग जाना, शिशुपाल का भावीपत्नी के छिन जाने पर खिन्न होना, जरासध का उसे समझाना, रुक्म की युद्ध मे कृष्ण को मारने और रुक्मिणी को छुडा लाने की शपथ, रुक्म का कृष्ण से युद्ध, व्यंग, कृष्ण का उसके अस्त्र शस्त्र काटकर उसे मारने के लिए तलवार उठाना, भाई की मृत्यु की आशंका से रुक्मिणी का भय-विह्वल होना और कृष्ण से प्रार्थना करना, कृष्ण का करुणार्द्र होना, किन्तु रुक्म के फिर भी कृष्ण का अनिष्ट चाहने पर, कृष्ण का उसको उसी के दुपट्टे से बाँध देना और उसका रूप-कुरूप कर देना; तब बलराम जी द्वारा कृष्ण के इस निन्दित कार्य की आलोचना और रुक्मिणी को शोक-त्याग के लिए समझाना, कृष्ण-रुक्मिणी के विवाह का मंगल-उत्सव और द्वारिका की शोभा आदि अनेक वर्णन नन्ददास ने छोड दिए हैं। नन्ददास ने युद्ध का उल्लेख केवल ३ रोला छन्दों में ही किया है । कृष्ण-रुक्मिणी के विवाह की भी केवल सूचना दी है । अत मे इस 'मगल' का धार्मिक दृष्टि से महात्म्य बताया है, जो भागवत में नही । वास्तव मे नन्ददास ने इस कथा को सक्षिप्त भावमय रूप दिया है । अनेक उपमाओ और उत्प्रेक्षाओ से वर्णनो को सजीव करके कवि ने सुन्दर खंड-काव्य बना दिया है । इस प्रकार भागवत का आधार अपनाकर भी

नन्ददास ने अपनी कवित्त-शक्ति और भाव-जागरूकता से उसमे मौलिकता का भी समावेश किया है।

काव्यगत विशेषताएँ

'रुक्मिणी मंगल' नन्ददास की 'रासपंचाध्यायी', 'भ्रमरगीत' और 'रूपमंजरी' के पश्चात् चौथी उत्कृष्ट रचना है। कवि की भावुकता और कवित्व-शक्ति का इसमें भी पूरा परिचय मिलता है। रुक्मिणी के पूर्वानुराग का इसमें बड़ा सजीव चित्रण किया गया है। नन्ददास के भाव-जगत-प्रकरण मे हम इस रचना का भाव-सौन्दर्य दिखा आए है, यहाँ उसे दोहराना व्यर्थ है। कवि की वर्णन-शक्ति के कुछ उदाहरण देखिए। कृष्ण की रूप-माधुरी का जो प्रभाव कुण्डिनपुर-वासियो पर पडता है, उसका कैसा प्रभाव-शाली वर्णन कवि ने इन पक्तियो मे किया है। "जब पुर के लोगो ने कृष्ण आगमन की बात सुनी, तो वे जहाँ तहाँ से कृष्ण-दर्शन के लिए दौडे आए। उनके रूप-लावण्य पर सब मोहित हो गए। किसी की आँखे उनकी अलकों के छवि-भौर मे अटक गईं, किसी की आँखो के पाँख उनकी पगडी के पेंचों मे फँस गए, कोई उनकी कुटिल भौहो से विवश हो गया तो किसी को उनकी चितवन ने आकृष्ट किया, कोइ-कोई उनके मधुर कपोलों और मीठे बोलो के मधुर रस मे इस प्रकार फँस गया, जैसे मस्त हाथी दलदल मे धँस कर टस से मस नही कर पाता। पुरवासी इस प्रकार कृष्ण के अग-प्रत्यंग की छवि पर वैसे ही लुब्ध हो गए, जैसे भरे भवन की प्रत्येक वस्तु पर चोर लुब्ध हो जाता है, और किसी को बदलना और छोड़ना नही चाहता—

> जो अलकन छवि उरझे, ते अजहूँ नहि सुरझे।
> ललित लसै सिर पागु तकै तक तँह तँह मुरझे ॥८६॥
> कोउ कटीली भौह निपट ही बिबस करे हैं।
> कोउ हगन छवि गिनत-गिनावत हार परे हैं ॥८७॥

कोउ लखि ललित कपोलन मधुरी बोलन अटके।
परे ज्यों मद-गज चहले दहले फेर न मटके ।।८८।।

× × × ×

कोउ इक नैननि अटकि गये ह्वै लोभ लुभारे।
भरे भवन के चोर भये बदलत ही हारे ।।९२।।

इसी प्रकार द्वारिकापुरी का वर्णन भी बड़ा सुन्दर है। नन्ददास ने भागवत के प्रसंगों को सजीव बना दिया है। उनकी सूक्ष्म-निरीक्षणपूर्ण अनुभूति ने साधारण प्रसंगो मे भी जान डाल दी है। रुक्मिणी की पत्री सुनने पर कृष्ण की कुण्डनपुर जाने की आतुरता को कवि ने कैसा चित्रात्मक रूप प्रदान कर दिया है, देखिए। कृष्ण ने रुक्मिणी की पत्री को सुनकर छाती से लगा लिया, और तुरंत सारथि को रथ लाने के लिए कहा। वे तभी रथ पर एकदम चढने लगे। इस झटपट मे उनका पीताम्बर भी खिसक गया, जिसे ब्राह्मण ने उठा कर दिया—

सुनि रुकमनि की पाती, छाती पुनि लगायकै।
सारथि पै रथ माँगि रुकम पै अति रिसायकै ।।७१।।
तुरत चढ़े छबि बढे चढत बानक बनि आयौ।
हरबर मै खसि पर्यौ पीत-पट द्विज पकरायौ ।।७२।।

रुक्मिणी के संक्षिप्त रूप-वर्णन मे भी कवि ने अपनी काव्य-प्रतिभा का अपूर्व परिचय दिया है। कवि की उत्प्रेक्षाएँ बडी मार्मिक हैं। रुक्मिणी का मंद-मंद गति, मुख-चन्द्र की चंद्रिका, कामदेव की वीणा की-सी मधुर ध्वनि प्रकट करने वाले मणिमय नूपुर किस राजा को मोहित नही करते होंगे? उसके अरुण चरणों का प्रतिबिम्ब पृथ्वी पर ऐसा प्रतीत होता है, मानो उसके चरण-कमलों की कोमलता के विचार मे धरती माता ने ही अपनी जीभ के पाँवड़े बिछा दिए हो—

मद मंद पग धरै चंदमुख किरन बिराजै।
मनिमय नूपुर बजै बीन मनमथ सी बाजै ।।१०७।।

अरुन चरन प्रतिबिम्ब अवनि मैं यों उनमानी।
जनु धर अपनी जीभ धरत पग कोमल जानी ॥१०८॥

कैसी मौलिक कल्पना है !

कृष्ण जब रुक्मिणी को सबके देखते रथ पर बैठा कर ले जाते हैं तो उस दृश्य का चित्रण भी कवि ने अनूठा किया है। नन्ददास की भाषा-शक्ति, कल्पना और भावानुभूति का इन पंक्तियों से पूर्ण परिचय मिलता है—

इमि दुलहिनि चलि आई हरि लै रथ बैठाई।
घन ते बिछुरी बिजुरी मनु घन मैं फिरि आई ॥११८॥
लै चले नागर नगधर नवल तिया कों ऐसे।
माँखिन-आँखिन धूरि-पूरि मधुहा मधु जैसे ॥११६॥
गरुड हरि जिमि सुधा दर्प सरपन को सब हरि।
तैसे हरि लै चलै आपुनी सहज खेल करि ॥१२०॥

कृष्ण रुक्मिणी को राजाओं के बीच से इस प्रकार निकाल कर ले चले, जैसे मधु-मक्खियों की आँखों मे धूल झोंक कर मधुहा मधु को ले जाता है। जिस प्रकार गरुड़ सर्पों का दर्प चूर करके सुधा को ले गया, वैसे ही कृष्ण सहज में ही राजाओं का दर्प चूर करके रुक्मिणी को ले गए। कैसी अनूठी उपमान-योजना है !

नन्ददास ने 'रासपंचाध्यायी' की तरह रोला छन्द के प्रयोग की इस रचना मे भी अपूर्व क्षमता दिखलाई है। उनके छन्दों में प्रवाह सर्वत्र है। कवि की भाषा भी प्रौढ़ है। भाषा पर अधिकार प्रत्येक पंक्ति से लक्षित होता है। उपमा, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास प्राय: पंक्ति-पंक्ति मे पाये जाते हैं। अनेक उक्तियों में उपमान-योजना अनूठी और नवीन है। इस प्रकार यद्यपि 'रुक्मिणी मंगल' में कथानक की कमी है, परन्तु कवि की वर्णन-शक्ति, भाव-चित्रण की मनोहारिता, मधुर भाषा-शैली तथा सुन्दर उपमान-योजना ने उसे सफल, सुन्दर खंड-काव्य बना दिया है, जो काव्य की दृष्टि से भागवत और यहाँ तक कि सूरदास के भी इस प्रसंग से अधिक महत्त्वपूर्ण, रोचक और स्वाभाविक है।

नन्ददास की भक्ति-भावना

श्रद्धा, प्रेम और विश्वास के भावों से युक्त भगवद्-रति ही का नाम भक्ति है। आदि काल से ही मानव अपने को अपूर्ण, प्रकृति की शक्तियों के सम्मुख असमर्थ और अयोग्य समझता आया है। आदिम मानव जब बवंडर, भूकंप, उपल-वृष्टि और अति-वृष्टि के रूप में प्रकृति के भीषण रूप से भयभीत हुआ होगा, तभी उसे अपनी अपूर्णता का भान होगया होगा। इस भयभीत मानव ने सर्वप्रथम भय के कारण ही प्रकृति की शक्तियों को प्रसन्न करके अपने अनुकूल करने के लिए उनके प्रति अपना स्तुति-गान किया। फिर जब उसने *प्रकृति के आह्लादकारी रूप का भी अनुभव किया, तो वह प्रकृति के इन* रूपों पर मुग्ध होकर अपना अनुराग प्रकट करने लगा, प्रकृति के इन देवत्व-रूपों का भी स्तुति-गान करने लगा। उसकी पहली उपासना या स्तुति अनुराग-जन्य न थी। अब वह अनुरागी बन गया, और अदृष्ट शक्तियों के प्रति अपनी प्रार्थना, आत्मनिवेदन, स्तुति तथा अनुराग की भावना प्रकट करने लगा। जब मानव के ज्ञान-ध्यान ने उसे अनुभव कराया कि सूर्य, वरुण, चन्द्र, ग्रह-उपग्रह आदि सब एक ही नियम से परिचालित हैं, तो उसने इन सबके नियामक की कल्पना की। समस्त प्रकृति का नियंत्रण करने वाली एक अदृष्ट-सत्ता के प्रति उसका विश्वास बढ़ता गया। यही ब्रह्मवाद की भावना का मूल है। ब्रह्म या भगवान्, ईश्वर, प्रभु आदि अनेक नामों से मानव उस सर्वशक्तिमान्, सर्वसमर्थ अदृष्ट-सत्ता के प्रति अपनी भाव-आरति उतारने लगा। अपनी पग-पग पर अनुभव होने वाली अपूर्णता से पूर्णता के लिए, दुखों से सुखों तथा रोगों से आरोग्य-प्राप्ति के लिए वह उस सत्ता से प्रार्थना करने लगा। इस परिवर्तन-शील, दुखों से भरे संसार में मानव के ज्ञान, प्रेम और इच्छा की तृप्ति नहीं होती। हो भी कैसे सकती है, क्या ज्ञानादि की कोई सीमा है? यही कारण है कि ज्ञान, सत्य और प्रेम के पूर्ण और यथार्थ स्वरूप अनंत ईश्वर, और इस लोक से परे किसी आदर्श अदृष्टलोक-परलोक पर मानव विश्वास करता चला

आ रहा है। यही धर्म और भक्ति के आविर्भाव का रहस्य है।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होगया होगा कि मानव-हृदय मे उपासना और भक्ति की भावना बहुत प्राचीन है। हमारे वैदिक साहित्य के अध्ययन से उपासना, भक्ति और धर्म के मानव-हृदय मे विकास का पूरा ज्ञान हो जाता है। वेदत्रयी में भारतीय धर्म-साधना के ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों मार्गों का निर्देश मिलता है। वेदो की अनेक ऋचाओ मे प्रभु के प्रति आत्मनिवेदन, उसकी भक्तवत्सलता, उदारता, कृपालुता, सामर्थ्य के प्रति विश्वास, विरह और प्रेम आदि के रूप मे भक्ति-प्रकाशन हुआ है। भगवान् पूज्यदेव की शरण तथा कृपा-प्राप्ति के लिए आत्मनिवेदन-सूचक ऋग्वेद की एकाध ऋचा देखिए-- 'प्रभो, मैं ससार की जल-धाराओ से घिरा हुआ हूँ, फिर भी सतृष्ण हूँ, व्याकुल हूँ, मेरी रक्षा करो, प्रभु, मुझ पर दया करो[1]।' पूज्यदेव से प्रेम-सम्बन्ध, सख्य-भाव और शरण-ग्रहण का भाव एक अन्य मत्र मे इस प्रकार व्यक्त हुआ है---'हे प्रभु, मैं आप का सदा से प्रिय सखा हूँ, किन्तु फिर भी बड़ा अपराधी हूँ, मुझे अपनी शरण दो[2]।'

वैदिक-भक्ति मे सगुण-निर्गुण, प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि का भेद-भाव अथवा वाद-विवाद नही है। वैदिक ऋषियो का स्वच्छ और निर्मल हृदय भगवान् के अनेक रूपों और नामो के प्रति भाव-विभोर हुआ है। अग्नि, चन्द्र, शुक्र, वरुण आदि उसी अदृष्ट-सत्ता के भिन्न-भिन्न नाम, रूप और उसी की शक्तियाँ हैं—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमा:।
तदेव शुक्र तद् ब्रह्मा ता आप: स प्रजापति:॥ यजुर्वेद ३२/१/

ब्राह्मण-ग्रथो मे यज्ञ-अनुष्ठानो के कारण कर्मकाण्ड का प्राधान्य है। उपनिषद के ऋषियो की प्रवृत्ति यद्यपि ज्ञानकाण्ड और वैराग्य-विरति की

---

१. अपां मध्ये तस्थिवांसंतृष्णा विदज्जरितारम्।
मृडय सुक्षत्र मृडय॥ ऋग्वेद ७/८९/४

२. य आपिर्नित्यो वरुण प्रिय: सन् त्वा आगांसि कृणवत् सखाते।
मा न एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम यन्धि ष्मा विप्र: स्तुवते वरूथम्॥ ऋ० ७/८८/६

ओर अधिक है, तो भी बीच-बीच मे भक्ति-भावना का स्वच्छ झरना अनेक स्थानो पर स्वतः प्रस्फुटित हुआ मिलता है। जिस भगवद्-कृपा और प्रपत्तिवाद पर वैष्णवी-भक्ति आधारित है, वह वेदो की तरह उपनिषदो मे भी पाई जाती है। मुंडकोपनिषद के एक श्लोक मे यहाँ तक कहा गया है कि आत्मतत्त्व की उपलब्धि बहु-श्रुत होने अथवा ज्ञान या प्रवचन से नही होती, प्रभु जिसपर कृपा करता है, उसे ही उसकी प्राप्ति होती है[1]।

वेदो मे ज्ञान, भक्ति और कर्म-साधना के इन तीनों मार्गों का सामंजस्य पाया जाता है, ब्राह्मण काल तथा उपनिषदो में कर्मकाण्ड और ज्ञान-काण्ड के प्राधान्य के कारण भक्ति की धारा क्षीण पडती दिखाई दी। किन्तु महाभारत-काल मे भक्ति का फिर पूर्ण विकास और प्रसार तथा प्रचार हुआ। वैष्णव-भक्ति अथवा भागवत या नारायणीय-भक्ति का पूर्ण विकसित रूप हम इस काल में पाते है। महाभारत के भी पूर्व काल से भागवत-धर्म नारायण, वासुदेव, सात्वत, ऐकान्तिक आदि कई नामो से प्रसिद्ध रहा है। यद्यपि विष्णु-देव का उल्लेख वेदो और उपनिषदो मे भी हुआ है, किन्तु वहा उसे सूर्य अथवा इन्द्र के रूप मे ही ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार कृष्ण का उल्लेख भी वेदो और उपनिषदो मे भगवान् के नाम से नही हुआ है। हाँ, नारायण की प्रतिष्ठा अवश्य वैदिक साहित्य में है। सर्वप्रथम हमे महाभारत काल में ही विष्णु, कृष्ण तथा अवतारवाद की भावना मिलती है। भगवद्गीता मे वैदिक अथवा ब्राह्मण ग्रंथो के कर्म-काण्ड, उपनिषदो के निवृत्तिपरक ज्ञान-मार्ग के स्थान पर निष्काम कर्त्तव्य-कर्म, प्रवृत्तिपरक ज्ञान और भक्ति-मार्ग की स्थापना स्पष्ट है। गीता मे सहज, सरल, आत्मसमर्पण-कारी, प्रवृत्तिमूला सगुण भक्ति का पूर्ण प्रकाशन हुआ है। वल्लभाचार्य की पुष्टि-भक्ति में जो सर्वभावेन अर्पण की भावना है, वह गीता में भी उपदिष्ट है। भगवान् कृष्ण कहते हैं कि हे कौन्तेय, अपने समस्त कार्य;

१. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणु तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्॥

खाना-पीना, हवन-तप, दान-दाक्षिण्य सब मेरे अर्पण कर। सब धर्मों को अर्थात् सपूर्ण कर्मों के आश्रय को छोडकर केवल मेरी अनन्यशरण को प्राप्त हो, मैं तुझे सब पापो से मुक्त कर दूंगा—

यत्करोषियदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तापस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ ९/२७
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरण व्रज ।
अह त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच: ॥ १८/६६

गीता मे जब भगवान् स्वय कहते हैं कि जो अनन्यभाव से मेरे में स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वर को, निरन्तर चिन्तन करते हुए, निष्काम भाव से भजते हैं, उन नित्य एकीभाव से मेरे मे स्थित रहने वाले पुरुषो के योगक्षेम का भार मुझ पर रहता है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां येजना: पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानाम् योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ ९/२२

तो भक्तो को और क्या चाहिए था। वे भगवान् के 'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चय:' के सदेश को तो छोड़ बैठे, और उपर्युक्त अनन्याश्रय और सर्वधर्मत्याग की बात ले बैठे।

वैष्णव भक्ति के स्मरण, कीर्तन, भजन, कथा-गान, निरोध, अनुग्रह अथवा कृपा-प्राप्ति, अभिमान-त्याग आदि कई अंग गीता में बताये गए हैं। कृष्ण द्वारा अर्जुन को अपना विराट् विष्णु रूप दिखाना यह सिद्ध करता है कि विष्णु के अवतार रूप में कृष्ण की प्रतिष्ठा इसी काल में हुई। गीता में वर्णित वैष्णव भक्ति के उपर्युक्त अंगो के उदाहरण देखिए।

भगवत्-कृपा से ही परम शांति तथा परमधाम की प्राप्ति हो सकती है, इसलिए सर्वभावेन परमेश्वर की ही अनन्यशरण को, हे भारत, प्राप्त हो—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शाति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ १८/६२

का सगुण-कीर्तन करते हुए तथा मुझे प्रणाम करते हुए, मेरे भक्त सदा अनन्यभक्ति से मुझे उपासते हैं—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥६/१४

इस लिए हे अर्जुन ! तू सब काल में निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मेरे मे अर्पण किए हुए मन बुद्धि से युक्त मुझे अवश्य प्राप्त होगा—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥८/७

जो भक्तजन, सदा ही मेरी कथा का गान करते हैं, मेरे मे मन लगाने वाले और मेरे मे ही प्राणो को अर्पण करने वाले वे मेरा गुण-कथन करते हुए संतुष्ट होते हैं और मुझ मे ही रमण करते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥१०/६

पुराणो मे भक्ति का समुचित विकास हुआ। भगवद्गीता के पश्चात् श्रीमद्भागवतपुराण में भक्ति का, विशेषकर कृष्ण-भक्ति का, विस्तृत प्रकाशन हुआ है। नारदीय-भक्ति-सूत्र और शांडिल्य भक्ति-सूत्र भी वैष्णव-भक्ति के दो प्रमुख ग्रंथ हैं। यद्यपि गीता मे भी भगवान् कृष्ण ने कहा था कि हे अर्जुन ! न वेदो से, न तप से, न दान से और न ही यज्ञ से इस प्रकार मैं देखा, जाना और प्राप्त किया जा सकता हूँ, हाँ, अनन्य भक्ति से अवश्य इस प्रकार प्राप्य हूँ—

नाहं वेदैर्न तपसा, न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥११ ५४

और इस प्रकार भक्ति-मार्ग की सहज-सरलता, श्रेष्ठता स्थापित की गई, किन्तु तो भी गीता मे विवेकपूर्ण ज्ञानाश्रित-मर्यादा-भक्ति का ही स्वरूप-बोध

हुआ है। भागवत पुराण और भक्ति-सूत्रों में ही सर्वप्रथम प्रेमलक्षणा मर्यादा-निरपेक्ष माधुर्य भक्ति का प्रकाशन हुआ, और ज्ञान, योगादि सब साधनों से उच्च स्थान भक्ति को मिला। मध्ययुग के सभी भक्त-आचार्य इन ग्रंथों से प्रभावित हुए हैं। वल्लभ की पुष्टिमार्गीय प्रेमलक्षणा-भक्ति के अनुयायी नन्ददास भी भागवत के अनुसार, इसी 'सूधे', सरल, सहज-साध्य प्रेममार्ग का महत्त्व निम्न पंक्तियों मे व्यक्त करते है—

ज्ञान तुलित विज्ञान पुनि तुलित तुलित जप नेम।
सबै वस्तु जग मै तुलित अतुलित एकै प्रेम॥
ऐसे प्रभु बस होत जिहि सुनहु प्रेम की बात।
तप करि प्रेरे मुनिन के, मन जहाँ लगि नहि जात॥ (दशम स्कंध)

नारद भक्ति-सूत्र में भी—'सातु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा'। कहकर भक्ति को ज्ञान, योगादि से श्रेष्ठता दी गई है। वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्ग का विवेचन हो चुका है। नन्ददास जी की भक्ति-भावना इसी मार्ग के अनुकूल है। पुष्टिमार्ग का मूलमंत्र बताई जाने वाली सर्वभावेन आत्मसमर्पण और भगवत्कृपा-प्राप्ति की भावनाएं तो, जैसा कि दिखाया जा चुका है, गीता और भक्ति-सूत्रो[1] मे भी निर्दिष्ट है, पुष्टिमार्ग की विशिष्टता इस बात में है कि वल्लभाचार्य ने पुराणों—विशेषकर भागवत से प्रेरणा लेकर हरिलीला को महत्त्व दिया। उन्होने हरिलीला में भाग लेने को कैवल्य और मोक्ष से भी बढ़कर परममुक्ति बताया है[2]। पुष्टि-भक्ति मे हरिलीला के समावेश की ही सबसे बड़ी नवीनता है। वैदिक-भक्ति-भावना, गीता, भक्ति-सूत्रोमें निर्दिष्ट सभी भक्ति-साधनो और अंगो को भी पुष्टिमार्गीय-भक्ति में हरिलीला-सापेक्ष्य बनाकर ग्रहण किया गया है। श्रीमद्भागवत में वर्णित नवधा भक्ति[3] आदि भक्ति के साधन, नारद भक्ति-सूत्र में वर्णित आसक्तियाँ

---

१. मुख्यस्तु महत्कृपयैव, भगवत्कृपालेशाद्वा॥३८॥ नारद भक्ति सूत्र
२. लीला एव कैवल्यं, जीवानाम् मुक्तिरूपं, तत्र प्रवेशः परमा मुक्तिरिति।
३. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ ७/५/२३

सब हरिलीला से सम्बद्ध हुए। पुष्टिमार्ग मे दीक्षित होने से पूर्व भक्तवर सूरदास आत्मनिवेदन इस रूप मे करते थे—

अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल।
काम क्रोध कौ पहिरि चोलना, कठ विषय की माल॥
महामोह के नूपुर बाजत, निन्दा सब्द रसाल।
भरम भर्यौ मन भयौ पखावज चलत कुसंगति चाल॥
कोटिक कला काछि दिखराई, जल थल सुधि नही काल।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नन्दलाल॥ १/९३

किन्तु दीक्षा के पश्चात् यही आत्मनिवेदन कृष्ण लीला से सम्बन्धित होकर इस प्रकार प्रकट होने लगा—

मधुकर इतनी कहिअहु जाइ।
अतिकृस गात भई तुम बिनु ए परम दुखारी गाइ॥

अथवा— मै कैसे रस रासहि गाऊँ।

× × × ×

नव निकुंज बन धाम निकट इक आनन्द कुटी रचाऊँ,
सूर कहा विनती करि विनवै जन्म-जन्म यह ध्याऊँ।

नन्ददास का आत्मनिवेदन भी हरिलीला के रूप में ही व्यक्त हुआ है—

अहो! नाथ! रमानाथ और जदुनाथ गुसाईं।
नद नन्दन बिडरात फिरत तुम बिनु बन गाईं॥
काहू न फेरि कृपाल ह्वै गौ ग्वालन सुधि लेहु।
दुख जल निधि हम बूडही कर अवलम्बन देहु॥ (भ्रमरगीत)

इसी प्रकार पहले स्मरण हरि-नाम मात्र का या अधिक से अधिक उनके पतित-पावन, उद्धारक रूप का स्मरण ही भक्त करता था—

रेमन सुमिरि हरि हरि हरि।

शत यज्ञ नाही राम सम, परतीति करि करि करि ।

× × × ×

गज, गृद्ध, गणिका व्याध के अघ गये गरि गरि गरि ।। १/१८८ (सूरसागर)
किन्तु अब कृष्ण की लीलाओ के गान और स्मरण के रूप मे व्यक्त हुआ । इसी तरह श्रवण, कीर्तन आदि भी कृष्ण-लीला से ही सम्बद्ध होकर अष्टकवियों द्वारा अपनाए गए । नन्ददास स्पष्ट कहते है कि कृष्ण की लीला श्रवण-कीर्तन-स्मरण आदि सब का सार है—

श्रवण कीर्तन सार, सार सुमिरन को है पुनि ।

ज्ञानसार हरिध्यान सार श्रुतिसार गुही गुनि ।। (रासपंचाध्यायी)

कृष्ण की लीलाओ के श्रवण-कीर्तन के लिए ही पुष्टिमार्गीय-मन्दिरों में कृष्ण की कीर्तन-सेवा का दैनिक विधान प्रचलित था । पादसेवन, अर्चन और वन्दन आदि साधन भी कृष्ण-सेवा-मंडान के अग बन गए । पहले भक्त का पश्चात्ताप और आत्मभर्त्सना ऐसे पदो मे व्यक्त होता था—

इत उत चितवत जनम गयो ।

इन माया तृस्ना के काजें दुहुँ दृग अंध भयो ।।

सबै दिन गये विषय के हेत ।

तीनो पन ऐसी ही बीते केस भये सिर सेत ।।

यह सब मेरीयै आई कुमति ।

अपनै ही अभिमान-दोष, दुख पावत हौ मैं अति ।। (सूरसागर)

किन्तु कृष्ण-लीला से सम्बद्ध होकर इस पश्चात्ताप की अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई—

मेरे मन इतनी सूल रही ।

वै बतियाँ छतियाँ लिखि राखी, जे नन्दलाल कही ।।

एक दिवस मेरे गृह आए, मैं रही मथती दही ।

देखि तिन्हे मैं मान कियो सखी, सो हरि गुसा गही ।।

सोचति अति पछितावति राधिका, मूर्छित धरनी ढही ।। (सूरसागर)

नन्ददास के उद्धव का भक्ति-रस-पान करने पर पश्चात्ताप इस तरह प्रकट हुआ है—

धन्य धन्य ये लोग भजत हरि को जे ऐसे।
और कोऊ बिनु रसहि प्रेम पावत है कसे॥
मेरे वा लघु ग्यान को उर में मद होइ व्याधि।
अब जान्यौ ब्रज-प्रेम को लहत न आधी आधी॥
वृथा स्रम करि मरयौ॥ ६५॥ (भ्रमरगीत)

दास्य भावना पहले 'घघियाने' के रूप में व्यंजित होती थी, किन्तु वल्लभ के प्रसाद से वह लीला-गान के रूप मे परिवर्तित हो गई। पुष्टिमार्गीय भक्त की दास्य-भावना, जो पहले—

जैसे हि राखौ तैसेहि रहौ।
जानत हौ दुख सब जन को मुख करि कहा कहौं॥
× × × ×
कमलनयन घनस्याम मनोहर अनुचर भयो रहौं।
सूरदास प्रभु भगत कृपानिधि तुम्हरे चरन गहौं॥ (सूरसागर)

गिड़गिड़ाने के-से रूप मे प्रकट होती थी, अब प्रभु-लीला का ही अंग बनगई—

परम धाम जग-धाम स्याम अभिराम श्री गोकुल आए,
मिटि गए द्वंद 'नंद' दासन के भए मनोरथ भाए॥२६॥
(नन्ददास-ग्रथावली-पदावली)

या माधुर्य-भावना की कृष्ण-लीला में ही सम्मिलित हो गई—

जो नगधर, नदलाल मोहि नहि करिहौ दासी।
तो पावक पर जरिहौ, बरिहौ तन तिनका सी॥६९॥ (रुक्मिणी मगल)

पहले सख्य-भावना हरिलीला से स्वतंत्र इस प्रकार प्रकट होती थी—

आजु हौं एक एक करि टरि हौं।
कै हमहिं कै तुमहि माधव अपुन भरोसे लरिहौ॥

किन्तु पुष्टि-भक्ति मे कृष्णलीला से सम्बद्ध होकर कृष्ण-सुदामा अथवा ग्वाल-सखाओ के सम्बन्ध से व्यंजित होने लगी।

इस प्रकार पुष्टि-भक्ति मे भक्ति के सब अंग कृष्ण-लीला से सम्बन्धित हो गए। नन्ददास की भक्ति-भावना कृष्णलीला गान के ही रूप मे प्रकट हुई है। उसमें प्रत्येक साधन कृष्ण-चरित से ही सम्बन्धित है।

हरिराय जी ने भी पुष्टिमार्ग की व्याख्या करते हुए कहा है कि जहाँ सब साधनों के स्थान पर केवल कृष्ण-लीला ही साधन है और वही साध्य; जहाँ कृष्ण की समस्त लीलाओ के अनुभव से वियोग मे भी कृष्ण-संयोग का सुख मिलता है, वही पुष्टिमार्ग है—

सर्व साधन राहित्यं फलाप्तौ यत्र साधनम्।
फल वा साधनं यत्र पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥१॥
यत्र वा सुख सम्बन्धो वियोगे संगमादपि।
सर्व लीलानुभवत' पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥१५॥

पुष्टि-भक्ति के हरि-लीला से इस प्रकार सम्बद्ध होने के ही कारण इन भक्तों ने कृष्ण की लीलाओ के गान-रूप से अपनी भक्ति प्रकट की है। वेद-उपनिषद, गीता, श्रीमद्‌भागवत आदि मे भक्ति का प्रयोजन था भगवान के चरण-कमलों मे सुख शान्ति और शीतलता का अनुभव करना, किन्तु पुष्टि-भक्ति में प्रेममय प्रभु के प्रेम मे मस्त होकर कृष्ण-लीला-गान में लगे रहना, और ग्वाल, गोपियो के भावो का अनुसरण करना ही जीव का चरम लक्ष्य है।

हम पीछे बता आए हैं कि भक्ति दो प्रकार की है—१. वैधी-मर्यादा भक्ति तथा २. मर्यादा-विधि-निषेध-निरपेक्ष रागानुगा-भक्ति। यद्यपि भक्ति का आधार प्रेम ही है और भगवत्प्रेम-प्राप्ति ही दोनों प्रकार की भक्तियो का अन्तिम लक्ष्य है, तो भी इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कुछ साधन अपेक्षित हैं। मर्यादामार्गीय भक्ति में गुरु-सेवा, सत्संगति, सदाचरण, मन-निरोध, दास्य और दैन्य-भावना, आत्मनिवेदन, आत्मनिक्षेप, कार्पण्य आदि साधनो पर बहुत जोर दिया जाता है, किन्तु मर्यादा-निरपेक्ष पुष्टि-भक्ति में इन साधनों की आवश्यकता नहीं। वहाँ तो, जैसा कि कहा गया है, भगवद्-लीला ही साधन

है, वही साध्य भी। यदि उपर्युक्त साधन आए भी है तो कृष्ण-लीला के ही अंग बन कर। किन्तु तो भी इस पुष्टि-भक्ति में कुछ साधनों की महत्ता कृष्ण-लीला भिमुख होने के लिए स्वीकार की गई है। इस साधन मार्ग को पुष्टि-भक्ति में सेवा-मार्ग कहते हैं। कृष्ण-सेवा मे लगाने वाले गुरु की सेवा का भी महत्त्व है। नन्ददास गुरू वल्लभाचार्य और उनके सुपुत्र विट्ठलनाथ जी की चरण-वदना करते नही अघाते। इन गुरूवर की ही कृपा से उन्हे नंद-कुमार-भजन सुख मिला है तथा उनके लौकिक भ्रम, पाप मिट गए है। उन्हें प्रभु-सेवा और अनुग्रह-प्राप्ति का मार्ग पुष्टि-मार्ग मिल गया है—

भजों श्री बल्लभसुत के चरन।
नंदकुमार भजन सुखदाइक, पतितन-पावन करन ॥
दूरि किए कलि-कपट वेद-बिधि मत-प्रचंड विस्तरन।
अति प्रताप महिमा समाज जस, सोक, ताप, अघहरन ॥
पुष्टि मजाद भजन, रस, सेवा, निज-जन पोषन भरन।
'नन्ददास' प्रभु प्रगट रूप धरि श्रीविट्ठल गिरिधरन ॥८॥ (पदावली)

इस प्रकार भारतीय साधना मे उपनिषद काल से ही स्वीकृत गुरू-महिमा की भावना पुष्टि-भक्ति मे भी है। श्री गुरू स्तवन के कई पदो में नन्ददास ने गुरू-महिमा का गान किया है। गुरू बल्लभ, बिट्ठल और पूर्ण-पुरुषोत्तम में कोई अन्तर नही। नन्ददास उन्हे ही ब्रह्म बताते हैं—

श्री लक्षमन-घर बाजत आजु बधाई।
पूरन-ब्रह्म प्रगटि पुरुषोत्तम श्री बल्लभ सुखदाई ॥९॥
प्रकटित सकल सृष्टि-आधार। श्री बल्लभ राजकुमार ॥
ध्येय सदा पद-अंबुज सार। अगणित गुण महिमा जु अपार ॥
धर्म्मादिक द्वारे प्रतिहार। पुष्टि भक्ति को अगीकार ॥
श्री विट्ठल गिरिधर-अवतार। 'नन्ददास' कीन्हो बलिहार ॥१०॥

साधु-सगति भी भारतीय-साधना का चिर-परिचित अंग है। पुष्टि भक्ति मे उसकी भी उपेक्षा नही। नन्ददास का उद्धव स्पष्ट कहता है—

पुनि कह। सबतें साधु संग उत्तम है भाई,
पारस परसे लोह तुरत कंचन ह्वै जाई।
गोपी प्रेम प्रसाद सो हौ ही सीख्यौ आय।
ऊधौ तें मधुकर भयौ दुविधा जोग मिटाय ।।६८।

पुष्टिमार्ग में प्रभु-सेवा तनुजा, वित्तजा और मानसी—तीन प्रकार की बताई गई है। तनुजा और वित्तजा सेवा, यद्यपि बाह्य क्रियात्मक सेवाएँ हैं और मानसी भावात्मक, किन्तु सब का आधार प्रेम ही है। जिस शरीर से मनुष्य विषय-भोग में लगता है, यदि उसे प्रभु-सेवा में लगा दिया जाय, तो जीवन सफल हो जाता है। इसी प्रकार धन-दौलत भी यदि प्रभु-सेवा मे अर्पित करदी जाय तो इससे सुन्दर फल क्या होगा ? तन, धन और उसके बाद मन के समर्पण से प्रभु की पूर्ण सेवा करके भक्त भगवत्कृपा को प्राप्त करता है। पुष्टि-भक्ति मे कृष्ण की जो नित्य और नैमित्तिक सेवाओं का विधान है, नन्ददास ने उसमें पूर्ण भाग लिया है। सूरादि अन्य अष्ट-भक्त-कवियो की तरह उन्होने भी पुष्टि भक्ति की सेवा विधि को कीर्तन-गीतो में परिणत किया। कुछ उदाहरण देखिए—

मंगला – (जगाने, कलेऊ कराने आरति आदि के पद)

जगावति अपने सुत को रानी।
उठो मेरे लाल, मनोहर सुन्दर, कहि कहि मधुरी बानी ।।
माखन, मिश्री और मिठाई दूधमलाई आनी।
छगन मगन तुम करहु कलेऊ मेरे सब सुखदानी ।।
जननि वचन सुनि तुरत उठे हरि कहत बात तुतरानी।
'नन्ददास' प्रभु मैं बलिहारी जसुमति मन हरषानी ।।३१।।

श्रृंगार—(स्नान कराना, बनाव-सिंगार करना)

छगन-मगन बारी, कन्हैया ! नैकु उरैवों आइ रे।
बन में खेलन जात, ह्वै रहे सब मलिन गात,
अपने लला को लैहुँ बलाई रे।

संग के लरिका सब बनि-ठनि आए,
यों कहि हैं कैसी है तव माई रे।
जसुदा गहति धाइ बैयाँ, मोहन करत
न्हैयाँ-न्हैयाँ 'नन्ददास' बलि जाइ रे ।।३६।।

ग्वाल —(ग्वाल-वेश, गाइ दूहना, गोचारण आदि)

गाइ खिलावत सोभा भारी।
गोरज-रंजित बदन-कमल पैं, अलक झलक घुंघारी ।।
फूल रही है खिरक सभा पै नगन रंग उजियारी।
स्रम जल राजै भाल गंड भ्रू इहि छवि पै बलिहारी।
रहे खिलाइ धूमरी धौरी, गाय गुनन कजरारी।
'नन्ददास' प्रभु चले सदन जब एकु वार हुँकारी ।।३८।।

राज भोग —(दोपहर का भोजन, छाक लीला)

मोहन जीमत छाँक, ग्वाल-मंडली माँही।
लूम झूम रही देखि राधिका, सब कदंब की छाँहि ।।
बिजन देति निहोरे करि-करि कोऊ लेत सुकोऊ नाँहि।
'नन्ददास' आस जूठन की, फूले अंग न समाँहि ।।१११।।

इसी प्रकार उत्थापन, भोग और सध्या आरति सम्बन्धी पद भी नन्ददास ने गाए है। गोचारण से लौटते कृष्ण की छवि ने किस प्रकार ठगौरी-सी लगा दी है, किस प्रकार नन्ददास अपने भाग्य को सराहते हैं देखिए—

बन तें आवत, आवत गौरी।
हाथ लकुटिया, गायन पाछे, मानो लगी ठगौरी ।।
याहि तैं कुल कानि हरि है, ओढ़ें पीत पिछौरी।
चढ़ि-चढ़ि अटनि लखति ब्रजबाला, रूप निरखि भई बौरी।
'नन्ददास' जिन हरि मुख निरख्यो तिनकौ भाग-बडौरी ।।८८।।

हरिराय जी की 'शिक्षापत्र' (मूल संस्कृत, टीकाकार श्री गोपेश्वर जी) में हरिलीला सम्बन्धी पुष्टिमार्गीय सेवा विधि का इस प्रकार उल्लेख हुआ है—
"जन्माष्टमी, अन्नकूट, होरी, हिंडोरा आदि बरस दिन के उच्छव, तिनकी

अनेक लीला भाव करिकै पुष्टिमारग की रीति सो मन लगाई के करै ।' तथा निस लीला, खंडिता, मगल, भोग, आरती, सिंगार, पालनों, राजभोग, उत्थापन, सैन पर्यन्त, पीछे रासलीला, मानादिक, जल थल बिहार इत्यादि की भावना करिये ।।" इस प्रकार नित्यलीलाओं की सेवा-विधि के अतिरिक्त वर्षोत्सव-सम्बन्धी सेवा-विधि भी प्रचलित थी। नन्ददास ने इन वर्षोत्सव-सम्बन्धी लीलाओं का भी गान किया है। कृष्ण की प्रत्येक लीला में नन्ददास भागी हुए हैं, उनका व्यक्तित्व प्रत्येक लीला-पद में सम्मिलित है, कुछ उदाहरण देखिए—

जन्माष्टमी—(जन्म-बधाई) आनन्द और उल्लास से भक्त का हृदय नाचने लगता है—

बधाई री बाजती आजु सोहाई श्री गोकुलराज के धाम ।
रानि जसोमति ढोटा जायो मोहन सुन्दर स्याम ।।
सुनि सब गोप घोप के बासी चले बर बेस बनाए ।
ता पुर की मगल अज बीथिन भीर न निकसो जाय ।।
आईं गोपबधू संग मिलि मिलि हाथन कंचन थार ।
नाचत गोप करत कौतूहल दधि घृत खोरें गात ।
रीझे देत पटंबर अबर फूले अग न समात ।।
जो जाके मन हति कामना सो दीनी नंदराय ।
'नन्ददास' कूँ दई कृपा करि अपने लला की बलाय ।।

आज 'नन्ददास' के सब दुख-द्वन्द्व मिट गए, 'सब को भाग उधरि" गया है। गोकल गाँव और उसके निवासी फूले नहीं समाते। आज "बरखा भी फूलि फूलि" हो रही है, पेड़-लता, पत्र-पुष्प सब प्रफुल्लित हो गए है। क्यों न हो ? परम धाम जगधाम वृन्दावन गोकुल मे स्याम अभिराम जो प्रकट हुए है !—

माई आजु तो गोकुल गाव कैसो रह्यो फूलि कै
घर फूले दीसैसब जैसे सपति समूलि कैं ।।

फूली-फूली घटा आई घहरि-घहरि घूमि कै।
फूली-फूली बरखा होति, झर लावनि भूमि कै।
कमल कुमोदिनी फूलि जमुना के कूल कै।
द्रुम बेलि फूलि फूलि झुकि आई भूमि कै।
फूलो-फूलो पुत्र देखि, लयो उर लूमि कै।
फूली है जसोदा-माय, ढोटा मुख चूमि कै॥

रक्षाबंधन—राखी नन्दलाल कर सोहै।

पँच-रंग पाट के फुंदना राजत देखत मन्मथ मोहै॥
आभूषण हीरा के पहिरै लाल-पाट ते पोहै।
'नन्ददास' वारत तन, मन, धन गिरिधर-मुख प जोहै॥१४३॥

फूलडोल—हिंडोरे माई, झूलत गिरिधर लाल।
संग राजत वृषभानु नंदिनी अंग अंग रूप रसाल॥
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल गल मुक्तन की माल।
रमक रमक झूमत पिय-प्यारी सुख बरसत तिहिं काल॥
'नन्ददास' प्रभु की छवि निरखत बिबस भई ब्रजबाल॥१६४॥

फाग-होली-उत्सव—

सुरंग-रंग पिचकारी भरि-भरि, छिरकत हरि-तन तीय।
कुटिल कटाच्छ प्रेम-रंग तकि-तकि मारत पिय के हीय॥
शिव सनकादिक, नारद, सारद, बोलत जै-जै सेइ।
'नन्ददास' अपुने ठाकुर की हरख बलैया लेइ॥१७६॥

आश्विन शुक्ल' शरदपूर्णिमा को रास-लीला का विशेष उत्सव मनाया जाता था। वैसे रासलीला नैमित्तिक लीला मे भी सम्मिलित है। कृष्ण की यह लीला तो विट्ठलनाथ जी के समय से ही विशेष महत्त्व-मंडित हुई। नन्ददास ने इस लीला पर प्रचुर साहित्य रचा है। उनके रास-लीला के कुछ फुटकर पद भी हैं, जिनमें 'देखो री नागर नट निरतत कलिन्दी-तट', वाला पद प्रसिद्ध है। इस प्रकार कृष्ण का लीला-गान ही पुष्टि-भक्त की भक्ति है।

पुष्टि-भक्त के प्रेम का प्रकाशन कृष्ण की अनेक लीलाओं के गान और उनमें भाग लेने के रूप में ही हुआ है। नन्ददास का समस्त काव्य प्रभु-लीला-गान ही है। अभिनय मंडलियाँ बनाकर तथा कृष्ण की सेवा-विधियों द्वारा पुष्टि भक्त कृष्ण-लीला-गान में ही मग्न रहते थे। नन्ददास के काव्य में कृष्ण की बाल-लीला, माखन-चोरी लीला, दधिदान-लीला, श्याम-सगाई, कृष्ण-राधा-विवाह, रास-लीला, मान-लीला, प्रेम-लीला, गोवर्द्धन-लीला आदि और भी सब लीलाएँ पाई जाती हैं।

नन्ददास ने रूपमंजरी में प्रभु-प्राप्ति के दो मार्ग बताए हैं — एक नाद का मार्ग और दूसरा रूप का मार्ग। वास्तव में भारतीय उपासना में जो नाद-योग या मंत्र-योग और ध्यान योग दोनों कर्म-योग और भक्ति-योग के मिले-जुले साधन थे, वही रागानुगा आत्मसमर्पणकारी भक्ति में नाद-योग अर्थात लीला-गान और ध्यानयोग अर्थात रूपमार्ग बन गए। वैसे तो पुष्टि-भक्ति रूपमार्ग की भक्ति है, क्योंकि पुष्टि-भक्त कृष्ण की लीलाओं में उसके रूप-लावण्य और छवि पर मुग्ध होता है, तो भी लीला-गान को हम इस भक्ति का नादमार्ग कह सकते हैं। पुष्टि-भक्त नाद-मार्ग से रूपमार्ग की ओर बढ़ता है या यों कहें कि गौणी-भक्ति से परा भक्ति की ओर जाता है। वैसे गौणी-वैधी भक्ति पुष्टिमार्ग में नहीं है। सांसारिक विषयों से छुटकारा पाने के लिए पुष्टि-भक्त उन विषयों को ही ईश्वर में लगा देता है[1]। नन्ददास ने अपनी लौकिक वासना प्रभु-अभिमुख कर दी थी। इस प्रकार प्रेम-भक्ति का रसास्वादन नन्ददास ने दो प्रकार से किया — एक, कृष्ण-लीला का आनन्द और दूसरे, स्वरूपानन्द। कृष्ण-लीला-आनन्द में भी वैसे तो स्वरूपानन्द सम्मिलित है किन्तु गोपियों आदि की स्वरूपासक्ति में अपनी आत्मा को डालकर भी उन्होंने रूपमार्ग की भक्ति प्रकट की है। नन्ददास की यह

---

१ निरोध लक्षण ग्रंथ में आचार्य वल्लभ ने यही कहा है —
संसारावेशदुष्टानाम् इन्द्रियाणां हिताय वै।
कृष्णस्य सर्व वस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत॥ १२॥

रूप-प्रेममार्ग की भक्ति माधुर्य-भाव के रूप मे ही प्रकट हुई है। सख्य, दास्य और वात्सल्य-भाव उनमे नही के बराबर है। माधुर्य-भक्ति के कांता स्वकीया और कांता-परकीया दोनो भाव नन्ददास मे पाए जाते है। रुक्मिणी, राधा का भाव स्वकीया है, तो गोपियो और रूपमजरी के भाव मे परकीया रूप है। श्री वल्लभाचार्य जी के भक्ति सम्बन्धी विचारो तथा सेवा-विधि-स्थापना और बादके विट्ठल नाथ जी, हरिराय जी के विचारो और कीर्तन-व्यवस्था के अध्ययन से स्पष्ट पता चलता है कि वल्लभ ने कृष्ण-महात्म्यपूर्ण वात्सल्य-भक्ति और सख्य भक्ति का ही प्रचार किया था, किन्तु बाद मे माधुर्य-भाव की प्रधानता हुई और महात्म्य का भाव भी प्रेम में ही लीन हो गया।

श्री हरिराय जी ने भक्ति के दो भेद किये हैं—एक भगवान् के शीतल चरण-सरोवर म निमग्न कराने की दास्यासक्ति-महात्म्यपूर्ण भक्ति, जो श्रवण कीर्तन आदि द्वारा सरलता मे नारदादि को प्राप्त है, और दूसरी, भगवान् के मुखारविन्द और अधर-सुधा-रस का पान कराने वाली भक्ति। यह दूसरी बहुत दुर्लभ है। गोपियो जैसी विरहासक्ति और रूपासक्ति रखने वाले भक्त ही इसे पा सकते है, इस भावना-रूपा भक्ति को हरि ने स्वत ही गोपियो पर अनुग्रह करके उन्हे दिया था[1]। कहना न होगा कि नन्ददास की भक्ति मुख्यरूप से गोपी-भाव वाली दूसरी भक्ति है। गोपियाँ कृष्ण के अधर-रस-आसव का ही पान करना चाहती हैं—

> जौ न देहु यह अधर-अमृत सुनि मोहन हरि।
> करि हैं यह तन भसम बिरह-पावक मैं गिरि मरि ॥२४॥

1. भक्तिर्द्विधा पदाम्भोजवदनाम्बुज भेदतः,
प्रथमा शीतला भावतयत श्रवणकीर्तनात् ।१।
तत्रैव मुख्यसम्बंधः सुलभा नारदादिषु,
द्वितीया दुर्लभा यस्मात् अधरामृतरूवनात् ।२।
तद् भावनारूपा विरहानुभवात्मिका,
गोप सीमान्तनीनां च सा दत्ता हरिणा स्वत ।३।
वाङ् मुक्तावली, भाग १

तब तिय पदवी पाइ बहुरि धरिहै सुन्दर अंग ।
निधरक ह्वै इह अधर-अमृत पैहै फिरिहैं सँग ॥२६॥ (रासपंचाध्यायी)

इस रूपासक्तिपूर्ण-मार्ग की समस्त भाव-दशाओं का चित्रण नन्ददास ने किया है। पूर्वानुराग-आसक्ति के रूप में भक्त नन्ददास की भक्ति-भावना—'कृष्णनाम जबतें स्रवन सुन्यौ री आली, भूली री भवन मैं तो बावरी भई री' आदि फुटकर पदों मे, तथा 'रूपमंजरी', 'रुक्मिणीमंगल' आदि प्रबंध-रचनाओं में व्यक्त हुई है। कृष्ण-रूपासक्ति का बहुत भव्य चित्रण नन्ददास के पदों तथा उनके खंड-काव्यों में हुआ है। कृष्ण-मुख-दर्शन की 'चटपटी', उस रूप-माधुरी के पान की कामना गोपियों को हरदम सताती है। नन्ददास इस छवि पर स्थान-स्थान पर बलि गए हैं। गोपी-रूप में नन्ददास की छिपी अन्तरात्मा की मानसिक दशा का वर्णन देखिए—

देखन दै मेरी बैरिन पलकैं ।
नन्दनंदन मुख ते आलि बीच परत मानो बज्र की सलकैं ॥
× × × ×
ऐसो मुख निरखन को आलि कौन रची बिच पूत कमल कै ।
'नन्ददास' सब जडन की इहि गति मीन मरत भाये नहीं जल कै ॥७९॥

इस रूपासक्ति और प्रेम की उत्कटता में लोक-मर्यादा, कुल-धर्म और लाजादि सब पीछे पड जाते हैं। नन्ददास की समस्त रचनाओं में कृष्णासक्त गोपियों की लोक-लाज-मर्यादा की उपेक्षा का भाव पाया जाता है। 'रास-पंचाध्यायी' में कृष्ण के लोक-धर्म का उपदेश देने पर गोपियां कहती हैं—

नेमधर्म जप तप ये सब कोउ फलहिं बनावे ।
यह कहुँ नाहिन सुनी जो फल फिरि धरम सिखावै ॥८१॥
अरु यह तुम्हरो रूप धरमि के धरमहिं मोहै ।
घर मैं को तिय भरम धरमहिं आगे को है ॥१/८२

भ्रमरगीत में उद्धव स्पष्ट कहते हैं कि जो गोपियों की तरह 'मरजाद मेटि मोहन को ध्यावै, काहे न परमानन्द प्रेम पदवी को पावै।' 'रुक्मिणी-मंगल' में भी रुक्मिणी कहती है—

आगि लागि जरि जाहु लाज जो काज बिगारै ।
सुन्दर नंदकु वर नगधर सो अंतर पारै ॥२१॥
पति परिहरि हरि भगत भई गोकल की गोपी ।
तिन हूँ मनै विधि लोपि परम-प्रेमै-रस ओपी ॥२२॥

भक्तिमार्ग में भगवान् के विरह की तीव्र अनुभूति और व्याकुलता का भी बहुत महत्त्व है। नारद-भक्ति-सूत्र मे जो १८ प्रकार की आसक्तियाँ बताई गई है, उनमे रूपासक्ति और परम विरहासक्ति का भी बहुत महत्त्व है। हरिराय जी का जो श्लोक हमने उद्धृत किया है, उसमें गोपियो की रूप-मार्ग की भक्ति को 'विरहानुभवात्मिका' बताया गया है। पुष्टिमार्ग मे इसी लिए भक्त को कृष्ण का उसी प्रकार विरहानुभव होना चाहिए, जिसप्रकार व्रजागनाओ को गोकुल मे हुआ था। नन्ददास के काव्य में व्रज के कृष्ण-विरह की जितनी स्पष्ट व्याख्या हुई है, उतनी अष्ट-कवियो मे किसी के भी काव्य मे नही हुई। 'विरहमजरी' मे चार प्रकार का कृष्ण-विरह बताया गया है। 'रूपमजरी' मे विरह का महत्त्व स्पष्ट ही है। 'दशमस्कंध' मे नन्दलाल-कृष्ण स्वंय कहते हैं कि जो मेरे विरह में मन को एकाग्र कर लेता है, वह शीघ्र ही मुझे प्राप्त करता है—

विरह मैं चित्त समाधि लाइहौ। तुरत ही तब मोन्हुँ पाइहौ॥

नन्ददास के काव्य मे भगवत्-विरह का बहुत सुन्दर प्रकाशन हुआ है। पूर्वानुराग के अतिरिक्त भी विरह की व्याकुलता 'भ्रमरगीत,' 'रासपंचाध्यायी,' 'विरहमंजरी' आदि सभी रचनाओ मे पाई जाती है। विरह की दशा मे भक्त की पूर्ण तन्मयता देखिए, गोपियाँ आत्मविस्मृत-सी हो जाती हैं—

इहि विधि बन घन बूझि ढूढ़ि उन्मत्त की नाईं।
करन लगी मन-हरन-लाल-लीला मन भाई ॥१८॥
मोहन लाल रसाल की लीला इनही सोहैं।
केवल तन्मय भई कछु न जाननि हम को हैं ॥२/१९ (रासपचाध्यायी)

इस प्रकार गोपियों ने सब कुछ भगवान कृष्ण को ही समर्पित कर दिया था। उनकी आत्मसमर्पणकारी भक्ति ही पुष्टि-भक्त के लिए आदर्श है।

अष्टछाप में, श्रीस्वामिनी का महत्त्व स्थापित होने के कारण तथा हरिदासी आदि अन्य सम्प्रदायों के प्रभाव के फलस्वरूप, युगल-उपासना और श्री राधा जी की वंदना का भाव भी पाया जाता है। नन्ददास ने राधाकृष्ण की युगल-उपासना का भाव कई स्थानों पर व्यक्त किया है। 'नाममाला' में कवि अपनी युगल-भक्ति प्रकट करता हुआ कहता है—"जो नर इस नाममाला को कंठ करेंगे, सुनेंगे और सुनावेंगे, वे घनश्याम के स्वरूप को जान सकते हैं। बिना घनश्याम के जाने भव-बाधा नहीं मिटती। जिस प्रकार इन्द्रियों में इन्द्रिय-शक्ति मिल जाती है, उसी प्रकार कृष्ण से राधा का मिलाप हुआ। यह युगल-किशोर-रूप सदा मेरे हृदय में निवास करे"—

'बिन जाने घनश्याम के आवागमन न जाइ'।
'जो नर कंठ कहैं, सुनै जानै श्री घनश्याम' ॥२६२॥
जमल, जुगल, जुग, द्वन्द्व, द्वै, उभय, मिथुन, बिबि, बीय।
जुगल किशोर सदा बसौ, 'नन्ददास' के हीय ॥२६३॥

नन्ददास के कुछ फुटकर पदों में भी युगल-भावना का प्रकाशन हुआ है। स्वकीय-भावना और युगल-उपासना का उदाहरण फागोत्सव के निम्नपद में देखिए—

छिरकति रँग पिय तियन पै उपजै अति आनद।
मानों इंदु सुधाकर सींचत, नव कुमुदिन के वृन्द ॥
रँग-रगीली राधिका, रँगरगीलो पीय।
इहि रँग-भीने नित बसौ 'नन्ददास' के हीय ॥१८४॥

कृष्ण की सर्व-भवन-समर्थ-शक्ति-स्वरूपा राधा के जन्म पर भक्त नन्ददास गद्‌गद् हो उठे हैं—

सब जग-धाम धाम-पुनि जाकौं, सेस-धाम जिहि मानैं।
'नन्ददास' सुख को सुखसागर प्रगटी ह्वै बरषानैं ॥५२॥

× × × ×

निरअध-नेह, अवधि अति प्रगटी मूरति सब सुखदाई।
ब्रह्मादिक सनकादिक नारद, आनन्द उर न समाई ॥

श्री राधा के ही सम्बन्ध से वृषभानु के द्वार पर सिर झुकाने वाले पामर लोग भी चार प्रकार के मोक्ष को, जिन्हे जप-तप से भी नही प्राप्त किया जा सकता, सहज ही पा लेते हैं—

मुक्ति जु चार प्रकार की, नहि पैयत जप जोग।
ते वृषभानु भुआल के, पावत पामर लोग ॥२७॥ (नाममाला)

गुणमहात्म्यपूर्ण-दास्य-भक्ति :— नन्ददास की रचनाओ मे सूर और परमानन्ददास की-सी विनय और दास भाव की भक्ति का परिचय नहीं मिलता। दशम स्कध भागवत भाषा में उन्होंने ब्रह्मादि की कृष्ण-स्तुतियो मे भगवान् की महत्ता और भक्तो के लघुत्व भाव को प्रकट किया है, परन्तु आत्मदीनता, स्वदोष-प्रकाशन और भगवान् के प्रति प्रार्थना से भरे कवि के निजी भाव न तो उनके ग्रथो मे है, और न उनके पदो मे ही। अपने गुरु विट्ठलनाथ जी के प्रति अवश्य उन्होने कई पदो मे दास्य भाव प्रकट किया है।" 'दशम-स्कध' के अतिरिक्त नन्ददास की 'अनेकार्थमजरी' ऐसी रचना है, जिस मे गुण-महात्म्यपूर्ण प्रार्थनापरक हरि-भक्त का प्रकाशन हुआ है। इस शब्द-कोश के ग्रथ मे भी भक्ति-भावना को गूंथ देना कवि की प्रतिभा का द्योतक है। प्रभु के चरणो मे अनुराग पाने की प्रार्थना कवि इन पंक्तियो मे करता है—

तल सनेह, सनेह घृत, बहुरो प्रेम सनेह।
सो निज चरनन गिरधरन, 'नन्ददास' कहुँ देह ॥१२०॥

इसी प्रकार कुछ-कुछ दास्य भावना —"मिटि गए द्वंद 'नन्द' दासन के भए मनोरथ भाए" तथा "नन्ददास अपने ठाकुर की हरख बलैया लेइ" आदि दो-चार पदो की अन्तिम पक्तियो मे व्यक्त हुई है। 'अनेकार्थमंजरी' मे गौणी भक्ति का ही प्रकाशन हुआ है। उसमे आत्मनिवेदन, नाम-महिमा-गान, भजनानन्द की कामना, मानसिक विकारो के त्याग के लिए मन को चेतावनी, भगवत्कृपा की याचना, कृष्ण-गुण-गान आदि भाव प्रकट हुए है। नन्ददास जी कहते हैं—"हे हरि विषयासक्त इन्द्रियाँ दुख दे रही हैं, मुझ पर कृपा करो; मेरा अज्ञान-अधकार दूर करके हृदय मे ज्ञान का दीप जगाओ—

'पंच इन्द्रि दुख देत हैं कृपा करो हरि स्याम ।'

'तम अज्ञान को हरहु हरि, उर धरि दीप प्रवीन' ॥५२॥

"कलियुग मे केवल केशव का नाम ही आधार है, अतः हे मन, सांसारिक विषयो मे भूला न रह, हरि का भजन कर। काम कञ्चन से आसक्ति त्याग कर हरि-नाम का ही भजन करना चाहिए ; हे मन, कृष्ण के गुण-चरित्र का ही गान प्रेमपूर्वक करो, छल कपट को त्याग कर, ईश्वर का ही भजन कर, जो हरि का भजन नही करता वह तो गधा है—

'कलि कलियुग जहँ और नहि, केवल केशव नाम' ॥७॥

'काम काज जनि भूलि मन, भजिले हरि अभिराम' ॥१५॥

'क कञ्चन ते प्रीति तजि, सदा कहो हरि-नाम' ॥१८॥

'गुन चरित्र गोविन्द के, गावहु उर धरि नेहु' ॥५३॥

'छूट कपट कहँ निपट तजि, भजि ले मन भगवत' ॥६०॥

'खर गरदभ जग मैं सोई, जो न भजै हरि स्याम' ॥६१॥

सख्य और वात्सल्य-भक्ति भी नन्ददास में अत्यल्प है। बाल-वर्णन के दो-एक पदो मे माता के हृदय की ममता रूप मे वात्सल्य भावना प्रकट हुई है। वास्तव में सूरदास और परमानन्ददास जैसी गूढ़ वात्सल्य-भक्ति भी नन्ददास में नही मिलती। वे कृष्ण के किशोर-रूप के ही मुख्य रूप से उपासक हैं। 'दशमस्कंध' मे अवश्य, भागवत के ही अनुसार, बाल-रूप का महिमा-गान कवि इस प्रकार करता है—

जदपि अवर हरि के अवतार। मंगलरूप सकल श्रुतिसार ॥

पै यह बाल चरित मधुधार। या सम कुछ न अवर संसार ॥

पियत तृपति नहिं मानत कान। औरो कहो जानमनि जान ॥

सख्य भावना भी स्पष्ट और प्रगाढ रूप मे नही मिलती। वैसे नन्ददास का समस्त काव्य कृष्ण-सखा का ही भावोद्गार है, क्योंकि नन्ददास ने सखा रूप में ही "निकट निपट" प्रभु-लीला गान किया है। हम पीछे बता आए हैं कि नन्ददास श्रीनाथ जी की दिवस लीला में भोजसखा होते थे और

रात्रि की लीला में चन्द्ररेखा सखी बनते थे। उन्हो ने सखा-सखी भाव से ही समस्त लीला-गान किया है।

नन्ददास की भगवद्भक्ति मे मोक्ष काम्य नही है, इसमे भक्त प्रभुलीला मे प्रवेश करके उसका ही आनन्द लेना चाहता है। भक्त को सालोक्य, सारूप्य और सामीप्य प्राप्ति की ही कामना रहती है, सायुज्य मुक्ति इनसे स्वत. ही हो जाती है। प्रभु का प्रेम और उसकी निकटता का पा जाना ही सब कुछ है। इसी लिए तो भक्त भगवान के चिर-धाम मे ही रहना चाहता है। यही कारण है कि पुष्टि-भक्त को कृष्ण के परम-धाम वृन्दावन, गोकुल, वहाँ की रज, यमुना-निकुंज आदि से भी विपुल अनुराग है। 'जो गिरि रुचे तो बसों श्री गोवर्द्धन, गाम रुचे तो बसो नन्द गाम' वाले पद मे नन्ददास कृष्ण के परम धाम नंदगाम, मधुपुरी, यमुना वृन्दावन गोवर्द्धन आदि से अनुराग जताते हुए अपनी कृष्ण भक्ति का परिचय देते हैं। वह वहाँ ही बसना चाहते हैं ताकि कृष्ण का उन्हें सामीप्य लाभ हो जाय और वे हरि की लीलाओ का आनन्द उठा सकें।

यही नही, भक्त सालोक्य मुक्ति की कामना करता है। वह कहता है कि भगवान के इस परमधाम की रज भी दुर्लभ है। बड़े-बड़े ऋषियो और मुनियो को इसकी बाँछा रहती है किन्तु प्राप्ति नही होती। इसी लिए वह इस चिरधाम के मार्ग की रज बनना चाहता है ताकि 'हरिरस की पात्र', भगवान की अनन्य भक्त गोपिकाओ का चरण-स्पर्श पाकर कृतार्थ हो जाय। वह भगवान के धाम के लता-गुल्म बन जाने मे ही अपनी मुक्ति मानता है। भगवान की ही कृपा से यदि उसे वरदान मिल जाय तो सब कुछ है—

अब ह्वै रहौ ब्रज भूमि को मारग में की धूरि।
बिचरत पग मो पर धरें सब सुख जीवन मूरि।।

मुनिनहूँ दुर्लभ जो।।६६।।

कै ह्वै रहौं द्रुम गुल्म लता बेली बन माही।
आवत जात सुभाय परै मोपै परछाही।।

सोऊ मेरे बस नहीं जो कछु करौ उपाय।
मोहन होहि प्रसन्न जो यहि बर माँगो जाय ।।
कृपा करि देहु जी ।।६७।। (भ्रमरगीत)

वल्लभसम्प्रदाय की आदर्श गोपिकाएँ भी भक्त के लिए वदनीया हैं। उद्धव उनके ही चरण-स्पर्श और संसर्ग में अपना कल्याण मानता है। भगवान के ऐसे भक्तों का संसर्ग भगवान के संसर्ग से भी बढ़ कर है। 'जीवन मूरि' को प्राप्त कर लेने पर जीवन की प्राप्ति तो साथ ही हो जाती है—

मनगे कहि रज पाथ की लै माथै निज धारि।
परम कृतारथ ह्वै रही त्रिभुवन-आनंद वारि।
वंदना जोग ए ।।४३।।

कहत भयौ निस्चै यहै हरि रस की निजपात्र।
हों तो कृतकृत ह्वै गयौ इनके दरसन मात्र ।।
मेटि मल ग्यान को ।।६२।।

गोपी गुन गावन लग्यौ, मोहन गुन गयौ भूलि।
जीवन को लै का करौ पायौ जीवन मूलि ।।
भक्ति को सार यह ।।६९।।

इसप्रकार नन्ददास की भक्ति आसक्तिपूर्ण भक्ति है। नारद भक्ति-सूत्र मे वर्णित ११ प्रकार की सब आसक्तियां उसमे मिलती हैं, किन्तु मुख्यरूप से नन्ददास की भक्ति रूपासक्तिपूर्ण तन्मय-भक्ति है। नारद भक्ति-सूत्र की रूपासक्ति, परमविरहासक्ति, तन्मयासक्ति, कांतासक्ति, ये चार आसक्तियाँ ही नन्ददास की प्रेमाभक्ति में प्रधानतः हैं, अन्य वात्सल्यासक्ति, सख्यासक्ति, दास्यासक्ति, निवेदनासक्ति, स्मरणासक्ति नाममहात्म्यासक्ति और पूजासक्ति भी यत्र-तत्र प्राप्त होती है। पूजासक्ति या नवधाभक्ति के अंग पूजन का उदाहरण 'रूपमंजरी' में देखिए। इन्दुमति अपनी सखी रूपमंजरी के हृदय-स्थित कृष्ण की कृपा प्राप्त करने के लिए उसका पूजन करती है

रूपमंजरी तिय को हियो। गिरधर अपनो आलय कियो।

इन्दुमति तहं अति अनुरागी। ताही मैं प्रभु पूजन लागी ॥
जहं जहं जो कछु उत्तम पावे। सो सब आनि के ताहि चढ़ावै ॥

अन्य आसक्तियो के उदाहरण हम पीछे दे चुके हैं।

नन्ददास की रचनाओ के अध्ययन से अनुमानित होता है कि आरंभ मे कवि की भक्ति-भावना स्तुतिपूर्ण, महात्म्यपूर्ण भक्ति थी। यही कारण है कि उनके आरंभिक पदो तथा 'अनेकार्थमंजरी' मे महात्म्यपूर्ण भक्ति का प्रकाशन हुआ है। नवधाभक्ति के श्रवण, कीर्तन, वंदन, पूजन, स्मरण, दास्य भावना आदि अंग भी 'अनेकार्थमंजरी' और आरंभिक पदो मे पाए जाते हैं, किन्तु बाद में कवि की भक्ति-भावना आसक्तिपूर्ण ही रही, जिसकी अभिव्यक्ति कृष्ण की विविध लीलाओ के रूप मे हुई है। तब नवधा भक्ति के अंग भी लीला से सम्बद्ध होकर प्रकट हुए।

नन्ददास ने आरंभ मे राम-कृष्ण दोनो के प्रति भी अपनी महात्म्य-पूर्ण भक्ति प्रकट की है। दोनो ही उनके ठाकुर हैं, दोनो के गुण और महिमा अनन्त है—

रामकृष्ण कहिये उठि भोर।
ओहि अवधेश ओही ब्रज जीवन, धनुप धरन अरु माखनचोर।
इतमे सागर सिला तरानी, उत गिरिवर धरे नख की कोर।
रावण के दश मस्तक छेदे, कंस को मारि किये झकझोर।
इतमे राज बिभीषन दीनो, उग्रसेन कियो अपनी ओर।
'नन्ददास' के ये दोउ ठाकुर, दशरथ सुत बाबा नंद-किशोर ॥३॥

श्री गंगा जी, यमुना जी, हनुमान जी की भी कवि ने कई पदो में महिमा गाई और वंदना की है। ये सब उनके आरंभिक भावोद्गार है। वस्तुतः उनके आराध्य ब्रज बिहारी, रसिक, चिर किशोर कृष्ण ही हैं, जिनके रूप-रस का पान ही परमानन्द है।

नन्ददास पर सूरदास का प्रभाव

प्रत्येक कवि किसी न किसी रूप में अपने पूर्ववर्ती कवि अथवा सम-कालीन प्रसिद्ध कवि से प्रभावित होता ही है। सूरदास अपने समय के विख्यात महात्मा एवं कवि थे। तुलसीदास जैसे प्रतिभ कवि भी उनके प्रभाव से बच नहीं सके। तुलसी के अनेक पदों पर सूर की छाया स्पष्ट देखी जा सकती है। कई पद तो ज्यों-के-त्यों ही मिलते हैं। फिर नन्ददास भला सूर के प्रभाव से कैसे बच सकते थे? वे तो उसी सम्प्रदाय में ही दीक्षित थे, जिसमें सूरदास जी परम-भक्त उत्कृष्ट-कवि और सम्प्रदाय के स्तंभ के रूप में पहले से ही प्रसिद्ध थे। यही नहीं, नन्ददास की जीवनी में हम दिखा आए हैं कि नन्ददास को दीक्षा देकर गोसाईं विट्ठलनाथ ने सम्प्रदाय की शिक्षा और कीर्तन-सेवा आदि सिखाने के लिए सूरदास के पास छोड़ दिया था। कई महीने सूरदास के सम्पर्क में रहकर नन्ददास ने सम्प्रदाय का ज्ञान ही प्राप्त नहीं किया, बल्कि काव्य-परिपाटी भी सूरदास से सीखी। 'नन्द नन्दनदास हित साहित्यलहरी-कीन' के अनुसार सूरदास ने 'साहित्य लहरी' की रचना नन्ददास के ही लिए की थी। जो हो, नन्ददास के काव्य के अध्ययन से यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि उन पर सूरदास का प्रभाव विचार, भाव और शैली सभी रूपों में पड़ा है।

हम पीछे भँवरगीत-प्रसंग में कह आए हैं कि नन्ददास ने अपने भवर-गीत का उद्देश्य सूरदास के ही अनुकरण पर सगुण और भक्ति की निर्गुण और ज्ञान तथा कर्म पर विजय दिखाने का रखा है। भागवत में न तर्क-वितर्क है, न यह उद्देश्य। अवश्य ही नन्ददास को यह प्रेरणा सूर से मिली होगी। इसके अतिरिक्त नन्ददास का भँवरगीत सूरदास के दोहा-रोला की मिश्रित छन्द शैली वाले भ्रमरगीत की ही शैली पर लिखा गया है। सूरदास के उस भ्रमरगीत से नन्ददास के भँवरगीत का आरंभ बिल्कुल मिलता है। दोनों में ही कथा गोपी-उद्धव के मिलन से एक दम आरंभ होती है। नन्ददास के उद्धव

पहली पंक्ति में कहते हैं—

"ऊधो को उपदेश सुनो ब्रजनागरी"

सूरदास के दोहा-रोला छन्द वाले भ्रमरगीत की प्रथम पंक्ति से यह मिलती मिलती है—

"ऊधो को उपदेस सुनो किन कान दै"

दोनों की रचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन से मालूम होता है कि नन्ददास पर सूर का प्रभाव कई अंशों में पड़ा है। छन्द तो नन्ददास ने सूर से लिया ही, साथ ही कुछ स्थानों पर सूर के भावों की छाया भी देखिए—

सूरदास की गोपिया कहती हैं—

हम अबला कहा जानहीं, जोग जुगुति की रीति।
नन्द नन्दन ब्रत छाँडिकै, हो, को लिखि पूजै भीति ?

नन्ददास के भँवरगीत में भी यही भाव यों प्रकट किया गया है—

ताहि बताओ जोग जोग ऊधो जहि पावौ।
× × × ×
प्रेम पियूषै छाँडिकै कौन समेटै धूरि ॥

नन्ददास के उद्धव कहते हैं—

हाथ पाँव नहिं नासिका नैन बैन नहिं कान।
अच्युत ज्योति प्रकासिका, सकल विश्व के प्रान ॥

नन्ददास की उपर्युक्त पंक्तियों को सूर की निम्न पंक्तियों से मिलाइए—

नैन नासिका-अग्र है तहाँ ब्रह्म को बास
अबिनासी बिनसै नहीं, हो, सहज ज्योति परकास ॥

इसी प्रकार दोनों की कुछ अन्य मिलती-जुलती पंक्तियाँ देखिए—

सूरदास—नैन नासिका मुख नहीं चोरि दधि कौन खायो ?
नन्ददास—जो मुख नाहिन हुतो कहो किन माखन खायो ?
सूरदास—सुनि गोपिन को प्रेम नेम ऊधो को भूल्यो।
नन्ददास—देखत इनको प्रेम नेम ऊधो को भाज्यो।

सूरदास— एक बार ब्रज आइ देहु गोपिन दिखराई।
गोकुल को सुख छाडि कै कहाँ बसे हो आइ॥
नन्ददास— पुनि-पुनि कहे हे श्याम, जाय वृन्दावन रहियै।
परम प्रेम को पुंज, जहाँ गोपी संग लहिए॥

उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट ही सिद्ध हो जाता है कि अपने भँवर गीत की रचना के समय नन्ददास के सामने सूरदास का यह भ्रमरगीत अवश्य रहा होगा। भाव, भाषा, उद्देश्य सभी सूरदास से मिलते हैं। नन्ददास ने दस मात्राओं की जो अपने छन्द के अंत मे अलग पंक्ति रखी है, वह भी सूर के काव्य मे अन्यत्र मिलती है।

सूरदास ने राधा के साँप द्वारा डसे जाने के बहाने का वर्णन किया है और उस बहाने सखियों द्वारा कृष्ण-गारुडी के बुलाने की एक कथा सूर-सागर मे लिखी है। एक दिन सुरति सुख के बाद राधा घर पहुँची तो उसकी विलक्षण चेष्टाओं से उसकी माँ चकित होगई और नजर लगने की बात कहती है पर राधा चातुरी बात बनाती है कि साथ की एक सखी को काले ने डस लिया था, उसकी अवस्था देखकर मैं बहुत घबरा गई। यह बात बना कर राधा ने अगले दिन काले के काटने का बहाना बनाकर कृष्ण से मिलने का मार्ग निकाल लिया। नन्ददास की 'श्यामसगाई' के अध्ययन से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि सूरदास की उपर्युक्त कथा-सामग्री से वे परिचित थे, और उसी को आधार बनाकर उन्होंने एक स्वतन्त्र कथा ग्रंथ की रचना कर डाली। नन्ददास की प्रबंध-पटुता ने सूरदास के इस कथा-प्रसंग को कुछ घटा-बढा कर और अपनी कल्पना का पुट देकर 'श्यामसगाई' का एक खंड-काव्य बना लिया। सूरदास ने रास के पहले राधा-कृष्ण के विवाह की कल्पना की थी, उनके शिष्य नन्ददास ने और आगे बढ कर श्यामसगाई के इस प्रसग से दोनों की सगाई भी करा दी। 'श्याम सगाई' का यह कथा-प्रसंग इस प्रकार है जो सूर के ही अनुकरण पर लिखा गया है। एक दिन राधा कुँवरी नन्द के घर आई, तो जसुमती ने उसे देखकर मन मे सोचा कि यदि यह कन्या श्याम के

लिए वधू-रूप मे प्राप्त हो, तो कितनी अच्छी जोड़ी मिले ! फलत: यशोदा ने कीर्ति (राधा की मा) के पास संदेश भेजा। परन्तु कीर्ति न मानी। इन्कार की बात को सुनकर माता के साथ ही कृष्ण भी रुष्ट हुए और माता से कहने लगे—

जो तुमरे ईच्छा यही, उन ही की हम लैंहि,
तौ मै ढोठा नन्द कौ, पाइन परि परि दैहि।

इस प्रसग की कल्पना नन्ददास की अपनी है। इसके बाद कृष्ण मोर-मुकुट पहन कर बरसाने के बागो मे आ धमकते है। वहाँ सखियो के साथ राधा आती है, तो देखकर ठगी सी रह जाती है और मूछित हो कर गिर पडती है। इस प्रसंग पर दोनो कवियों की उक्तियाँ मिलती-जुलती हैं—

सूरदास—यह सुनिकै चकित भई प्यारी, धरनि परी मुरझाई।
नन्ददास—मन हरि लीनौ स्याम, परी राधे मुरझाई।

सखियाँ उसे होश मे लाती है, और काले के काटने का बहाना बनाने के लिए कहकर उसे घर ले आती है। घर लाने और माता के चिंतित होने की पक्तियाँ भी कुछ-कुछ मिलती हैं—

सूरदास— × × सखियन मिलि राधा घर लाईं,
देखहु महरि सुता अपनी को, कहुँ इहिं कारे खाई,
× × × ×
रोवति जननी कठ लपटानी, सूर श्याम गुनगाई।
नन्ददास—कर गहि लई उठाइ, पकरि गृह भीतरी लाईं,
बिबरा दसा लखि माइ, दौरि कै कंठ लगाई।

श्याय गारुडी बुलाए जाते हैं और राधा ठीक हो जाती है। जो कीर्ति पहले मानती ही नही थी, अब तुरंत सगाई के लिए तैयार हो जाती है। राधा आँखे खोलती है और कृष्ण की ओर देखकर सकुचा जाती है—

सूरदास— × × लोचन दये कुँवरा उघारी।
कुँवर देख्यो नन्द को तब सकुची अग सम्हारि।।

नन्ददास—सुनति बचन तत्काल, लड़ैती नैंगि उघारे,
निरखति ही घनस्याम, बदन तै केस संवारे ॥

इस प्रकार नन्ददास की 'श्याम सगाई' पर भी सूर का प्रभाव स्पष्ट है।

नन्ददास के पदो पर तो सूर का प्रभाव और भी स्पष्ट लक्षित होता है। जन्मोत्सव पर बधाई और ढाढी के जो पद नन्ददास ने लिखे हैं, उनमे वे सूरदास के वैसे ही पदो से प्रभावित हुए है। इसी प्रकार कृष्ण-राधा के विवाह, दुलहा-दुलही रूप के वर्णन सूर के ही अनुकरण पर लिखे गए हैं। नन्ददास ही क्या, समस्त पुष्टिमार्ग और परवर्ती काव्य पर इस दृष्टि से सूर का प्रभाव आंका जा सकता है। सूर से पूर्व राधा-कृष्ण के दाम्पत्य रूप की कल्पना ही नही थी। अन्य साम्प्रदायिक नित्य और नैमित्तिक कीर्तन के पदों पर भी सूर का प्रभाव पडा है। नन्ददास ने बाल-लीला के जो थोडे बहुत पद लिखे हैं, उनपर भी सूर का प्रभाव स्पष्ट है। भाषा-शैली और भाव सभी दृष्टि से सूर का प्रभाव पाया जाता है। सूर के व्यापक प्रभाव की छाया दोनों के निम्न पदों की तुलना करके देखिए—

नन्ददास चिरैया चुहचुहानी, सुनि चकई की बानी,
कहत जसोदा रानी, जागो मेरे लाला।
रवि की किरन जानी, कुमुदनी सकुचानी,
कमल बिकसे दधि मथत बाला ॥

सूरदास—जागिए गुपाल लाल आनन्द निधि नन्दबाल,
जसुमति कहै बार बार भोर भयो प्यारे।

हिंडोला झूलने की ये पंक्तियाँ कितनी मिलती हैं—

नन्ददास—हिंडोरे माई, झूलत गिरिधर लाल।
संग राजत वृषभानु नंदिनी अग अंग रूप रसाल ॥

सूरदास—हिंडोरनो माई झूलत गोकुल चंद।
संग राधा परम सुंदरि सबन करत अनंद ॥

बन से लौटते हुए कृष्ण का वर्णन देखिए—

नन्ददास—बन ते आवत, गावत गौरी।
हाथ लकुटिया, गायन पाछै, ढोटा जसुमति कौरी।
मुरली-धरें अधर नंदनन्दन, मानौ लगी ठगौरी,
याहीतै कुलकानि हरी है, ओढे पीत पिछौरी।

सूरदास—हरि आवत गाइन पाछे
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल नयन विसाल कमलतैं आछै
मुरली-अधर धरन सीखत है बनमाला पीताम्बर काछै।

वर्षाऋतु मे वन्य-छटा के बीच नव नेह की जोड़ी का वर्णन दोनो कवियो का बिल्कुल मिलता है—

नन्ददास—नयो नेह, नयो मेह, नई भूमि हरियारी,
नवल दूलह प्यारी, नवल दुल्हैया।
नवल चातक, मोर, कोकिला करत रोर,
नवल जुगल भोर, नवल ऊल्हैया।
नवल कुसुंभी सारी पहिरें ओढि नीके,
अग संग प्यारी सरस गुल्हैया।

सूरदास कहते हैं—
नयो नेह नयो मेहु नयो रस नवल कुंवरी वृषभानु किशोरी,
नयो पिताम्बर नई चूनरी नई-नई बूंदनि भीजत गोरी।
नये कुंज, नये द्रुम सुभग यमुन जल पवन हिलोरी॥

इस प्रकार के और भी अनेक उद्धरण दोनो के दिए जा सकते है जिन से नन्ददास की पदावली पर सूरदास के प्रभाव के सम्बन्ध में जरा भी सदेह नही रह जाता। सूरदास का प्रभाव सभी क्षेत्रो मे पड़ा है। नन्ददास ने सूरदास की उपमाओं, भाषा, शैली, भाव और प्रसंग-कल्पना सभी से परिचित होकर अपने काव्य का उन्हे आधार बनाया है। सूरदास का एक अत्यन्त मनोहर पद नीचे उद्धृत किया जाता है, जिसमे सूरदास की मौलिक कल्पना शक्ति का परिचय मिलता है। स्वप्न में प्रिय-दर्शन और मिलन का चित्रण

अनेक कवियों ने किया है, परन्तु सूर के निम्न पद जैसा मार्मिक और प्रभा-वोत्पादक तथा बहुत ही अनूठी अप्रस्तुत-योजना से युक्त चित्रण हमें अन्यत्र कहीं नहीं मिला—

हम को सपनेहु में सोच ।
जादिन ते बिछुरे नन्द नन्दन यह ता दिन तें पोच ।।
मनों गुपाल आए मेरे आंगण हसि करि भुजा गही ।
कहा कहौ बैरिन भई निंदिया निमिष न और रही ।।
ज्यों चकई प्रतिबिम्ब देखि कै आनन्दी प्रिय जानी ।
सूर पवन मिस निठुर विधाता चपल कियो जल आनि ।।

अंतिम पंक्तियों में उपमा-उत्प्रेक्षा के रूप में जो अप्रस्तुत विधान है, वह सूर की मौलिक उपमान योजना है। सूर से पूर्व हिन्दी तो क्या संस्कृत, प्राकृत के साहित्य में भी किसी कवि द्वारा यह उपमान-प्रयोग हमारे देखने में नहीं आया। नन्ददास ने अपनी 'विरह मंजरी' में इसी प्रसंग और भाव को इसी उपमान योजना द्वारा चौपाई-बद्ध किया है—

जो कबहूँ हठि नींद अनैये। साँवरे पिय सुपने मैं पैयै ।।
तदपि न सुख तहँ परिये जागि। प्रजरत महा आगि तें आगि ।।
ज्यों चकई निज झाँई चाहि। मुदित होत पति मानत ताहि ।।
प्रबल पवन पुनि आन डुलावै। चकई बिलपि परम दुख पावै ।।
तैसो इह कहिये अब कौन। दाधे पर जस लागत लौन ।।

सूर के प्रभाव का इससे प्रबल प्रमाण और क्या होगा ?

नन्ददास का पदावली साहित्य—गीति तत्व

नन्ददास ने सूरदास, परमानन्ददास और कृष्णदास—अष्टछाप के इन कवियो की तुलना मे कम पदों की रचना की है। वे अपने पदो की अपेक्षा अपने 'भ्रमर-गीत', 'रासपचाध्यायी', 'रूपमजरी' आदि कथा-ग्रंथों के लिए प्रसिद्ध हैं। उनके लग-भग दो सौ पद अभी तक मिले हैं। उनमे बहुत से पद साहित्यिक महत्त्व भी विशेष नही रखते। अनेक पदो पर साम्प्रदायिक छाप बहुत गहरी है। उनके समस्त पद रामकृष्ण भजन एव गुणगान, गुरु-स्तुति, यमुना-स्तव, गगा—स्तव, हनुमान-वंदना, व्रज-महिमा, श्रीकृष्ण जन्म तथा बधाई, बाल-क्रीडा, श्रीराधा जन्म, पूर्वानुराग, राधाकृष्ण-विवाह तथा प्रेम लीला, माखन चोरी, छाक तथा दधिदान, गोवर्द्धन लीला, रासलीला, मान लीला, खडितादि नायिका भेद, दीपमाला, अक्षय तृतीया आदि त्योहार, गोचारण, हिडोला, फागलीला आदि विषयों से सम्बधित है। गुरुवन्दना, जागरण, शयन तथा अक्षय तृतीता, गनगौर, दोलोत्सव, रथयात्रा, रक्षाबंधन आदि त्योहारो के पद रूढ और साम्प्रदायिक ही हैं। बाललीला पर भी कुछ पद हैं। परन्तु उनमे रूप-सौन्दर्य का ही वर्णन प्रधानतः हुआ है, वात्सल्य के भावोद्गार उनमे अत्यल्प हैं। श्री रामचन्द्र जी, हनुमान तथा गंगा की वंदना के पद संभवतः नन्ददास जी ने बल्लभ सम्प्रदाय मे आने से पूर्व लिखे हैं। नन्ददास के पदों पर सूरदास के व्यापक प्रभाव को हम पीछे दिखा आए हे।

नन्ददास के व्रज महिमा, पूर्वानुराग, अबालाओ का प्रेम वर्णन, मान लीला से सम्बंधित पद, भाषा, भाव और सगीतात्मकता की दृष्टि से बहुत ही मार्मिक हे। अन्य पद साधारण कोटि के ही हैं। बाल लीला के पदो मे बाल स्वभाव और बालचेष्टाओ का वैसा सूक्ष्म और मोहक चित्रण नही है, जैसा सूरदास एवं परमानन्ददास के पदो में पाया जाता है। वास्तव मे नन्ददास की प्रवृत्ति किशोर कृष्ण तथा उसके विरह चित्रण की विशेष है। विरह काव्य

के अभाव में उनकी पदावली अधूरी ही रह जाती है। जहा पूर्वानुराग, विरह, मान के प्रसंग है, वहा उनकी काव्य और कला ऊचे स्तर पर उठी है। नन्ददास के शृगार चित्रण में हमने उनके शृंगार से सम्बन्धित पदों की भावप्रवणता दिखाई है। नन्ददास के इन भावप्रवण गीतो के अतिरिक्त अन्य पद उनकी साम्प्रदायिक भावना से दबे हुए हैं। वास्तव मे जहां नन्ददास कथात्मक विरह प्रसग नही घटा सके, वहा उनकी कला को ऊंचा उठने का अवसर ही नही रह गया। यह सिद्धान्तो की काव्य पर विजय है। "नन्ददास का काव्य सिद्धान्तों से पग पग पर झगडता है, उनकी विवेचना करता है और अन्त मे हार जाता है"[1]। किन्तु गोपी-कृष्णप्रेम तथा ब्रजप्रेम के पद नन्ददास के उच्च कोटि के सरस और आकर्षक पद हैं। इनमे इनकी कल्पना शक्ति और भावुकता सूर के प्रभाव से भी कुंठित नही हुई है। शुद्ध गीत काव्य की दृष्टि से "देखन दै मेरा बैरन पलकै," "आवत ही जमुना भरि पानी", "गोकुल की पनिहारी, पनिगा भरन चली," "जल को गई सुधि बिसराई, नेह भर लाई", "कृष्ण नाम जब तै स्रवन सुन्यौ री आली," "आजु मेरे आए माई नागर नन्दकिशोर," 'मिसही मिस ह्वै आवे गोकुल की नार," "आजु मेरे धाम आए री नागर नन्दकिशोर" आदि टेकों वाले गीत अपनी सरसता, मधुरता, भावप्रवणता, संगीतात्मकता आदि विशेषताओं के कारण सूर, मीरा और कबीर के अच्छे से अच्छे पदों से टक्कर ले सकते हैं। परन्तु ये हैं सब इतने ही इने गिने।

नन्ददास अच्छे गायक कवि थे। अतः संगीत की दृष्टि से वे सफल काव्य के प्रणेता हैं। उनके गीत भी विभिन्न राग रागनियो मे बंधे हुए हे। नन्ददास के गीत-काव्य की एक विशेषता यह है कि उनके गीतों में भी मीरा की तरह लोक गीतों का पुट अधिक है। कई गीत तो इस ग्राम्य सस्कार के कारण बहुत ही अच्छे बन गए हैं। एक उदाहरण देखिए—

साँवरो पीतम जहाँ बसै सो कित है वोहि गाँव री।

---

1. नन्ददास—राम रतन भटनागर पृ० १९८

पंख नहीं तन विधना दई नातरु अब उडि जाँव री ॥
अब उडि जाऊं डराऊं न काहू मोहन मुख देख आँऊ री ।
ससि ते सहस गुन सखी सीतल लपतं नैन गिराऊ री ।

नन्ददास के उपर्युक्त कुछ पदो को छोडकर अन्य पदों के सम्बन्ध में ऐसा जान पडता है कि वे सब सम्प्रदाय की कीर्तन सेवा के लिए लिखे गए है। गोसाईं विट्ठल नाथ जी के समय में उत्सवो आदि के मनाए जाने की प्रथा चल चुकी थी। इसके लिए नैमित्तिक कीर्तन गाए जाते थे। अतः नन्द-दास के ऐसे ही अनेक पद इन उत्सवो के निमित्त मात्र रह गए। उत्सवो के अतिरिक्त कृष्ण की नित्य सेवा मे कृष्ण लीला के पदो की आवश्यकता होती थी जैसे मंगला, शृंगार, गोचारण आदि पदो की। नन्ददास के काव्य मे इन विषयो पर कितने ही पद मिलते हे, परन्तु उन्होने सूर की भाँति सम्बद्ध रूप से दानलीला, पनघट-लीला आदि प्रसगो पर रचनाएं नही की। "कीर्तन करने का काम पहले कृष्ण दास को सौंपा गया था, फिर सूरदास को। जब सूरदास कहीं चले जाते थे, तो नन्ददास को कीर्तन का भार सौंप जाते थे। यह फुटकर प्रसंगात्मक पद इसी प्रकार रचे गए होंगे। उनमे न उतना चमत्कार है जितना सूर के पदो में, न उतना लीला रस। × × जान पडता है, नन्ददास ने अधिक पद दीक्षा काल के कुछ बाद ही लिखे हे। उनमे सूरदास की गुरु छाप पग पग पर दिखलाई पडती है। कुछ तो उनकी भाषा मे तत्सम शब्दो का उतना प्रयोग नही जितना सूर के पदो की भाषा मे, कुछ उनका प्रारंभिक अभ्यास काल, इस कारण ये रचनाएँ सूर के काव्य से परिचित व्यक्ति को कुछ अटपटी लगती हैं। यही नही, स्वयं नन्ददास के प्रौढतम काव्य से परिचित पाठक उन्हे उपेक्षा की दृष्टि से देखेगा[२]"।

हम डा० रामरतन भटनागर के उपर्युक्त मत से सहमत होते हुए भी, यह अवश्य कहेगे कि नन्ददास मे गीत-काव्य रचने की शक्ति का अभाव नही था। नैमित्तिक उद्देश्य होने के कारण उनके ये पद निमित्त मात्र ही रह

२. वही———पृ० १२१ व १२७

गए । कृष्ण प्रेम के कुछ सरस पदो मे उनकी गीतात्मक प्रतिभा स्पष्ट दिखाई पड़ती है । सूरदास और परमानन्ददास के भी तो ऐसे उद्देश्य से लिखे बहुत से पद निमित्त मात्र ही हैं, उनमे भी विशेष कलात्मकता तथा काव्यात्मकता नही मिलती । वास्तव में यह साम्प्रदायिक भावना का ही दोष है ।

अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय (डा० दीनदयाल गुप्त)
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (डा० राम कुमार वर्मा)
हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल)
वल्लभ दिग्विजय (श्री यदुनाथ)
भारतीय दर्शन (डा० बलदेव उपाध्याय)
नन्ददास-ग्रंथावली (श्री ब्रजरत्नदास)
नन्ददास (उमाशंकर शुक्ल)
नन्ददास (डा० रामरतन भटनागर)
अष्टछाप परिचय (श्री प्रभुदयाल मीत्तल)
History of Medieval India (Dr. Ishwari Parshad)
ब्रज माधुरी-सार (श्री वियोगी हरि)
रासपंचाध्यायी और भँवरगीत (संपादक डा० सुधीन्द्र)
हिन्दी साहित्य में भ्रमरगीत-परम्परा (डा० सरला शुक्ल)
भ्रमरगीतसार (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)
मिश्रबन्धुविनोद
मध्यकालीन प्रेम साधना (परशुराम चतुर्वेदी)
सूर निर्णय (प्रभुदयाल मीत्तल)
हिन्दी साहित्य का इतिहास (हजारी प्रसाद द्विवेदी)
शिवसिंह सरोज (शिवसिंह सेंगर)
साहित्यलहरी (सूरदास)
सूरसागर
जायसी ग्रंथावली (रामचन्द्र शुक्ल)
भक्त माल (नाभादास)
Modern Vernacular literature of Hindustan (सर जार्ज ग्रियर्सन)
तुलसीदास (माता प्रसाद गुप्त)
भारतीय साधना और सूर-साहित्य (डा० मुंशीराम)
इस्त्वार दला लितरेत्योर (गार्सन द तासी)
ब्रजभाषा-काव्य का नायिका-भेद (प्रभुदयाल मीत्तल)
अष्टछाप (धीरेन्द्र वर्मा)
मुण्डकोपनिषद
कठोपनिषद
अणुभाष्य (वल्लभाचार्य)
श्रीमद्भागवतपुराण

भागवत सुधासागर (गीताप्रेस)
श्रीमद्भगवद्गीता
शुद्धाद्वैत मार्त्तण्ड (वल्लभाचार्य)
सुबोधिनी टीका (,,)
साहित्य दर्पण (विश्वनाथ)
सम्प्रदाय कल्पद्रुम
सम्प्रदाय प्रदीप
वार्ता साहित्य
नागरी-पत्रिका
गोसाईं चरित (वेणीमाधोदास)
निरोध लक्षण (वल्लभाचार्य)
वाङ् मुक्तावली (हरिराय)
शिक्षापत्र (,,)
भावप्रकाश (,,)
ब्रह्म सूत्र
रामचरितमानस (तुलसीदास)
गुंजन (सुमित्रानन्दन पंत)
हरिवंशपुराण
नारद-भक्ति-सूत्र
शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र
ब्रह्मवैवर्तपुराण
स्कन्द पुराण
गीतगोविन्दम् (जयदेव)
उद्धवशतक (रत्नाकर)
भ्रमरदूत (कविरत्न)
उद्धव-गोपी संवाद (डा० रसाल)
सूर की झाँकी (डा० सत्येन्द्र)
बिहारी सतसई
गीता रहस्य (लोकमान्य तिलक)
ऋग्वेद
यजुर्वेद